सत्यामृत

(मानव-धर्म-शास्त्र)

[दृष्टि कांड]

(परिवर्द्धित संस्करण)

: प्रणेता :

स्वामी सत्यभक्त

सत्यसमाज—संस्थापक

चिंगा ११९५१ इतिहास संवत्

नवम्बर १९५१ ई

प्रकाशक- सत्याश्रम वर्धा (म. प्र.)

दूसरी बार

मूल्य—पांच रुपये

चुन्नीलाल कोटेचा
मन्त्री—सत्याश्रम मण्डल
बोरगांव बघो (म. प्र.)

मूल्य — ५)

मुद्रक —
सदाशिव गोमाशे
मैनेजर—सत्येश्वर प्रि. प्रेस
सत्याश्रम वर्धा (म. प्र.)

प्रास्ताविक

सत्यामृत का दूसरा नाम मानवधर्म शास्त्र है। ये दोनों नाम सार्थकता रखते हैं। सब शास्त्रों का सन्मान रखते हुए भी इसमें किसी शास्त्र को आधार न बनाकर युगसत्य को ही आधार बनाया गया है, और सर्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से भी सत्य का जितना दर्शन सम्भव है उतना किया गया है। फिर भी सत्यामृत का यह सन्देश है कि मनुष्य में शास्त्र मूढ़ता न होना चाहिये। सब से बड़ा शास्त्र यह खुला हुआ संसार है या सब से बड़ा शास्त्र विवेक है। कोई भी शास्त्र, जिसमें सत्यामृत भी शामिल है, इस खुले हुए महाशास्त्र संसार को पढ़ने में या विवेक रूपी शास्त्र के पन्ने खोलने में मददगार है। जब सत्य में और शास्त्र में विरोध मालूम हो तब सत्य की वेदी पर शास्त्र का बलिदान करना चाहिये, शास्त्र की वेदी पर सत्य का बलिदान नहीं। बहुत से लोग अपने प्राचीन शास्त्रों के लेखन के विरुद्ध जब वैज्ञानिक खोजों को पाते हैं तब वे विज्ञान को ही अधूरा कहकर मजाक उड़ाते हैं, विज्ञान की विकास-शीलता को संशय अनिश्चय आदि कहकर उपेक्षा करते हैं, अथवा झूठी खींचतान करके उस बात को शास्त्रों में से ही निकालने की कुचेष्टा करते हैं, यह शास्त्र की वेदी पर सत्य का बलिदान है। सत्यामृत इस शास्त्रमूढ़ता का विरोधी है। बड़ा से बड़ा शास्त्र भी सत्येश्वर की पदधूलिका एक कणमात्र है, सत्यामृत इस बात को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है और स्वीकार करता इस बात को भी कि, सत्य के अनुकूल न रहने पर शास्त्र का कायाकल्प कर देना चाहिये या विसर्जन कर देना चाहिये।

मानवधर्म शास्त्र यह इसलिये है कि इसमें पृथ्वीभर के मनुष्यों को दृष्टि में रखकर विचार किया गया है अमुक राष्ट्र या अमुक नस्ल या अमुक वर्ग को प्रधानता नहीं दीगई है। इस उदारता की दृष्टि से यह मानवधर्म शास्त्र है।

कुछ व्यक्ति शायद यह भी कहेंगे कि 'जैसे यह उदारता की दृष्टि से मानवधर्म शास्त्र है उसी प्रकार कदाचित् अनुदारता की दृष्टि से भी मानवधर्म शास्त्र है क्योंकि उसमें मानव के हितको जितनी प्रधानता दीगई है उतनी अन्य प्राणियों के हित को नहीं।''

इस कथन में तथ्य होनेपर भी उसकी कारणमीमांसा ठीक नहीं है। मनुष्य को प्रधानता किसी पक्षपात के कारण नहीं दीगई है किन्तु प्रकृति ने 'जीवो जीवस्य जीवनम्, (जीव जीव का जीवन या आहार है), इस नियम को अनिवार्य बनादिया है। हिंसा के बिना कोई जीवित नहीं रह सकता, जीवन का यह बड़ा से बड़ा किन्तु अनिवार्य दुर्भाग्य है। ऐसी हालत में शास्त्र या सत्यामृत यही विधान कर सकता था कि हिंसा कम से कम हो और जो हो वह किसी उचित सिद्धान्त के आधार पर हो। सत्यामृत का सन्देश विश्व में अधिकतम सुखवर्धन का है, और सुखदुःख की मात्रा प्राणी के अधिक चैतन्य पर निर्भर है, इसलिये अनिवार्य हिंसा की परिस्थिति में अधिक चैतन्यवाले प्राणी की रक्षा प्रथम कर्तव्य है। और ज्ञात प्राणियों में मनुष्य ही अधिक चैतन्यवाला प्राणी है इसलिये इसकी रक्षा का प्रयत्न मुख्य बनाया गया है। सत्यामृत ने इस बात को साफ स्वीकार किया है और एक सिद्धांत का उसे रूप दिया है' इसमें व्यावहारिकता है।

जो लोग इस व्यावहारिकता को भुलाकर दूसरे प्राणियों की तुलना में मनुष्य को बराबर ही मानकर चलते हैं और कभी या कहीं इसी तरह के प्रदर्शन करते हैं, उनके जीवन में एक तरह की अदूरदर्शिता और आत्मवञ्चना पाई जाती है। उनके सिद्धान्त मानवधर्म शास्त्र के आधार नहीं बन सकते, वे

प्रास्ताविक

मुट्ठीभर शोषक वर्ग के जीवन में सिर्फ प्रदर्शित ही किये जासकते हैं। सत्यामृत या इस मानवधर्म शास्त्र की दृष्टि में ऐसी व्यावहारिकता है जो पृथ्वी के हर एक भूखंड में तथा हर एक वर्ग के मनुष्य के जीवन में सफलता के साथ दिखाई दे सके। इसप्रकार वास्तव में इस मानवधर्म शास्त्र की यह व्यावहारिक उदारता है। उदारता के वे सन्देश सिर्फ एक तरह की स्वपरवञ्चना ही हैं जो मुट्ठीभर शोषक या मुफ्तखोर आदमियों को छोड़कर सब के जीवन में न दिखाई दे सकें, या मनुष्य मात्र के जीवन में दिखाई दे सकें तो मनुष्य जाति की इतिश्री करदें। इसप्रकार यह मानवधर्म शास्त्र व्यावहारिक उदारता की चरम सीमापर कहा जासकता है। इसप्रकार इनके दोनों नाम उचित और सार्थक हैं।

इसके तीन कांड हैं। दृष्टिकांड आचारकांड व्यवहार कांड। इनमें यह दृष्टिकांड मुख्य है। इसमें जीवन के समाजके राष्ट्र के, भिन्न भिन्न धर्मों और धर्मसंस्था के अंगोंके प्रायः सभी मुख्य मुख्य रूपों पर एक सत्यमय दृष्टि डाली गई है। इसप्रकार आचार और व्यवहार के सूत्र भी इसमें शामिल होगये हैं। यद्यपि दृष्टिकांड के पढ़ने पर भी आचार कांड और व्यवहार कांड के पढ़ने की आवश्यकता बनी ही रहती है, क्योंकि आचार कांड व्यवहार कांड में जो विशेष और मौलिक विवेचन किया गया है वह दृष्टिकाण्ड पढ़ने से ही समझ में नहीं आजाता, फिर भी उनके विवेचन की दृष्टि मिलजाती है। इसप्रकार दृष्टिकांड को पूरे सत्यामृत का मूलाधार कहा जासकता है। बल्कि यों भी कहा जासकता है कि व्यवहार कांड की किसी बात की परख आचार कांड की कसौटी पर कसकर करना चाहिये और आचार कांड की किसी बात की परख दृष्टिकांड की कसौटी पर कसकर करना चाहिये।

दूसरी आवृत्ति की विशेषता (परिवर्धन)

ग्यारह साल में दृष्टिकांड की दूसरी आवृत्ति होरही है। निःसन्देह इस ग्रन्थ का इतना कम प्रचार दुर्भाग्य की निशानी है। किसके दुर्भाग्य की निशानी है, इसका निर्णय पाठकों को या दुनिया को ही करना है। पर इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है ऐसी खुराक बहुत धीरे धीरे ही गले उतरती है।

इस दूसरी आवृत्ति की दो विशेषताएँ हैं। पहिली और छोटीसी विशेषता तो यह है कि इस आवृत्ति मे दृष्टिकांड में आये हुए समस्त पारिभाषिक शब्दों के पर्याय शब्द मानवभाषा में दे दिये गये हैं जो मुल उन शब्दों के बाद कोष्ठक में हैं। इसप्रकार मानवभाषा के शब्द भण्डार की अच्छी सामग्री इस आवृत्ति में आगई है।

दूसरी और महत्वपूर्ण विशेषता है इस आवृत्ति का परिवर्धन। पहिली आवृत्ति की अपेक्षा इस आवृत्ति में सवाये से भी अधिक मसाला है। पैका टाईप होने से इस आवृत्ति के हर एक पृष्ठ में प्रथमावृत्ति की अपेक्षा दस ग्यारह पंक्तियाँ अधिक आई हैं, इतने पर भी चालीस पचास पृष्ठ अधिक हैं। जिनने प्रथमावृत्ति पढ़ी है उनको भी इस आवृत्ति में अनेक नई बातें जानने को मिलेंगी। पाठक पढ़कर ही इस बात को समझ सकते हैं। कुछ संकेत यहां भी किया जाता है।

पहिले अध्याय में, मंगलाचरण सत्येश्वर का रूपदर्शन, गुणदेव कुटुम्ब, कथा, आदि प्रकरण बढ़ाये गये हैं। परीक्षा के भेद नये ढंग से किये गये हैं, तथा प्रमाण आदि की मीमांसा और भी विकसित ढंग से कीगई है। प्रथमावृत्ति से इस आवृत्ति में यह अध्याय दूने से भी अधिक होगया है।

दूसरे अध्यायमें न्याय देवताकी कथा देकर तथा अन्य विवेचनमें प्रायः सभी बातें कुछ विकसित तरीके से कहीं गई हैं। यह अध्याय भी प्रथमावृत्ति से दूना होगया है।

तीसरे अध्याय में सुखदुःख आदि का विवेचन कुछ और विस्तार से हुआ है। भेद प्रभेद बढ़ाकर बताये गये हैं। उन्हें समझने के लिये नक्शे दिये गये हैं। यह अध्याय भी प्रथमावृत्ति से करीब पौने दोगुणा होगया है।

चौथे अध्याय में भी कुछ विवेचन बढ़ा है, कुछ दोहे वगैरह दिये गये हैं। प्रथमावृत्ति की अपेक्षा करीब सवाया होगया है।

पांचवां अध्याय भी करीब सवाया होगया है। इसमें धर्म समभाव का प्रकरण काफी विकसित हुआ है, इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से धर्मसंस्थाओं का विकास आदि का अच्छा विवेचन हुआ है, अन्य प्रकरण भी कुछ संशोधित हुए हैं।

छट्ठे अध्याय की सब से बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जीविकाजीवन और यशोजीवन नाम के दो प्रकरण बिलकुल नये जोड़े गये हैं। बाकी इधर उधर कहीं छू दिया गया है, विशेष संशोधन नहीं हुआ।

इस विवेचन से इतना पता तो लग ही सकता है कि दूसरी आवृत्ति काफी मौलिकता और अधिक सामग्री रखती है। हां विवेचन की दृष्टि में कहीं कोई अन्तर नहीं हुआ है। न दोनों आवृत्तियों में कोई विरोध है। फिर भी पहिली आवृत्ति की अपेक्षा इस आवृत्ति की प्रामाणिकता अधिक है। इससे इस बात की भी पुष्टि होती है कि सत्यसमाज के अनुसार जैसे अन्य वस्तुएँ विकासशील हैं उसी तरह शास्त्र भी विकासशील है।

जो नये पाठक इसे पढ़ेंगे वे तो पढ़ेंगे ही, पर प्रथमावृत्ति पढ़नेवालों को भी यह आवृत्ति पढ़ लेना चाहिये।

सत्यभक्त

२१ धुंका ११९५१ इं. सं.
२०-९-५१

सत्याश्रम वर्धा

विषय सूची

पहिला अध्याय
सत्यदृष्टि

विषय	पृष्ठ
मंगलाचरण	११
भगवान सत्य	१२
सत्येश्वर की साधना	१३
सत्येश्वर का दर्शन	"
रूपदर्शन	१५
गुणद्वेष	"
दुर्गुणद्वेष	१५
गुणदर्शन	१६
निष्पक्षता	"
स्वत्वमोह	"
कालमोह	१८
प्राचीनता मोही वैद्य	"
नवीनता मोह	२३
परीक्षकता	"
विचारकता	२४
अदीनता	"
परीक्षा के पांच भेद	२५
प्रमाण ज्ञान	२८
शास्त्र का उपयोग	"
प्रत्यक्षोपम शास्त्र	२९
प्रत्यक्ष का उपयोग	३०
अनुभव की दुहाई	३१
तर्क प्रमाण	३२
समन्वयशीलता	३८

दूसरा अध्याय
ध्येयदृष्टि

अन्तिम ध्येय	४२
ध्येय और उपध्येय	"
स्वतन्त्रता उपध्येय	"
शान्ति उपध्येय	४३
मोक्ष उपध्येय	"
ईश्वर प्राप्ति उपध्येय	४५
सुख और पाप	५०
निजसुख और सर्वसुख	५१
न्यायदेवता की कथा	५४
सुखाग्रता	५६

तीसरा अध्याय
मार्ग दृष्टि

सुख दुःख विचार	६८
दुःख विचार	"
छः शारीरिक दुःख	६९
छः मानसिक दुःख	"
सुख विचार	७१
आठ आनन्द	"
उपाय विचार	७३
दुःख सुख श्रेणियाँ	"
एकसौ आठ दुःख	७५
सुखोपाय	८३
बहत्तर सुख	"
दस महत्त्व	८६

चौथा अध्याय
योग दृष्टि

योग चतुष्टय	९२
भक्तियोग	९३
ज्ञानभक्ति	९४
स्वार्थभक्ति	"
अन्धभक्ति	९६
सन्यासयोग	९७
विद्यायोग	१००
कर्मयोग	१०२

पांचवाँ अध्याय
लक्षण दृष्टि

विवेक	१११
गुरुमूढ़ता	"
गुरु की तीन श्रेणियाँ	११२
कुगुरु अगुरु	११४
शास्त्र मूढ़ता	११७
देवमूढ़ता	१२०
लोकमूढ़ता	१२३
धर्मसमभाव	१२५
धर्म समभाव के ८ लाभ	१२६
दस तरह के सम्प्रदाय	१३०
धर्म सत्य क्यों	१३५
तरतमता और द्वन्द्व	१३८
सन्मान सूचनाएँ	१४०
धर्मशास्त्र की मर्यादा	१४५
ईश्वरवाद	१४८
आत्मवाद	१४९
सर्वज्ञवाद	१५०
मुक्तिवाद	"
द्वैताद्वैतवाद	१५१
नित्यानित्यवाद	"
धर्म में उचित परिवर्तन	१५२
विशाल दृष्टि	१५२
मूर्ति	१५५
अनुदारता के संस्कार	"
सर्वज्ञता की उचित मान्यता	१५६
जातिसमभाव	१५८
रंगभेद	१६०
राष्ट्रभेद	१६२
वृत्तिभेद	१६३
उपजाति कल्पना	१७३
व्यक्तिसमभाव	१७८
स्वोपमता	"
चिकित्स्यता	"
अवस्थासमभाव	१८०
नाट्यभावना	१८१
क्षणिकत्वभावना	१८३
लघुत्वभावना	"
महत्त्वभावना	१८४
अनृणत्वभावना	"
कर्तव्यभावना	"
अद्वैतभावना	१८५
योगी की लब्धियाँ	"
विपद् विजय	"
विरोध विजय	१८६
उपेक्षा विजय	"
प्रलोभन विजय	१८७
निर्भयता	"
भक्तिभय	१८८
विरक्तिभय	"
अपायभय	"
दस तरह के भय	१९०
अकषायता	१९२

विषय सूचा

छट्ठा अध्याय

जीवन दृष्टि

अनिवार्य जीवन	१६३
,, बारह भेद	१६७
भक्त जीवन (११ भेद)	२००
वयोजीवन (आठ भेद	२०६
कर्तव्यजीवन (छः भेद)	२११
अर्थजीवन (छः भेद)	२१६
चार तरह का विनोद	२१६
प्रेरणा जीवन (पांच भेद)	२१९
जीविका जीवन (१२ भेद)	२२६
यशोजीवन (९ भेद)	२२१
लिंगजीवन (तीन भेद)	२३२
नपुंसक	२३३
नरनारी	,,
एकलिंगी जीवन	२३९
नारीदोष मीमांसा	२३९
उभयलिंगी जीवन	२४५
यत्न जीवन (तीन भेद)	२४७
दैव और यत्न	२४९
शुद्धि जीवन (चार भेद)	२५२
जीवन जीवन (दो भेद)	२५७
पांच भेद	२५८
दृष्टि कांड का उपसंहार	२६०

समर्पण........

भगवान सत्य के चरणों में

परम पिता !

तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ।
जो कुछ कहलाता है मेरा है तेरी ही करुणा का कण ॥
तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ॥ १ ॥
तीर्थंकर हैं तीर्थ बनाते ।
पैगम्बर पैगाम सुनाते ॥
तेरी ही झाँकी दिखलाकर कोई हैं अवतार कहाते ॥
तेरा तुझको कर समर्पण ।
तेरी वस्तु तुझी को अर्पण ॥ २ ॥
मैं भी क्या चरणों में लाऊं ।
मेरा क्या ? जो भेंट चढ़ाऊं ॥
दिल निचोड़कर ले आया यह चरणोंपर रसधार बहाऊं ।
पीकर अमर बने मानवगण ॥
तेरी वस्तु को अर्पण ॥ ३ ॥

तेरा दास—

सत्यभक्त

—: सत्यामृत प्रणेता :—

❁ स्वामी सत्यभक्त ❁

सत्यामृत (सत्याभ)

मानव-धर्मशास्त्र (मानधर्मीन)

दृष्टिकांड (लंकोकंडो)

पहिला अध्याय

सत्यदृष्टि (सत्यलंको)

मङ्गलाचरण (नम्मो)

गीत १

मेरी भाषा तेरे विचार।
मैं तो हूँ तेरा दूतमात्र तू ही देता है धर्मसार।
मेरी भाषा तेरे विचार ॥ १ ॥

जब सत्यभक्ति पाई मैंने।
तेरी महिमा गाई मैंने ॥
मेरे छोटे से जीवन के झंकार उठे तब तार तार।
मेरी भाषा तेरे विचार ॥ २ ॥

झंकार गगन में घूमगई।
तेरे चरणों को चूमगई ॥
तब शब्द ब्रह्मसी हो पवित्र फिरकर आई मेरे अगार।
मेरी भाषा तेरे विचार ॥ ३ ॥

झंकार न थी सत्यामृत था।
जगको तेरा चरणामृत था ॥
सत्यामृत कहकर बांटरहा तेरा वह चरणामृत अपार
मेरी भाषा तेरे विचार ॥ ४ ॥

गीत २

तूने मुझको पैगाम दिया।
अपनी भाषामें गूंथ उसे मैंने सत्यामृत नाम दिया।
तूने मुझको पैगाम दिया ॥ १ ॥

पैगाम मिला बन्धन टूटे।
मम्मोह भरे रिश्ते छूटे ॥
इस जीवनमें ही पुनर्जन्म देकर—
तूने निजधाम दिया।
तूने मुझको पैगाम दिया ॥ २ ॥

तूने अनुपम करुणा करके।
मेरी निर्बलताएँ हरके ॥
यह जीवन सफल बनानेको—
जीवनभरका यह काम दिया।
तूने मुझको पैगाम दिया ॥ ३ ॥

गीत ३

कौन तू तेरा कौन निशान।
तुझे समझने में हारे सब वैज्ञानिक विद्वान।
कौन तू तेरा कौन निशान ॥ १ ॥

ईश्वरवादी का ईश्वर तू ब्रह्मा विष्णु महेश।
सर्वेश्वर अल्लाह खुदा प्रभु अहुर्मज्द अखिलेश ॥
गाड यहोवा जगत्पिता तू रब रहीम रहमान।
कौन तू तेरा कौन निशान ॥ २ ॥

परम निरीश्वरवादी का तू महाकाल गुणधाम।
नेचर प्रकृति परात्पर अक्षर परब्रह्म निष्काम ॥
परंज्योति तू महाबोधि तू चिन्मय अन्तर्ज्ञान।
कौन तू तेरा कौन निशान ॥ ३ ॥

सत्यभक्त का सत्येश्वर तू परम सच्चिदानन्द।
परम विवेकाधार धर्ममय परमपिता सुखकन्द॥
सब गुणदेवों का स्वामी तू गुणाधीश भगवान।
कौन तू तेरा कौन निशान॥ ४॥

सत्यभक्त की भावुकता का प्यारा ईश्वरवाद।
सत्यभक्त की सजग बुद्धिका परम अनीश्वरवाद॥
ईशानीश समन्वयमय तू सद्विवेक की खान।
कौन तू तेरा कौन निशान॥ ५॥

तेरा कण पाकर कहलाते जन सर्वज्ञ महान।
पर न कभी हो सकता तेरी सीमाओं का ज्ञान॥
कण कण में डूबे तीर्थंकर ऋषिमुनि महिमावान॥
कौन तू तेरा कौन निशान॥ ६॥

अगम अगोचर महिमा तेरी तेरा अकथ पुरान।
बुद्धि भावना के संगम से होता तेरा भान॥
सत्यभक्त ने पाये तुझमें धर्म और विज्ञान।
कौन तू तेरा कौन निशान॥ ७॥

ईश अनीशवाद के झगड़े छोड़ें सब विद्वान।
अपनी मति गति लेकर करदें जगको स्वर्ग समान॥
सत्यभक्त, कर चिदानन्दमय सत्येश्वर का ध्यान॥
कौन तू तेरा कौन निशान॥ ८॥

गीत-४

मैं क्या तेरा धाम बताऊं।

सत्यदृष्टि से देखूं तुझको तो कण कण में पाऊं॥
मैं क्या तेरा धाम बताऊं॥ १॥

बीजरूप में भरा हुआ है कण कण में कल्याण।
सत्यभक्त पढ़ते कण कण में तेरा अकथ पुराण॥
अब 'तू कहां नहीं है' इसका उत्तर क्या बतलाऊं।
मैं क्या तेरा धाम बताऊं॥ २॥

काशी गया प्रयाग अयोध्या शत्रुंजय ओंकार।
जेरुसलम सम्मेद मदीना मक्का गिरिगिरिनार॥
सभी तीर्थ हैं तेरे आश्रम सभी जगह मैं ध्याऊं।
मैं क्या तेरा धाम बताऊं॥ ३॥

मन्दिर मसजिद चर्च जिनालय सब धर्मालय एक।
सभी जगह कल्याण लिखा है तेरे पाठ अनेक॥
जहां पढूं कल्याण वहीं मैं तेरा तीर्थ बनाऊं।
मैं क्या तेरा धाम बताऊं॥ ४॥

भगवान सत्य (सत्येश)

भगवान अगम अगोचर कहा जाता है। हजारों वर्ष से बड़े बड़े विद्वान उसे जानने की कोशिश करते आरहे हैं फिर भी अच्छी तरह जान नहीं पाये इसलिये अगम है. और आखों से देख नहीं पाये इसलिये अगोचर है। इतने पर भी उसे जानने देखने का प्रयत्न होता ही रहता है, होना भी चाहिये।

इस प्रयत्न में किसी ने यह निश्चय किया कि भगवान है, वह सृष्टि का मूल है, विधाता है, रक्षक है, न्यायी है, दण्डदाता है। किसी ने यह निश्चय किया कि ऐसा कोई भगवान हो नहीं सकता। वह असिद्ध है, युक्ति-विरुद्ध है। सृष्टि के सारे काम प्रकृति के अनुसार होते हैं।

दोनों पक्षों के पास कहने के लिये काफी है, फिर भी इस विवाद का अन्त नहीं है इसलिये देखना यह चाहिये कि इस विवाद से लाभ क्या है? इसका लक्ष्य क्या है?

दोनों पक्ष कहेंगे कि हम सत्य की खोज करना चाहते हैं। क्योंकि सत्य के बिना हम कल्याण अकल्याण, भलाई-बुराई, पथ-कुपथ का पता नहीं पासकते। न खुद सुखी हो सकते हैं न जगत को सुखी कर सकते हैं।

इस प्रकार ईश्वरवादी अनीश्वरवादी दोनों ही सत्यपर, भलाईपर सुखपर इकट्ठे होजाते हैं। इसलिये ईश्वर के स्थान पर सत्य की प्रतिष्ठा करना अधिक उपयोगी है। उसे ईश्वरवादी अनीश्वरवादी दोनों ही मानते हैं। बुद्धि और भावना दोनों को सन्तोष होता है। ईश्वरवादी सत्य में ईश्वर देखते हैं, अनीश्वरवादी सत्य में नियम व्यवस्था प्रकृति आदि देखते हैं। दोनों ही उससे आनन्द की प्राप्ति करते हैं।

ईश्वर को सच्चिदानन्द भी कहा जाता है। यह नाम बहुत सार्थक है। मूल में सत् है इसे ईश्वरवादी भी मानते हैं और अनीश्वरवादी भी मानते हैं। वैज्ञानिक कहते हैं कि सत् में से चित् (चैतन्य) की सृष्टि हुई है और चित् में से

आनन्द की। इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से सचिदानन्द में जगत का मूल और उसके विकास की सब अवस्थाएँ आजाती हैं। इसप्रकार वैज्ञानिक लोग सच्चिदानन्द के साधक हैं।

धार्मिक दृष्टि से विचार करने वाले लोग कहते हैं कि सत् में से चित् की सृष्टि हो या न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि सत् का सार [उत्तम अंश] चित् है और चित्का सार आनन्द है। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से विचार करनेवाले लोग भी सच्चिदानन्द के साधक हैं।

उस सच्चिदानन्द को मैं भगवान सत्य या सत्येश्वर कहता हूँ। इसप्रकार मैं ईश्वरवादी भी हूँ और अनीश्वरवादी भी हूँ। मेरी भावना में ईश्वरवाद है और बुद्धि में अनीश्वरवाद। मेरे जीवन में भावना और बुद्धि का समान स्थान है इसलिये मैं ईश्वरवाद अनीश्वरवाद दोनों का समान रूप से उपयोग करता हूँ। जो भावना-प्रधान हों वे ईश्वरवादी बनकर भगवान सत्य की अर्थात् सच्चिदानन्द की साधना और आराधना करें, जो बुद्धिप्रधान हों वे अनीश्वरवादी बनकर सत्य की अर्थात् सच्चिदानन्द की साधना और आराधना करें।

सत्येश्वर की साधना (सत्येशाप साधो)

सत्य की साधना है चिन्मय जगत को आनन्दमय बनाना। सत् को चित् बनाने का या सत् में से चित् निकालनेका मनुष्य को यत्न नहीं करना है, वह सब प्राकृतिक प्रणाली के अनुसार होरहा है, पर चित् को आनन्द रूप बनाने के लिये मनुष्य को काफी प्रयत्न करना है। प्राकृतिक प्रणाली से चित् में से सुख और दुःख दोनों निकल रहे हैं और अमुक अंश में निकलते रहेंगे, प्राणी का, खासकर मनुष्य का काम है कि दुःख कम करे और सुख बढ़ावे। दुःख की अपेक्षा सुख का परिमाण अधिक से अधिक करते जाना ही सच्चिदानन्द की, भगवान सत्य की साधना है।

यों तो सत्येश्वर की थोड़ी बहुत साधना हर एक कररहा है, प्रकृति भी कर रही है। इन्द्रियों को तृप्त करने के असंख्य साधन उसने जुटाये हैं जिससे प्राणी ने आनन्द पाया है, नर-नारी में उसने ऐसा आकर्षण पैदा किया है जिससे दोनों को आनन्द होता है। यह सब सहज, प्राकृतिक या अयत्नसाध्य (नाममात्र का यत्नसाध्य) आनन्द है। पर मनुष्य को प्रकृति के द्वारा दीगई सामग्री को कई गुणा बढ़ाना है और सुख के साथ दुःख का जो स्रोत प्रकृति ने बहाया है उसे क्षीण करना है। सत्येश्वर की इस विशेष साधना की जिम्मेदारी मनुष्य पर है।

जितने धर्म हैं वे सत्येश्वर की इसी साधना के विशेष विशेष कार्यक्रम हैं। अनन्त क्षेत्र, अनन्त काल और अनन्त प्राणियों की दृष्टि से सत्येश्वर की साधना के कार्यक्रम भी अनन्त हैं। प्रत्येक कार्यक्रम अमुक देशकाल और अमुक पात्रों के लिये पूर्ण होसकता है पर वह सत्येश्वर के आगे अनन्तवां हिस्सा ही है। हां! हमारा देशकाल और हमारा या हमारे समाज का जीवन भी सत्येश्वर के सामने अनन्तांश ही है इसलिये अनन्तांश जगत के लिये अनन्तांश साधना पूर्ण साधना बनजाती है या बनसकती है।

सत्येश्वर का दर्शन (सत्येशापे दीरो)

पर सत्येश्वर की साधना के पहिले सत्येश्वर का दर्शन करना जरूरी है। क्योंकि देखने के विना चलना व्यर्थ है। सत्येश्वर के दर्शन से इस बात का पता लगजाता है कि कर्तव्य का निर्णय कैसे किया जाय? जगत् कल्याण में वृद्धि कैसे की जाय? भ्रमों और कुसंस्कारों पर विजय कैसे प्राप्त की जाय? किस गुण को या धर्म के किस अंग को कितना महत्व दिया जाय? परस्पर विरोध होने पर किसको गौण या मुख्य बनाया जाय? विरोधों का समन्वय कैसे किया जाय? इत्यादि।

सत्येश्वर का दर्शन दो तरह का होता है एक रूपदर्शन, (या आकारदर्शन) दूसरा गुणदर्शन। रूपदर्शन में रूपक अलंकार के द्वारा सत्येश्वर को और उनके सारे कुटुम्ब को अर्थात् जीवन के सारे गुणों को व्यक्तित्व देकर समझा

जाता है। सत्य अहिंसा विवेक सरस्वती आदि को दिव्य व्यक्ति मानलिया जाता है। इस दर्शन से जहां अपने गुणों या मनोवृत्तियों की उपयोगिता अनुपयोगिता लघुता महत्ता आदि का परिचय मिलता है वहां मन को बहुत अच्छा आश्वासन भी मिलता है। ईश्वरवादी मनोवृत्ति को तो असीम सन्तोष होता है। संकट में धैर्य, असफलता में भी आशा उत्साह, धर्मों में समभाव, विश्वबन्धुत्व, कर्मयोग आदि के लिये यह रूपदर्शन बहुत उपयोगी है। साधारण जन से लेकर बड़े से बड़े महात्मा तक को इससे लाभ होता है और बहुत कुछ सरलता से यह दर्शन होजाता है।

दूसरा गुणदर्शन भी ऐसा ही उपयोगी है पर इससे ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों ही समान रूप में लाभ उठा सकते हैं। और रूपदर्शन की अपेक्षा गुणदर्शन का रास्ता सीधा, इसलिये निकट का है। रूपदर्शन का रास्ता घूमता हुआ जाता है इसलिये दूर का है। पर गुणदर्शन का रास्ता सीधा और निकट का होने पर भी जरा कठिन है जब कि रूपदर्शन का रास्ता दूर का होने पर भी सरल है। दोनों का जीवन में उपयोग है। रूपदर्शन से मन की तसल्ली होती है, गुणदर्शन से बुद्धि की तसल्ली होती है। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि रूपदर्शन के पथ को अंत में गुण दर्शन के पथ में मिलना पड़ता है। अन्त में गुण दर्शन तो होना ही चाहिये।

रूपदर्शन (अंबोदीरो)

सत्येश्वर के रूपदर्शन में हमें सत्येश्वर परमपिता के रूप में दिखाई देते हैं। जिनके कुटुम्ब में पत्नी, पुत्र, पुत्रियाँ, पुत्रपुत्रवधुएँ, उनके मित्र सेवक दास दासियाँ आदि हैं और ये सब गुणरूप हैं। प्रत्येक गुण एक व्यक्ति है। इस सत्येश्वर कुटुम्ब का वर्णन करने से सत्येश्वर का रूप दर्शन होजायगा। और गुणों की उपयोगिता तथा उनका स्थान समझ में आजायगा।

गुणदेव [रमदीम]

सत्येश्वर [सत्येशा] इस कुटुम्ब के परमपिता। सारा कुटुम्ब जिनकी सेवा करता है।

अहिंसा माता [मम्मेशी] सत्येश्वर की पत्नी और बाकी कुटुम्ब की माता या मातामही। विश्वप्रेम ही इनका रूप है। अहिंसा शब्द निषेधात्मक नहीं किंतु विध्यात्मक है अहिंसा का 'अ' प्रसज्य नहीं पर्युदास है. जिससे भावान्तर का बोध होता है, जिसका अर्थ होता है विश्वप्रेम। मानवभाषा का मम्मेशी शब्द इनके लिये उपयुक्त है। मम्म का अर्थ है विश्वप्रेमी बनना। मम्मेशी विश्वप्रेमकी अधिष्ठात्री भगवती है।

मुक्तिदेवी [जिन्नोजीमी] सत्यलोककी संचालिका, भगवानकी सब से बड़ी सन्तान।

विवेकदेव [श्रंकोजीमा] भगवान सत्य और भगवती अहिंसाके बड़े पुत्र

संयमदेव [धामोजीमा] „ „ दूसरे पुत्र।

विज्ञानदेव [इगोजीमा] „ „ तीसरे पुत्र।

उद्योगदेव [मुंकोजीमा] „ „ चौथे पुत्र।

कामदेव [चिंगोजीमा] „ „ पांचवे पुत्र।

सरस्वतीदेवी [बुधोजीमी] विवेकदेव की पत्नी।

तपस्यादेवी [तुपोजीमी] संयम देव की पत्नी।

शक्तिदेवी [ढुंगोजीमी] विज्ञानदेवकी पत्नी।

लक्ष्मीदेवी [धनोजीमी] उद्योग देवकी पत्नी।

कलादेवी [चन्नोजीमी] कामदेव की पत्नी।

भक्तिदेवी [भक्तोजीमी] भगवान सत्यकी पुत्री विवेक देव से छोटी।

मैत्रीदेवी [मिस्सोजीमी] भगवान की पुत्री, संयम देव से छोटी।

वत्सलतादेवी [मिल्लोजीमी] भगवान की पुत्री, मैत्री देवी से छोटी।

दया देवी [दयोजीमी] भगवान की पुत्री।

क्षमादेवी [माफोजीमी] भगवान की पुत्री।

शान्तिदेवी [शमोजीमी] भगवान की सातवीं पुत्री।

न्यायदेव [उंकोजीमा] विवेक देव के मुनीम।
कृतज्ञतादेवी [भचजेवीजीमी] न्यायदेव की पत्नी
समन्वय देव [शन्तोजीमा] विवेक देव के पुत्र।
चिन्तन देव [इंकोजीमा] विवेक देव और सरस्वती देवी के पुत्र।
सन्तोष देव [ठुशो जीमा] संयम का मित्र।
विरक्ति देवी [ठुमिचोजीमी] संयमदेवकी सेविका
प्रयोगदेव [लिंजोजीमा] विज्ञान देवका सेवक
श्रमदेव [शिहोजीमा] उद्योग देवका मित्र।
शृङ्गार देव [शिंजोजीमा] कामदेव और कलादेवी का सेवक।
अनुभव देव [इंकिवोजीमा] सरस्वती बाजार के बड़े मुनीम।
विद्यादेवी [ज्ञानोजीमी] अनुभवदेवकी पत्नी
हँसीदेवी [हिसोजीमी] कामदेव और कलादेवी की सखी।
रतिदेवी [कमोजीमी] कामदेव की सेविका।
यत्नदेव [धटोजीमा] संयम विज्ञान उद्योगदेव का मित्र।
दैवदेव [यूडोजीमा] यत्नदेव का मुनीम।
जिज्ञासादेवी [जानिशोजीमी] सरस्वती देवी की द्वारपालिका।
वाणीदेवी [इकोजीमी] सरस्वती देवीकी दासी।
लिपिदेवी [लिरंचोजीमी] " "
सहिष्णुता देवी [फीशोजीमी] तपस्या और क्षमा देवी की सखी।
सफलता देवी [फुनोजीमी] तपस्या देवीकी पुत्री
धैर्यदेव [धिरोजीमा] तपस्या देवी का भाई।
आशादेवी [आशोजीमी] धैर्यदेव की पत्नी।
साहसदेव [ठामोजीमा] शक्तिदेवी का भाई।
वैभव देव [धूलोजीमा] लक्ष्मी देवी का भाई।
चतुरता देवी (चन्तोजीमी) कलादेवीकी सखी।
सेवादेवी (सिवोजीमी) भक्तिदेवी आदि की सखी।
विनयदेव (नायोजीमा) भक्ति और तपस्यादेवी के छोटे भाईके समान मित्र।
आदर देव (मोनोजीमा) भक्तिदेवी के छोटे भाई के समान सेवक।

ध्यानदेव (मुत्रोजीमा) सत्यलोक का सारथि

गुणदेव कुटुम्ब काफी विशाल है

अघातव्रत देव (नोडिहोजीमा) सत्यवचन देव (सतिकोजीमा) ईमानदेव [शुंकोजीमा] ये तीन संयमदेवके पुत्र हैं। सद्भोग देव (मुजूशोजीमा) सदर्जनदेव (मुअर्नोजीमा) निरतिग्रहदेव (नेगुशोजीमा , निरतिभोग देव (नेमेजुशोजीमा) ये चारों संयम देवके नाती हैं। दानदेव [दानोजीमा] निरतिग्रह देव का मित्र और भक्ति आदि देवियों का सेवक है। इसप्रकार और भी सैकड़ो देव इस गुणदेव कुटुम्ब में हैं। ऊपर इनके मुख्य मुख्य रिश्ते बतादिये गये हैं पर इसके सिवाय भी इनसे अनेक रिश्ते हैं। जैसे विवेकदेव, भगवान भगवती और मुक्ति के बाद सबके शासक हैं। और बहुतो के गुरु भी हैं। जब कोई देव विवेक के अंकुश मे नहीं रहता तब वह एक तरह से कुदेव हो जाता है।

दुर्गुणदेव या कुदेव (रुजीम)

दुर्गुणदेव गुणदेवों के विरोधी प्रतिस्पर्द्धी आदि हैं। ये आनन्द के मार्ग में बाधा डालते हैं। इनकी संख्या भी विशाल है। पर कभी कभी ये विवेक की कक्षा मे आबैठते हैं तब इनके द्वारा कुछ काम आनन्दवर्धक होजाता है। जैसे अभिमान यदि विवेक की कक्षा मे आबैठे तो वह असंयम का विरोध करने लगता है। "मैं ऐसे उच्च कुल का व्यक्ति ऐसा नीच काम क्यों करूं" इत्यादि स्थानों मे अभिमान पाप का प्रतिस्पर्द्धी होजाता है। रूढ़ि और मोह के वश में होकर भी कभी कभी आदमी अच्छा काम कर जाता है। इसप्रकार दुर्गुण देवों को भी सत्येश्वर के दर्बार में स्थान मिलजाता है।

पर साधारणतः दुर्गुण देव आनन्द के पथ मे रोड़े ही अटकाते हैं इनसे बचने के लिये संक्षेप मे इनके नामादि का परिचय दिया जाता है यो अधिकांश दुर्गुण देवो का परिचय गुणदेवों के विरोध का विचार करने से सहज मे ही समझ मे आसकता है।

मोह कुदेव (मुहो रुजीमा) विवेक का विरोधी।
मूढ़ता कुदेवी (ऊतो रुजीमी) सरस्वतीकी विरोधिनी, मोह की पत्नी।
द्वेष कुदेव (दूशो रुजीमा) भक्ति मैत्री वत्सलता दया क्षमा का विरोधी।
क्रोध कुदेव [रुश्शो रुजीमा] न्याय का विरोधी। द्वेष का सैनिक।
मान कुदेव (मठो रुजीमा) भक्ति और आदर का विरोधी।
माया कुदेवी [कुटो रुजीमी] द्वेष की चतुर सेविका।
लोभ कुदेव (लूभो रुजीमा) सयम, न्याय, मैत्री का विरोधी।
भय कुदेव [डिडो रुजीमा] साहस का विरोधी।
कायरता कुदेवी [ढिरों रुजीमी] भय की पत्नी।
प्रलोभन कुदेव (लोभो रुजीमा) माया का भाई। सफलता का विरोधी
शोक कुदेव (शाको रुजीमा) धैर्य का विरोधी, मोह का पुत्र।
घृणा कुदेवी [दस्सो रुजीमी] द्वेष की पुत्री, भक्ति मैत्री आदि की विरोधिनी।
उपेक्षा कुदेवी (खटो रुजीमी) घृणा की छोटी बहिन, मैत्री आदिकी विरोधिनी।
तृष्णा कुदेवी [ललमो रुजीमी] लोभ की पत्नी, सन्तोष की विरोधिनी।
ईर्ष्या कुदेवी [डाहो रुजीमी] मैत्री की विरोधिनी।

इन दुर्गुण देवों की संख्या भी विशाल है। इन गुणदेवों और दुर्गुणदेवों के रूपदर्शन से जीवन के विकास का मार्ग मिलजाता है। देव रूप में इन देवों का दर्शन करने से भावना भी तृप्त होती है और अनाथता असहायता के संकट में आशा बँधती है तसल्ली मिलती है। जहां तक भावना का सवाल है इन गुणों का इस तरह रूपदर्शन करना चाहिये।

हां, जिसे रूपदर्शन की तरफ रुचि न हो, सिर्फ गुणदर्शन ही करना चाहता हो वह वैसा करे, रूपदर्शन के बिना भी गुणदर्शन का काफी या पूरा उपयोग है। पर गुणदर्शन के बिना रूपदर्शन का बहुत कम उपयोग है।

गुणदर्शन (गमोदीरो)

भगवान सत्य के गुणदर्शन के मार्ग में अनेक बाधाएँ हैं। बड़ी बाधाएं तीन हैं। १-कुसंस्कार मोह आदि के कारण आई हुई पक्षान्धता, २-दीनता, आलस्य अज्ञान आदि के कारण पैदा हुआ अन्ध विश्वास, ३-सत्य के भिन्न भिन्न रूपों की ठीक ठीक पहिचान न होने के कारण पैदा हुआ एकान्त आग्रह। इन सब दोषों को दूर करने के लिये तीन बातों की आवश्यकता है- १-निष्पक्षता. २-परीक्षकता. ३-समन्वयशीलता।

१-निष्पक्षता (नेटिपो)

जिस प्रकार एक चित्र के ऊपर दूसरा चित्र नहीं बनाया जासकता, अथवा तब तक नहीं बनाया जासकता जब तक नीचे का चित्र किसी दूसरे रंग से न दबा दिया जाय, उसीप्रकार जबतक हृदय पहिले से किसी कुसंस्कार या पक्षपात से रंगा है तब तक उसपर सत्येश्वर का चित्र नहीं बनसकता। इसलिये मनुष्य को अपना हृदय निष्पक्ष बनाना चाहिये। अगर वह अपना पक्ष पूरी तरह न छोड़ सके तो कम से कम उतने समय के लिये तो उसे अपना हृदय निष्पक्ष बना ही लेना चाहिये जितने समय वह किसी नई बात पर या दूसरे की बातपर विचार कर रहा है, या वह शुद्ध सत्य को समझने की इच्छा रखता है।

सत्यदर्शन के लिये निष्पक्षता जरूरी है, और निष्पक्षता के लिये दो तरह के मोहों का त्याग करना जरूरी है। १-स्वत्व मोह २-काल-मोह।

स्वत्वमोह [एमो मोहो]

स्वत्वमोह का अर्थ है अपनी चीज का मोह। अधिकांश लोगों को सत्य असत्य की पर्वाह नहीं होती। वे सच्चाई का निर्णय अपनेपन से करते हैं। हमारे विचार अच्छे, हमारी भाषा अच्छी, हमारी लिपि अच्छी, हमारा देश अच्छा, हमारी पोषाक अच्छी, हमारे सब तरीके

अच्छे, हमारा धर्म अच्छा, हमारे पुरखे अच्छे आदि। सत्यदर्शन में यह बड़ी भारी बाधा है। वे सचाई को अपनाना नहीं चाहते किन्तु अपनी चीजपर सच्चाई की छाप मारना चाहते हैं।

पर इस अपनेपन का सच्चाई से कोई सम्बन्ध नहीं है। अपनापन जिन कारणों से पैदा होता है उसका सच्चाई से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अधिकांश अपनापन जन्म के कारण होता है। जिन लोगों में हम पैदा होते हैं उनकी सब बातें हमें अच्छी लगने लगती हैं, बाल्यावस्था के संस्कारों के कारण कुछ आदत भी वैसी पड़जाती है। पर इस बातपर हम जरा गहराई से विचार करें तो अच्छेपन की यह कसौटी हमें गलत मालूम होने लगेगी।

हमारा जन्म हमारे चुनाव से नहीं हुआ। जन्म के पहिले हमने किसी जगह बैठकर यह निर्णय नहीं किया था कि "इस संसार मे सबसे अच्छे मा-बाप कौन हैं जिनके यहा हम जन्म ले, सब से अच्छी भाषा कौन है जिसे बोलनेवालों में हम जन्म ले, सब से अच्छा जलवायु कहा का है जहां हम जन्म लें, सब से अच्छे रीतिरिवाज कहा के है जहां हम जन्म लें, सब से अच्छा धर्म कौनसा है जिसमे हम जन्म ले आदि।" ऐसी हालत में अपनेपन के कारण किसी चीज को सत्य समझने का क्या अर्थ है? जहा हम पैदा हुए वहीं की चीज को हम अच्छा या सत्य कहने लगे, जहा कोई दूसरा पैदा हुआ वहा की चीजों को वह अच्छा या सत्य कहने लगे, इस कहने का क्या मूल्य होसकता है?

हा! जन्म या संगति के कारण हमें कुछ बातो की आदत होजाती है, सम्पर्क आदि के कारण कुछ स्नेह भी पैदा होजाता है ऐसी हालत में उनसे कुछ विशेष प्यार होजाय यह स्वाभाविक है, तब हम उन्हें प्यारा कहें यह किसी तरह ठीक है पर अपनेपन के कारण उसे सब से अच्छा कहने की भूल न करें। जो खानपान हमारी आदत में शुमार होगया है, जिस भाषा की हमें बाल्यावस्था से आदत पड़गई है, जो जलवायु हमें मुफीद होगया है वह हमें प्यारा होसकता है, पर सब से अच्छा नहीं। इसके लिये हमें ऐसी कसौटी बनाना चाहिये जो बहुजन हित की दृष्टि से ठीक हो। जैसे धर्म के बारे में यह देखना चाहिये कि क्या उसका ढांचा आज की समस्याओं को सब से अच्छी तरह से हल करसकता है? भाषा की दृष्टि से यह देखना चाहिये कि क्या नये आदमी को भी वह सीखने में सरल है? इसी ढंग से सब बातों का विचार करना चाहिये। किसी चीज को या व्यक्ति को हम अपने लिये सब से अधिक प्यारा कहकर भी सब से अच्छा या पूर्ण सत्य कहने की भूल न करें, इसकेलिये हमें ठीक परीक्षा करके ही निर्णय करना चाहिये। साथ ही यह बात न भूलना चाहिये कि जैसे संस्कारवश हमें अपनी चीज प्यारी लगती है उसी तरह दूसरे को भी अपनी चीज प्यारी लग सकती है। इसलिये जो चीज हमें प्यारी है वह दूसरे को प्यारी क्यों नहीं, इस विचार से दुःखी या द्वेषी न होना चाहिये। इस बारे मे उदार रहना चाहिये। और सत्य के सामने विनीत रहना चाहिये।

सार यह कि हम अपनी चीज को अपनेपन के कारण सच्ची समझने की कोशिश न करें, किंतु जो बात सच्ची सिद्ध हो उसे सच्ची मानने की तथा अपनाने की कोशिश करे।

'जो अपना सच्चा वही' यह है बुरी कुटेक।
'जो सच्चा अपना वही' रक्खो यही विवेक॥

स्वत्वमोह के कारण मनुष्य मे अनेक बुराइयाँ आती हैं जो स्वपर कल्याण में विघातक और सत्यदर्शन में बाधक हैं। कुछ ये हैं—

१. सत्य की उपेक्षा [सत्यां पे खटो]
२ सत्य का विरोध [सत्येपे फूलुटो]
३. झूठ की बकावत [मिटो पे वारो]
४ उपेक्षक श्रेयोपहरण [खटीर लेकेमो-छेनो]
५ घातक श्रेयोपहरण [डिंडर लेकेमो-छेनो]
६ सत्य का अस्वीकार [सत्योपे नोअम्मो]

१—जिस सत्यपर अपनेपन की छाप नहीं लगी रहती उसपर स्वत्वमोही पूरी तरह उपेक्षा

करता है। उसपर वह थोड़ाबहुत भी ध्यान नहीं देता। इससे वह सत्य से वञ्चित रहता है।

२-जब स्वत्वमोही देखता है कि उपेक्षा करने से काम नहीं चलेगा तब वह किसी न किसी तरह विरोध करने लगता है। इससे वह तो सत्य से वञ्चित रहता ही है पर दूसरों को भी सत्य से वंचित रखने की कोशिश करता है।

३-इस स्वत्वमोह के कारण मनुष्य ज्ञान विज्ञान की बुरी तरह अवहेलना करता है। इस से ज्ञान विज्ञान की हानि नहीं होती किन्तु मनुष्य की हानि होती है और मनुष्य अपनी हास्यास्पद मूढ़ता का परिचय देता है। बहुत से लोग कहने लगते हैं कि "विज्ञान की अंतिम से अंतिम खोजें हमारी मान्यताओं का समर्थन करती हैं,, ऐसे लोग विज्ञान की वर्णमाला भी न समझकर उसके नाम पर मनचाही कल्पनाएँ किया करते हैं और उनसे अपनी रूढ़ियों या मान्यताओं का समर्थन कराया करते हैं। 'चोटी के द्वारा शरीर में बिजली आती है उससे शक्ति बढ़ती है यह वैज्ञानिक बात है इसलिये चोटी रखना अच्छा।' इस तरह का इनका वैज्ञानिक समर्थन रहता है। वे यह नहीं सोचते कि तब तो पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को ज्यादा बिजली मिलना चाहिये, उनकी चोटी बड़ी होती है। अथवा चोटीवालों पर खास तौर पर बिजली गिरना चाहिये। पर उन्हें अपनी तारीफ से मतलब, गहरे विचार से नहीं। इसप्रकार प्रायः हर एक धर्मवाला अपनी रूढ़ियों पर विज्ञान की झूठी छाप लगाया करता है। यह स्वत्व-मोह का परिणाम है। इस से मनुष्य आवश्यक सुधार नहीं कर पाता।

४-कोई कोई लोग इसप्रकार की हास्यास्पद बातें तो नहीं करते किन्तु सामान्य की ओट में विशेष का मूल्य छिपाकर झूठी आत्मश्लाघा या दूसरों के श्रेय का अपहरण करते हैं। जैसे-"रेल का एंजिन बनानेवाले ने क्या बड़ी बात की? भाफ में बड़ी ताकत है यह तो हमारे देशवालों को सदा से मालूम था" इस वक्तव्य में वह यह भूल जाता है कि भाफ की ताकत का साधारण ज्ञान शताब्दियों तक लाखों आदमियों को रहने पर भी एंजिन न बनसका, तब जिसने एंजिन बनादिया उनकी महत्ता इस दृष्टि से हमारे आदमियों से कई गुणी है। इसीप्रकार एक ही आदमी पिता की अपेक्षा पुत्र और पुत्र की अपेक्षा पिता है इसका पता होने से ही अनेकान्त सिद्धान्त के आविष्कार का श्रेय अपहरण नहीं किया जासकता। या अनेकान्त का ज्ञान होने से ही सापेक्षवाद (Relativity) की महत्ता का श्रेय अपहरण नहीं किया जासकता। इनके श्रेय का अपहरण करना तो ऐसा ही है जैसे किसी महाकवि की रचना पर यह कहदिया जाय कि "इस कविता में जितने स्वर व्यंजन आये हैं वे तो हमारे घर के बच्चे बच्चे को मालूम हैं। इसमें महाकवि की क्या महत्ता है?" जैसे स्वर व्यञ्जन का साधारण ज्ञान होने और उनकी अमुक क्रम से रचना करके एक काव्य बनाने में जमीन आसमान का अन्तर है उसीप्रकार साधारण ज्ञान से वैज्ञानिक आविष्कारों में अन्तर है।

५-कुछ लोग ग्रंथ सम्प्रदाय मत आदि के स्वत्वमोहके कारण शब्दोंकी हास्यास्पद खींचातानी करते हैं। वे दूसरों का श्रेय लूटने के लिये उनकी बात पहिले लिखलेते हैं और फिर कोष व्याकरण का कचूमर बना बनाकर शब्दों से इच्छित अर्थ खींचते रहते हैं। कोई भी बात हो वे किसी न किसी तरह से उसे अपनी बात सिद्ध कर डालते हैं। इसके लिये अवसर के बिना ही अलंकार एकाक्षरी कोष आदि का उपयोग करते हैं, सीधे तथा प्रकरण संगत अर्थ को छोड़कर कुटिल अर्थ निकाला करते हैं। इसके बाद या कभी कभी इसके पहिले ही वे यहां तक कहने का दुःसाहस कर डालते हैं कि ये सब तो हमारी ही बातें हैं, इन्हें दूसरोंने हमारे ग्रंथों से चुरा लिया है। वे यह नहीं सोचते कि शताब्दियों से जिन ग्रंथों को तुम्हारे सैकड़ों विद्वान पढ़ते रहे और उन्हें जिन आविष्कारों की गंध भी न मिली, एक कदम चलने लायक रास्ता भी न सूझा वे दूसरों

को कहां से मिलगये ? सचमुच स्वत्वमोह से मनुष्य इतना विचारशून्य होजाता है कि उसमें साधारण समझदारी के दर्शन भी दुर्लभ होजाते हैं। वह घातकतासे श्रेयोपहरण करने लगता है।

६–बहुत से लोगों का स्वत्वमोह इतना प्रबल रहता है कि वे तब तक किसी युगसत्य को अपनाने को तैयार नहीं होते जब तक उसपर उनके देश जाति धर्म आदि के नाम की छाप न लग जाय। वे यह भूल जाते हैं कि जो सत्य मनुष्य-मात्र के लिये है उसपर किसी खास जाति धर्म या देश की छाप लगाने से वह सब के काम का न रहेगा। यद्यपि उसे नाम तो देना ही पड़ता है पर उसपर अमुक देश जाति धर्म का नाम देना उस युगसत्य को संकुचित कर लेना है। इसलिये उसे ऐसा नया नाम देना चाहिये जो किसी को दूसरे का न मालूम हो।

इस स्वत्वमोह का ही परिणाम है कि मनुष्य अपनी मृत वस्तुओं, मृत रूढ़ियों, मृत-सम्प्रदायों के नामपर लाखों की सम्पत्ति खर्च करता है, पर जीवित धर्म पर उपेक्षा करता है। इससे उसका जीवन और धन व्यर्थ जाता है और जगत भी कल्याण से वञ्चित रहता है।

इसप्रकार स्वत्वमोह के कारण मनुष्य अपनी उपेक्षकता से घर आये हुए या सामने आये हुए सत्य के दर्शन से वञ्चित रहता है, सत्य का विरोध करके अपने पैरोंपर आप कुल्हाड़ी मारता है, झूठ की वकालत करके जीवन की बीमारियों से चिपटा रहता है, सत्यसेवकों की सेवा पर उपेक्षा करके एक तरह की कृतघ्नता का परिचय देकर प्रगति के विषय में अज्ञानी बनता है. कभी सत्यसेवकों या उपकारियों के उपकार पर जबर्दस्ती अपनेपन की छाप मारकर एक तरह की डकैती करता है, अन्त में यहां तक होता है कि सत्य की महत्ता का पूरी तरह पता लगजाने पर भी वह सत्य को अस्वीकार करके जीवन असफल बनाता है। इन सब बातों से कहना पड़ता है कि स्वत्वमोह सत्येश्वर के दर्शन में बड़ी भारी बाधा है।

कालमोह (ललोमुहो)

किसी बात को अमुक काल का होने के कारण ही सत्य या ठीक समझना कालमोह है। सत्य को उसकी उपयोगिता अर्थात् कल्याण-कारकता की दृष्टि से ही परखना चाहिये। प्राचीनता या नवीनता की दृष्टि से नहीं। दोनों तरह का—प्राचीनता का और नवीनता का मोह सत्य दर्शन में बाधक है।

प्राचीनता मोह (लूवो मुहो)

प्राचीनता मोही उचित-अनुचित का विचार नहीं करता। वह प्राचीनता के नाम से किसी बात को ठीक समझ लिया करता है। इसलिये सत्य जब युग के अनुसार किसी नये रूप में आता है तब प्राचीनता मोही उसका अपमान करता है। और पुराना रूप जब विकृत होकर असत्य बनजाता है तब भी उससे चिपटा रहता है। इस प्रकार वह सत्य का भोजन नहीं कर पाता और असत्य रूप मल (जोकि किसी समय भोजन था) का त्याग नहीं कर पाता। इसप्रकार प्राचीनता मोह उसके जीवन को बर्बाद करता है। इस विषय में एक वैद्यजी की कथा है।

प्राचीनतामोही वैद्य (लूवोमुहिर थिम्कर)

एक बार एक वैद्यजी के मित्र आये। वैद्यजी प्राचीनतामोही थे और उनके मित्र थे सुधारक। मित्रजी का कहना था कि युग के अनुसार सुधार करना जरूरी है। भले ही कोई बात किसी युग में अच्छी रही हो परन्तु आज अगर उसका उपयोग नहीं है तो उसका त्याग ही कर देना चाहिये। अपने समय पर वह अपना काम कर चुकी [illegible] निःसार होनेपर उसका रखना व्यर्थ है।

वैद्य जीका कहना था—जो अच्छा है [illegible] अच्छा ही है। वह बुरा क्यों होगा ? बुरा है तो हमारे पुरखे. जो हमसे होश्यार थे, क्यों [illegible] दे जाते ?

मित्रजी ने बहुत समझाया कि 'जो [illegible] पुरखों के जमाने में अच्छी थी वह अपना का[illegible] कर चुकनेपर परिस्थिति बदलने पर निःसा[illegible] बेकार हो सकती है'।

पर वैद्यजी इस बात को किसी भी तरह मानने को तैयार नहीं थे।

इतने में एक बाई अपने बालककी चिकित्सा कराने आई। उसका कहना था कि यह बालक परसों से टट्टी नहीं जारहा है।

वैद्यजी ने बालक की नाडी देखी पर कोई खास बीमारी समझ में न आई। तब उनने बालक से पूछा—क्यों भाई, तुम्हें टट्टी नहीं लगती ?

बालक ने कहा—लगती तो है।

वैद्यजी—तब तुम टट्टी क्यों नहीं जाते।

बालक ने कुछ सहमते हुए कहा—मैं उसे रोक रखता हूँ।

वैद्यजी ने आश्चर्य से पूछा—रोक रखते हो। रोकने का कारण ?

बालक ने नीची नजर रखकर कुछ लजाते हुए कहा-मैंने परसों मिठाई खाई थी।

वैद्य—अरे, तो मिठाई से क्या हुआ ? क्या मिठाई खाने के बाद टट्टी नहीं जाना पड़ता ?

बालक—मिठाई हर दिन तो मिलती नहीं, इसलिये सोचता हूँ मिठाई क्यों निकालूं ?

वैद्य—अरे मूर्ख, क्या अभी तक मिठाई पेट में बनी ही रही। उसका जो हिस्सा शरीर में मिलने का था वह शरीर में मिलगया, बाकी तो विष्ठा होगया, अब वह मिठाई कहां रही ?

बालक—परसों तो मिठाई थी।

वैद्य—अरे, तो परसों परसों है, आज आज है। क्या कोई चीज सदा एकसी बनी रहती है ? जा यह दवा लेजा।

यह कहकर वैद्य जी ने हलका सा जुलाब देदिया।

दोनों के चले जानेपर मित्र ने वैद्य जीसे कहा—भाईजी, आप टट्टी रोकने पर दूसरों को ही जुलाब देते हैं खुद नहीं लेते।

वैद्य जी ने मुसकराते हुए कहा-भाई मानता हूँ तुम्हारी बात। जो नियम शरीर की चिकित्सा का है वही समाज की चिकित्सा का भी है। अब आज से मैं भी सुधारक बनता हूँ।

स्वत्वमोही में जिसप्रकार सत्यपर उपेक्षा आदि छः दोष पाये जाते जाते हैं उसीप्रकार प्राचीनतामोही में भी पाये जाते हैं। स्वत्वमोही में अपनेपन के पक्षपात के कारण दूसरे के द्वारा प्रगट किये गये सत्य के बारे में उपर्युक्त दोष दिखाई देते हैं जब कि प्राचीनता मोही में प्राचीनता के पक्षपात के कारण नवीनसत्य या युगसत्य के बारेमें उपर्युक्त दोष दिखाई देते हैं। एक ही सत्य को स्वत्वमोही पराया समझकर और प्राचीनतामोही नवीन समझकर अस्वीकार करता है।

स्वत्वमोही की तरह प्राचीनता मोही भी जब किसी सत्य का विरोध उपेक्षा आदि नहीं कर पाता तब श्रेयोपहरण करने लगता है। अगर किसी ने वायुयान बनाया तो प्राचीनता मोही को यह सब अपने शास्त्रों में दिखाई देने लगता है। प्राचीनता मोही भी सामान्य विशेष के मूल्य, महत्व और उपयोगिता का अंतर भुला देता है। वह यह भूलजाता है कि संसार में ऐसे बहुत से सिद्धांत हैं जिनके सामान्य रूपों का पता मनुष्य ने तभी लगालिया था जब वह पशु से मनुष्य बना था, परन्तु उस क्षुद्र सामान्य ज्ञान के बाद मनुष्य ने जो करोड़ों विशेषताओं का ज्ञान किया है उनकी महत्ता उस क्षुद्र सामान्य ज्ञान में नहीं समाजाती। सारे विश्व को सत् रूप जान लेना एक बात है और उसकी अगणित विशेषताओं को जान लेना दूसरी। इन विशेष ज्ञानों की उपयोगिता सामान्य ज्ञान से पूर्ण नहीं होसकती। परन्तु प्राचीनता मोही अपने प्राचीनता मोह के कारण सामान्य ज्ञानों को इतना अनुचित और हास्यास्पद महत्व दे देता है कि वह जानमें या अनजान में श्रेयोपहरण कर जाता है।

प्राचीनतामोही जान में या अनजान में जो इसप्रकार के भ्रमों का शिकार होजाता है उसका एक कारण यह भी है कि वह कल्पना-कथाओं को और इतिहास को एक मानलेता है। लोगों के मनमें सुखसाधन के रूपमें नाना तरह की लालसाएँ और कल्पनाएँ उठा करती हैं और कल्पित कहानियों से

मनको तसल्ली देते रहते हैं। उनमें से कोई कोई कल्पनाएँ ऐसी भी होती हैं जो कि शताब्दियों की साधना से प्रत्यक्ष होजाती हैं। जैसे मनुष्य ने पक्षियों को उड़ता देखकर मनुष्य के उड़ने की कल्पना की। वह स्वयं तो उड़ नहीं सकता था इसलिये उसने कल्पना सृष्टि में परियों की, गरुड़ आदि पक्षिवाहनों की, दिव्य और यांत्रिक विमानों की कल्पना की। अवतारी कहलाने वाले व्यक्तियों में उनका आरोप कर उनके पुराण बनाये। शताब्दियों बाद मनुष्य की साधना से सचमुच के वायुयान बनगये। तब इस साधना के महत्व को भूल कर पुरानी कल्पनाकथाओं को महत्व देना अन्याय है।

वास्तव में हर एक आविष्कार का यह नियम है कि वह पहिले कल्पना में आता है। और किसी महान आविष्कार की कल्पना तो पीढ़ियों और शताब्दियों तक बनी रहती है। तब तक वह कहानियाकी कथावस्तु बनजाती है। पर यह भूलना न चाहिये कि वह कल्पना है। इसे वह इतिहास न समझले। पर प्रबल प्राचीनता मोह इस भ्रम को दूर नहीं करने देता।

प्राचीनतामोही इस भ्रमसे तथा उपर्युक्त दोषों से अपनी और जगत की बड़ी हानि करता है। एक तरह से उसके लिये उन्नति का द्वार बन्द होजाता है वह या उसका समाज मौत की राह में जाने लगता है। सुधारकता, या युग के अनुरूप परिवर्तन करने की क्षमता नष्ट होजाती है।

भोजन और शौच (मलत्याग) जीवन के लिये आवश्यक है। पर प्राचीनतामोही समाज न युग के अनुरूप नई खुराक ले सकता है, न युग के प्रतिकूल पुरानी पचीहुई खुराक को दूर करसकता है। यह मौत की या पतन की राह है।

प्राचीनता मोही साधारणतः अवसर्पणवादी (नूशोवादिर—अवनतिवादी) होता है। वह सोचता है-' जितना कुछ सत्य था वह भूतकाल में आचुका, हमारे पुरखों को प्राप्त होचुका, अब उसमें कोई सुधार संशोधन या नवीनता नहीं आसकती। यह जगत धीरे धीरे पतित होरहा है, अब इसका कोई क्या सुधार करेगा ? आदि' इसप्रकार वह मानवजाति की उन्नति में विश्वास नहीं करता, पतन को स्वाभाविक समझता है। इन्हीं सब विचारों के कारण वह नवीन रूप में आये हुए विचारसत्य का विरोध करता है। और जब कोई विचारक समाज के विकारों को दूर करने के लिये, अर्थात् या समाज के कल्याण के लिये समाज के सामने नये विचार रखता है तब प्राचीनतामोही इस विचार सत्य का विरोध करने के लिये कमर कसता है। वह नये विचारक से कहता है—

'हमारे पुरखे क्या मूर्ख थे ? क्या तुम्हारे बिना उनका उद्धार नहीं हुआ ? क्या तुम उनसे बढ़कर हो ? उन्हीं की जूठन खाकर तुम पले हो, अब उनसे बड़ा बनना चाहते हो। उनकी भूलें निकालते हो ?

वह प्राचीनता मोही या अवसर्पणवादी, यह नहीं सोचता कि हमारे पुरखों के पास जतनी पूंजी थी वह तो हमें मिली ही है साथ ही इतने समय में जगत ने जो ज्ञान कमाया है, वह भी पूंजी के रूप में हमें मिला हैं, ऐसी हालत में हम व्यक्तित्व की दृष्टि से न सही, पर ज्ञान भंडार की दृष्टि से बढ़गये हों तो इसमें आश्चर्य क्या है ? बल्कि यह स्वाभाविक और आवश्यक है।

दूसरी बात यह है कि पूर्वपुरुष [illegible] अपेक्षा कितने ही ज्ञानी क्यों न हों, पर देश [illegible] के अनुसार परिवर्तन या सुधार करने से [illegible] अवहेलना नहीं होती। अगर आज वे होते [illegible] वे भी देश काल के अनुसार सुधार करते।

जब हम बालक थे तब मा बाप ने उ[illegible] परिस्थिति के अनुसार छोटा कोट बनवा[illegible] था, गरमी के दिनों में पतला कुर्ता बन[illegible] था, अब उनके मरने के बाद जीवनभर हम छो[illegible] कोट ही पहिनें या शीत ऋतु आजाने पर पतला कुर्ता ही पहिनें क्या यह उचित होगा अगर हमें कोई सलाह दे कि समयानु[illegible]

पोशाक बदल लेना चाहिये और हम कहें कि हमारे बाप क्या मूर्ख थे जिनने यह पोशाक बनवाई थी तो यह कथन हमारा पागलपन होगा। प्राचीनता मोह से ऐसा ही पागलपन आता है।

तीसरी बात यह है कि देशकाल के अनुसार सुधार करने वाला जनसेवक भले ही पुराने लोगों के टुकडे पाकर पला हो, मनुष्य बना हो, पर जिस प्रकार छोटा सा बीज आसपास के कूडे-कचरे को पाकर एक महान वृक्ष बनजाता है, और उसका मूल्य बीज से तथा कूडे-कचरे से कई गुणा होजाता है, उसीप्रकार पुराने टुकडों को पाकर भी एक सुधारक जनसेवक महात्मा बन सकता है।

प्राचीनतामोहियों की प्रबलता के कारण ही,बहुतसी धर्मसंस्थाओंको अपने ऊपर प्राचीनता की छाप लगाना पड़ी है। धर्मसंस्था तो सत्य का या धर्म का अमुक देशकाल के लिये बनाया गया कार्यक्रम है। सत्य अनादि अनन्त कहा जासकता है पर उसके लिये जो कार्यक्रम बनाया जाता है वह तो अनादि अनंत नहीं कहा जासकता। पर जब जनता प्राचीनता की छाप के बिना किसी सत्य को ग्रहण करने को तैयार नहीं होती तब धर्मसंस्थाओं के संस्थापकों अर्थात् तीर्थंकरों को या पीछेसे उसके शिष्य प्रतिशिष्यरूप सञ्चालकों को उस नवीन या सामयिक सत्य पर अनादिता की या प्राचीनता की छाप लगाना पड़ती है। इसलिये अधिकांश धर्मसंस्थाओं के संस्थापक तीर्थंकर और सञ्चालक किसी न किसी रूप में अपनी धर्मसंस्था का इतिहास सृष्टि के कल्पित प्रारम्भ से शुरु करते हैं, इसप्रकार धार्मिक सत्य देने के लिये उन्हें ऐतिहासिक असत्य का बोझ सिर पर उठाना पड़ता है। कालान्तर में यह असत्य इतना प्रबल होजाता है कि उसके आगे धार्मिक सत्य का मूल्य कम माना जाने लगता है। इस बुराई की जिम्मेदारी धर्मसंस्था के संचालकों पर नहीं डाली जासकती या बहुत कम डाली जा सकती है, सारी या अधिकांश जिम्मेदारी प्राचीनतामोही समाज की होती है। अगर उसमें प्राचीनतामोह न होता तो धर्मशास्त्रों में प्राचीनता की कल्पित कहानियाँ न भरी गई होतीं और न उनके अनुयायी प्राचीनता को सत्य की कसौटी मानकर स्वपरवञ्चना करते। प्राचीनतामोही व्यक्ति अपने सम्प्रदाय को पुराने से पुराना साबित करने के लिये एड़ी से चोटी तक पसीना बहाता है। जब कि निर्मोह या विवेकी व्यक्ति प्राचीनता की पर्वाह नहीं करता। बल्कि उसकी धर्मसंस्था को कोई सब से प्राचीन कहे तो वह मुसकराकर कहेगा कि मेरी धर्मसंस्था इतनी खराब नहीं है कि मैं उसे सब से प्राचीन कहूँ।

इस विवेचन से पता लगता है कि जिसे सत्य का दर्शन करना है उसे प्राचीनता का मोह नष्ट कर देना चाहिये। पर प्राचीनता के मोह को नष्ट करने का मतलब यह नहीं है कि हर एक प्राचीनवस्तु की अवहेलना की जाय। स्वपर-कल्याणकारी तत्व चाहे नवीन हो चाहे प्राचीन, हमें ग्रहण करना चाहिये। फिर भी इतना कहा जासकता है कि प्राचीन की अपेक्षा नवीन को अच्छा होने का अवसर अधिक है। नवीन में तीन विशेषताएँ रहतीं हैं—

१—नवीन हमारी वर्तमान परिस्थिति के निकट होने से प्राचीन की अपेक्षा हमारी परिस्थिति के अधिक अनुकूल होता है।

२—यह स्वभाव है कि पैदा होने या बनने के बाद हर एक वस्तु परिवर्तित या विकृत होती जाती है, कदाचित् कोई वस्तु कुछ समय तक विकसित होने के बाद विकृत होती है पर विकृत होने लगती है जरूर, इसलिये जो वस्तु बहुत पुरानी हो उसे विकृत होने का अधिक अवसर मिला है जब कि नवीन को विकृत होने का इतना अवसर नहीं मिला है।

३—प्राचीन के कर्ता को जितना अनुभव और साधनसामग्री मिल सकती है, नवीन के कर्ता को उससे कुछ अधिक मिलती है इसलिये नवीन कुछ अधिक सत्य या पूर्ण रहता है।

इन तीन कारणों से सत्यासत्य के निर्णय में नवीनता से कुछ अधिक सहारा मिले यह

स्वाभाविक है। फिर भी इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जितना नवीन है सब अच्छा है। तात्पर्य इतना ही है कि प्राचीन की अपेक्षा नवीन को अच्छा होने का अधिक अवसर है। होसकता है कि किसी नवीन में अधिक अवसर का ठीक ठीक या पूरा उपयोग न हुआ हो और किसी प्राचीन में कम अवसर का भी उचित और अधिक उपयोग हुआ हो तो ऐसी हालत में नवीन की अपेक्षा प्राचीन अच्छा होगा। इसलिये प्राचीन और नवीन के विषय में निष्पक्ष रहना ही सब से अच्छा है।

नवीनता मोह (नूयो मुहो)

प्राचीनता का मोह जितना सत्यदर्शन में बाधक है उतना तो नहीं, फिर भी काफी परिमाण में, नवीनता का मोह भी सत्यदर्शन से बाधक है। नवीन होने से ही कोई वस्तु प्राचीन से अच्छी नहीं होती। कभी कभी प्राचीन विकृत होकर नवीनरूप धारण कर लेता है। ऐसी अवस्था में विकृति को मूलवस्तु से अच्छी नहीं मानसकते। धर्मों के इतिहास में ऐसी बहुतसी बातें मिलेंगी कि जो धर्म मूल में अच्छे थे, वे पीछे विकृत होगये। यहां विकृत रूप नवीन कहलाया, पर नवीन होने से वह अच्छा नहीं कहा जासकता। ऐसी अवस्था में विकृति को हटाकर फिर मूल की ओर या प्राचीन की ओर आना पड़े तो प्राचीन होने के कारण ही इस प्रयत्न को बुरा नहीं कहेंगे।

जैसे—वैदिक धर्म की आश्रम व्यवस्था पुरानी चीज है आज नष्ट हो चुकी है, अब फिर आवश्यकता देखकर कोई उसकी स्थापना करना चाहे तो प्राचीन होने के कारण वह असत्य न होजायगी।

इसलाम में व्याज लेने की मनाई है पर यह विधान पुराना पड़गया है अब आज कोई व्याज को बन्द करना चाहे तो यह प्राचीनता के कारण अनुचित न होजायगा।

जैनों और बौद्धों ने मूर्तिपूजा को व्यवस्थित रूप दिया, पीछे परिस्थिति बदल जाने से उसका विरोध हुआ। अब कोई उसको फिर व्यवस्थित और व्यापक रूप देना चाहे तो प्राचीन होने के कारण यह असत्य न होजायगा।

कभी एकतन्त्र से प्रजातन्त्र, कभी प्रजातंत्र से एकतन्त्र पर आना पड़ता है। पुरानी चीज का पुनरुद्धार होते देखकर नवीनतामोही को घबराना न चाहिये। प्राचीन अगर उपयोगी है तो वह नवीन ही है। सर्वथा नवीन असम्भव है।

सत्यदर्शन में हर तरह का मोह बाधक है। चाहे वह स्वत्वमोह हो चाहे कालमोह, चाहे नवीनता का मोह हो चाहे प्राचीनता का, सब तरह के मोहों का त्याग करके निष्पक्षता पैदा करना चाहिये। सत्येश्वर के दर्शन के लिये निष्पक्षता आवश्यक गुण है।

२ परीक्षकता (देखको)

निष्पक्षता पालेनेवाला व्यक्ति ठीक ठीक परीक्षा कर सकता है। परीक्षा का मतलब, सत्य-असत्य भलाई-बुराई की जाच परख करना है। कोई सत्य परम्परा से मिला हो तो भी उसकी इतनी जाच तो करना ही चाहिये कि वह देशकाल और व्यक्ति का विचार करते हुए कल्याणकारी है कि नहीं? जो आदमी इतनी भी परीक्षा नहीं कर सकता वह सत्येश्वर का दर्शन नहीं कर सकता। वह किसी बात को माने या न माने उसके मत का कोई मूल्य नहीं है। 'तुम यह बात क्यों मानते हो? क्योंकि हमारे पुरखे मानते आये हैं, यह उत्तर सत्यदर्शक का उत्तर नहीं है।' परम्परा की मान्यता से ही किसी बात को मानने में मनुष्य होने का कोई लाभ न हुआ। बाप हिन्दू था सो हिन्दू होना सत्य, बाप मुसलमान था सो मुसलमान होना सत्य, बाप जैन बौद्ध या ईसाई था सो जैन बौद्ध या ईसाई होना सत्य, बाप मनुष्य था सो मनुष्य होना सत्य और बा[illegible] पशु होता तो पशु होना सत्य, यह [illegible] की विचारधारा नहीं है। सत्यदर्शक होने के लि[illegible] इन सब बातों के भले बुरे अंशों की जाच [illegible] होना चाहिये। आदमीको परीक्षक बनना चाहिये

परीक्षक बनने के लिये तीन बातों की ज[illegible] रत जरूरत है। क-विचारकता, ख-अ[illegible]ता। ग-प्रमाणज्ञान।

क—विचारकता (इंकको, इंको)

किसी बातपर श्रद्धा करने के लिये उसपर विचार करना जरूरी है। यद्यपि विचारक कहलाने लायक विख्यात या ऊंचे दर्जे का विचारक बनने के लिये काफी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता की जरूरत होती है, और ये चीजें जितने ऊंचे दर्जे की होंगी, विचारकता भी उतने ऊंचे दर्जे की हो सकेगी, पर काम चलाने के लिये साधारण बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता भी काफी होसकती है। साधारण आदमी के पास जितनी विद्याबुद्धि होती है उससे अगर वह पूरा काम ले तो सत्यदर्शन के योग्य विचारकता उसमें आसकती है।

यह होसकता है कि वह कठिन भाषा न समझे, शास्त्रीय भाषा का उसे ज्ञान न हो, फिर भी हित-अहित कल्याण-अकल्याण की बात वह समझ सकता है, उसपर विचार भी कर सकता है। विचारकता में सबसे बड़ी बाधा उसके कुसंस्कार हैं। कुसंस्कार दूर होजायँ तो वह थोड़े ही श्रम से अपनी विचारता को पनपा सकता है और परीक्षक बनकर सत्यदर्शन कर सकता है।

ख—अदीनता (नोनूहो)

बहुत से लोगों में विचारकता रहने पर भी खास खास स्थानों पर दीनता के कारण परीक्षकता नहीं आने पाती। वे धर्म की, शास्त्र की, गुरु की, रूढ़ियों की परीक्षा करने में घबराते हैं, अपनी दीनता के कारण भले-बुरे की जांच भी नहीं कर पाते। इससे वे रूढ़ियों के दास बनकर रहजाते हैं।

शंका—इसे दीनता क्यों कहना चाहिये यह तो एक प्रकार का विनय है। विनय तो गुण है वह सत्यदर्शन में बाधक क्यों होगा?

समाधान—विनय गुण है और दीनता दोष। विनय गुणानुराग और कृतज्ञता का फल है और दीनता एक तरह की मानसिक निर्बलता और अज्ञान का परिणाम है। यह होसकता है कि एक ही मनुष्य दीन भी हो विनीत भी हो। दीनता के कारण वह अपनी शक्ति से अपरिचित हो और विनय के कारण दूसरे की शक्ति की गुण की उपकार की कद्र करता हो। पर विनय के लिये दीनता जरूरी नहीं है। ऐसा होसकता है और होना चाहिये कि एक मनुष्य दीन बिलकुल न हो और विनीत पूरा हो। दीनता और विनय के सम्बन्ध से मनुष्य चार तरह के होते हैं।

१—अदीन विनीत (नोनूह नाय)—जो अपनी योग्यता आदि से अच्छी तरह परिचित है, आत्मगौरव भी रखता है, झूठ-मूठ किसी से प्रभावित नहीं होता, पर साथ ही दूसरे के गुणों की पूरी कद्र करता है, उपकार के प्रति पूरा कृतज्ञ रहता है, वह अदीन विनीत है।

२—दीन विनीत (नूह नाय)—जो आदमी अपनी योग्यता आदि से जैसा चाहिये वैसा परिचित नहीं है पर दूसरे के गुणों की पूरी कद्र करता है, उससे प्रभावित होता है वह दीन विनीत है। इसमें साधारणतः एक खराबी पाई जाती है कि उसकी नम्रता ठीक आधार पर नहीं खड़ी होती, एक तरह से अज्ञान या निर्बलता पर खड़ी होती है। इसलिये अगर कभी उसके हाथ में अधिकार वैभव आदि आजाय तो उसमें विनय की प्रतिक्रिया होने लगती है। उसका विनय गुणानुराग कृतज्ञता आदि पर खड़ा होता नहीं है इसलिये दीनता हटने पर, अदीन मनुष्य के बराबर भी विनीत वह नहीं रहता। दीन विनीत, परिस्थिति बदलते ही अत्यन्त अविनीत तक हो सकता है। अदीन विनीत में ऐसी प्रतिक्रिया होने का अवसर नहीं आता, योग्यता आदि बढ़ने पर भी वह परिस्थिति के अनुसार उचित विनय का प्रायः सदा खयाल रखता है। और कृतज्ञता में तो किसी भी हालत में भी अन्तर आने का अवसर नहीं है।

३—अदीन अविनीत (नोनूह नोनाय)—यह मनुष्य घमंडी होता है। इसमें दीनता नहीं होती पर दूसरों के गुणों का उपकारों का योग्य मूल्य भी नहीं होता। आत्मगौरव की मर्यादा का सदा उल्लंघन करता रहता है।

४—दीन अविनीत (नूह नोनाय)—इसे न अपनी योग्यता का भान होता है न दूसरों की

योग्यता का। न इसमें आत्मगौरव होता है न विनय। इस दृष्टि से यह पशुता का शिकार है।

इन चार भेदों से पता लगजाता है कि दीनता और विनय अलग अलग गुण हैं। दीन मनुष्य अविनीत भी होसकता है और अदीन मनुष्य विनीत भी होसकता है। अदीनता गुण है विनय के साथ उसका विरोध नहीं है। सत्यदर्शन के लिये उसकी जरूरत है।

प्रश्न—दीनता क्या चापलूसी है? यदि नहीं, तो दीनता और चापलूसी में क्या अन्तर है?

उत्तर—दीनता अज्ञान का परिणाम है और चापलूसी वञ्चना का परिणाम है। दीनता मन की वृत्ति है जो वास्तवमें मनमें होती है और उसके अनुसार व्यवहार होता है। चापलूसी ऊपर का दाखी व्यवहार है। उस व्यवहार के अनुसार मनोवृत्ति प्रायः नहीं होती। दीनता परीक्षक बनने में बाधा डालती है। चापलूसी परीक्षक बनने में बाधा नहीं डालती, सिर्फ उसके प्रगट करने में बाधा डालती है। फिर भी ऐसा होसकता है कि एक आदमी दीन भी हो और चापलूस भी हो। इस दृष्टिसे भी मनुष्य चार भागों में विभक्त होते हैं।

१—अदीन अचाटुकार (नोनह नोरंनाय) जिसमें दीनता भी नहीं चापलूसी भी नहीं। ऐसा आदमी आत्मगौरवशाली भी होसकता है, घमंडी भी होसकता है, सज्जन भी होसकता है, दुर्जन भी होसकता है।

२—दीन अचाटुकार (नूह नोरंनाय) जिसमें दीनता हो, पर किसी को छलने धोखा देने आदिकी दुर्वासना न हो इसलिये चापलूसी न करता हो। भले ही उचित विनय करता हो।

३—अदीन चाटुकार (नोनह रंनाय) जिसमें दीनता नहीं है कदाचित घमंड भी है। लेकिन सोचता है कि इससमय तो काम निकालना है इसलिये मीठी मीठी बातोंसे और नम्र व्यवहार से, झूठी मक्खी तारीफ से काम निकाल लेना चाहिये। इस प्रकार घमंडी होकर भी जो चापलूसी करता है वह अदीन चाटुकार है।

४—दीन चाटुकार (नूह रंनाय) जिसमें घमंड नहीं है योग्य गौरव भी नहीं है और चापलूसी कर रहा है।

इन चार भेदों से दीनता और चापलूसी का अन्तर अच्छी तरह समझा जासकता है। चापलूसी छोड़देने से दीनता छूट जायगी ऐसा नियम नहीं है। दोनों को छोड़ने का अलग अलग प्रयत्न करना पड़ेगा। अदीन हो, चापलूस न हो, पर विनयी हो, यही उचित अवस्था है।

शंका—अदीनता का विनय से विरोध न होनेपर भी परीक्षा का काम अशक्य ही है। बड़े-बड़े शास्त्रकारों की या महामानवों की परीक्षा कैसे की जासकती है? अगर यह मान भी लिया जाय कि आजकल पुराने विद्वानों से बड़े विद्वान होसकते हैं, तो भी हर आदमी या ढेर के ढेर आदमी तो उतने बड़े विद्वान नहीं होसकते। फिर ऐसे अवसरों पर परीक्षकता का उपयोग कैसे किया जासकता है? दूसरी बात यह है कि परीक्षकता में महामानवों का थोड़ा बहुत अविनय तो है ही, उनकी अपेक्षा अपने व्यक्तित्व को अधिक महत्व देदेना भी एक प्रकार का अविनय है। क्या इन सब बातों के कारण परीक्षकता को उचित कहा जासकता है?

समाधान—परीक्षा अनेक तरह की होती है। किसी किसी परीक्षा में परीक्षक बड़ा माना जाता है और वह बड़ा होता भी है पर किसी किसी परीक्षा में परीक्षक बराबरी का, छोटा या अनिश्चित होता है। इसलिये परीक्षक बनने से ही किसी का अपमान न समझना चाहिये। परीक्षा के मुख्य मुख्य प्रकार बतादेने से यह बात स्पष्ट होजायगी। परीक्ष्य परीक्षक के सम्बन्ध की दृष्टि से परीक्षा पांच तरह की होती है। १-गुरुपरीक्षा, २-द्वन्द्वपरीक्षा, ३-आलोचनपरीक्षा, ४-उपपरीक्षा, ५-विनयपरीक्षा।

१-गुरु परीक्षा (बीगं विजो) जिस परीक्षा में परीक्षक गुरु या गुरु के समान व्यक्ति होता है वह गुरुपरीक्षा है। साधारणतः विद्यार्थियों की ऐसी ही परीक्षा लीजाती है।

२–द्वंद्व परीक्षा (रार्फ़ विज़ो) जो प्रतिस्पर्द्धा भाव से किसी की शक्ति योग्यता आदि की जाच की जाती है वह द्वंद्व परीक्षा है। दो पहिलवान जब कुश्ती करते हैं, दो पंडित जब एक दूसरे को जीतने की इच्छा से वादविवाद करते हैं तब द्वंद्व परीक्षा होती है।

इस द्वंद्व परीक्षा के भी दो रूप हैं। एक प्रगट दूसरा प्रच्छन्न। प्रगट द्वंद्व परीक्षा मे प्रतिस्पर्द्धा का भाव घोषित या प्रगट रहता है पर प्रच्छन्न द्वंद्व परीक्षा मे यह भाव दबा हुआ या अप्रगट रहता है। एक विद्वान के सामने कोई जिज्ञासु की तरह प्रश्न करता है पर मनमे प्रतिस्पर्द्धा का भाव रखता है, चर्चा मे प्रतिस्पर्द्धी की तरह हठ अविनय आदि का थोडा बहुत परिचय भी देजाता है, या बाहर से अपना भाव प्रगट नहीं होने देता पर भीतर प्रतिस्पर्द्धा का भाव रखता है तो उसे प्रच्छन्न द्वन्द्व परीक्षा कहते हैं।

यद्यपि अन्य परीक्षाएँ भी प्रच्छन्न परीक्षाएँ होसकती हैं पर अधिकतर द्वन्द्व परीक्षा मे ही प्रच्छन्न रूप का उपयोग होता है।

३–आलोचनपरीक्षा (कृदिव्लं विज़ो) समालोचक की हैसियत से जब किसी की कृति की जाचपरख की जाती है तब वह आलोचन परीक्षा कहलाती है। समालोचक का स्थान समालोच्य कृति के कर्ता से न ऊंचा कहा जासकता है न नीचा, न बराबरी का। सभी तरह के आदमी समालोचक होते हैं। हां! साधारणतः यह कहा जासकता है कि ग्रन्थप्रणयन की अपेक्षा उसकी समालोचना का काम नीची श्रेणी का है। समालोचक का स्थान और योग्यता किसी खास प्रसंग पर ऊंची से ऊंची होसकती है, क्योंकि साधारण श्रेणी के लेखकों की कृतियों की समालोचना कभी कभी लेखक से बहुत ऊंचे दर्जे के विद्वानों को भी करना पड़ती है फिर भी किसी ग्रन्थनिर्माण के कार्य में जितनी योग्यता अनिवार्य है उतनी योग्यता आलोचना के कार्य मे अनिवार्य नहीं है। इसलिये सिर्फ समालोचक की हैसियत से कोई बड़ा नहीं कहा जासकता, बल्कि अधिकांश मे छोटा ही कहा जासकता है।

साहित्यिक जगत मे जो बड़े बड़े पारितोषक रक्खे जाते हैं उनमें भी जो साहित्यिक कृतियो की परीक्षा की जाती है वह भी इसी कोटि की परीक्षा है। विख्यात और कभी कभी सर्वश्रेष्ठ साहित्यिकों की रचनाओ की जाच करने के लिये जो परीक्षक मण्डल बनाया जाता है उसके सदस्य पारितोषक पानेवाले से प्रायः बड़े नहीं होते, या अपवाद रूप मे ही बड़े होते हैं, इसलिये आलोचन-परीक्षक होने से कोई परीक्ष्य से महान होजाता है ऐसा नियम न समझना चाहिये। इस दृष्टि से पुराने शास्त्रों की आलोचन परीक्षा करने से परीक्षक बड़ा होजाता है और इससे पुराने शास्त्रकारो का अपमान होता है यह समझना भूल है।

व्यवहार में और भी आलोचन परीक्षाएँ होती हैं। जो जिस विषय में स्वयं कुछ नहीं कर सकता, पर उसकी जाच अच्छी तरह कर सकता है। जैसे—

गान न जाने या करें गर्धव स्वर में गान।
वे भी तो हैं जाचते तानसेन की तान॥
अगर रसोई मे सिंडे करें सब बर्बाद।
पर न जाच मे चूकते लेकर नाना स्वाद॥
सीधी रेखा खींचना जिन्हे नहीं है याद।
चित्रकला के पारखी बनते मे उस्ताद॥

इसीप्रकार—

धर्मशास्त्र निर्माण की भले नहीं हो शक्ति।
तो भी जाच न है कठिन रख विवेकमे भक्ति॥
तुम क्यो चिन्ता कर रहे क्यों बनते हो दीन।
करो परीक्षा धर्म की बनो विवेकाधीन॥

आलोचन परीक्षा के इस विवेचन से पता लगजाता है कि इस तरह की परीक्षा मे परीक्ष्य का अपमान नहीं होता, न उसपर लघुता की छाप मारी जाती है इसलिये शास्त्रों की धर्मों आदि की ऐसी परीक्षा की जासकती है।

४–उपपरीक्षा (फ़ुद्दिज़ो) जिस परीक्षा मे प्रत्यक्ष परीक्षक वास्तव मे परीक्षक नहीं होता सिर्फ उसका दूत या प्रतिनिधि मात्र होता है वह उपपरीक्षा है। इस परीक्षा मे भी परीक्षक का परीक्ष्य की अपेक्षा अधिक योग्य होने का नियम

नहीं है। उपपरीक्षा में अधिकतर प्रत्यक्ष परीक्षक की योग्यता परीक्ष्य से अल्प ही होती है।

एक आदमी किसी ग्रंथ की परीक्षा करते समय सिर्फ इस बात का विचार करता है कि वह अमुक शास्त्र से मिलता है कि नहीं? इस परीक्षा में परीक्षक की विशेष योग्यता का विशेष मूल्य नहीं है। उसे तो अमुक शास्त्र से मिलान-भर करना है। बहुतसी गणित की पुस्तकों मे विद्यार्थियों के लिये अभ्यासार्थ कुछ प्रश्न दिये जाते हैं और पुस्तक के अंत में उनके उत्तर लिख दिये जाते हैं। विद्यार्थी उस उत्तर से मिलाकर अपने सवाल की जाच करता है। पुस्तक के अन्त मे लिखे उत्तर से उसका उत्तर मिलजाता है तो अपने उत्तर को ठीक समझता है नहीं तो गलत समझता है। ऐसी अवस्था मे विद्यार्थी अपने सवाल का उपपरीक्षक है। इसीप्रकार जिस परीक्षा मे परीक्षक की योग्यता प्रमाण नहीं होती उसे उपपरीक्षा कहते हैं। ऐसी उपपरीक्षा मे छोटा आदमी भी बड़े आदमी की परीक्षा लेसकता है। उपपरीक्षक बनने से कोई परीक्ष्य से बड़ा नहीं कहलासकता है। हा! वह होसकता है कि वह अपनी योग्यता आदि से बड़ा भी हो। पर उसका बड़ापन उपपरीक्षकता पर निर्भर नहीं है।

५—विनयपरीक्षा (नार्य त्रिजो) परीक्ष्य को काफी महत्व देते हुए विनयपूर्ण मन विनय-पूर्ण वचन और शिष्टाचार के साथ जो परीक्षा कीजाती है उसे विनयपरीक्षा कहते हैं। इस परीक्षा में परीक्ष्य की सफलता में परीक्षक कहता है कि आपकी बात जचगई, असफलता में कहता है आपकी बात नहीं जची। परीक्ष्य-परीक्षक के सम्बन्ध के अनुसार भाषा में काफी विनय छलकता है। जैसे-परीक्ष्य की बात न जचने पर वह कहता है—

अभी तक आपकी बात जच नहीं पाई।

अभी तक मैं समझ नहीं सका।

आपने तो इसपर ठीक ही निर्णय किया होगा पर मेरी मन्द बुद्धि मे यह बात अभी तक आई नहीं है।

मतलब यह कि विनयपरीक्षा मे परीक्षक अपने को स्पष्ट रूप मे छोटा मानलेता है, फिर भी परीक्षा करता है। पर जब उसकी दृष्टिसे बात ठीक नहीं होती तब वह परीक्ष्य की अयोग्यता या असत्यता का उल्लेख नहीं करता किंतु अपनी अयोग्यता के शब्दों में उल्लेख करता है। वह यह नहीं कहता कि 'मैं यह बात उचित नहीं समझता' वह अनुचित समझने पर भी यही कहेगा कि 'मेरी समझमें यह बात आई नहीं'।

कोई बात किसी युगमे अच्छी थी पर आज अच्छी नहीं है, ऐसी हालतमे यह कहना कि' यद्यपि जमाना बदलजाने से आज इस बात का उपयोग नहीं है पर पुराने जमाने में यह व्यवस्था बहुत अच्छी थी, ठीक थी, धन्य है उनकी व्यवस्थापकता को' यह भी विनय परीक्षा है। इसमे नम्रता प्रशंसा के साथ किसी बात को जचकर उसे अस्वीकार किया जाता है।

इसप्रकार यह विनयपरीक्षा महान से महान व्यक्ति की भी की जासकती है, करना भी चाहिये। ऐसी परीक्षा से किसी का अविनय नहीं होता। हा! जिस व्यक्ति के साथ हमारा सम्बन्ध गुरु-शिष्य आदि का हो उसकी बात न जचने पर विनयपरीक्षा के शब्द न कहकर आलोचन परीक्षा सरीखे शब्द कहना उसका अपमान कहा जासकता है। ऐसा अपमान न करना चाहिये, पर उचित अवसर पर उपयोगिता का ध्यान रख कर विनयपरीक्षा अवश्य करना चाहिये।

परीक्षा के इन प्रकारों पर ध्यान देने [illegible] साफ मालूम होता है कि परीक्षा करने से [illegible] कार्गों का या महान से महान व्यक्ति का अ[illegible] नहीं होता। हा! उसे अपने व्यक्तित्व [illegible] परिस्थिति आदि का विचार करके आलो[illegible] परीक्षा उपपरीक्षा या विनयपरीक्षा क[illegible] चाहिये।

रहगई बात यह कि ऐसे महान व्यक्ति के सामने अपने व्यक्तित्व को महत्ता कैसे [illegible] जासकती है? और अपने को महत्ता दिये [illegible]

परीक्षा कैसे की जासकती है ?

यहां यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि अवसर की महत्ता से किसी के व्यक्तित्व को धक्का नहीं लगता। महत्ता दो तरह की होती है। व्यक्तित्व-महत्ता, और अवसर-महत्ता।

व्यक्तित्व-महत्ता (सूमोवीगो) – गुण योग्यता आदि से जो महत्ता प्राप्त होती है, जिससे मनुष्य का व्यक्तित्व बनता है और अपेक्षाकृत जो स्थायी होती है, वह व्यक्तित्व महत्ता है।

अवसर-महत्ता (चंसोवीगो)–किसी खास अवसर के लिये जो महत्ता मिलजाती है, जो स्थायी नहीं होती, वह अवसर महत्ता है। जैसे-विवाह के अवसर पर दूल्हे को जो महत्ता मिलजाती है, स्वयंवर में कन्या को जो महत्ता मिलजाती है, किसी सभा में एक आदमी को प्रमुख बनने से बैठक भर को जो महत्ता मिल-जाती है ये सब अवसर महत्ताएँ हैं। सत्यपरीक्षक को जो थोड़ी बहुत महत्ता मिलती है वह स्वयम्वर की कन्या के समान मिली हुई अवसर महत्ता है। इस अवसरमहत्ता से महान व्यक्तियों के व्यक्तित्व का अपमान नहीं होता। दुनिया में ऐसी महत्ताएँ छोटों बड़ों सभी को मिलती हैं। इसके बिना काम नहीं चल सकता। इन सब बातों का विचार कर सत्यदर्शन के लिये मनुष्य को परीक्षक बनना चाहिये, भले ही वह विनय परीक्षक ही बने। विनय परीक्षा के लिये भी अदीनता की आवश्यकता है। उसका विनय से विरोध नहीं है।

प्रमाणज्ञान (नीपोजानो)

परीक्षकता के लिये तीसरी बात है प्रमाण-ज्ञान की। बहुतसे लोग परीक्षक बनने की कोशिश करते हैं परन्तु किस प्रमाण को कितना महत्व देना चाहिये इसका ठीक ठीक ज्ञान न होने से वे सत्य परीक्षक नहीं बनपाते। कोई कोई लोग शास्त्र को इतना महत्व देदेते हैं कि उसके आगे प्रत्यक्ष या तर्क को कोई महत्व नहीं देते, कोई तर्क और तर्काभास का अन्तर ही नहीं समझते, कोई कोई अनुभव के नाम से अपनी कल्पनाओं को पेश कर दिया करते हैं। ऐसे लोग विचारकता और अदीनता रखने पर भी ठीक ठीक परीक्षा नहीं करसकते। इसलिये प्रमाण रूप में पेश की जाने वाली बातों का कहां कितना मूल्य है, यह जानना जरूरी है।

शास्त्र का उपयोग (ईनोउशो)

शास्त्र एक उपयोगी और आवश्यक प्रमाण है फिर भी पूर्ण विश्वसनीय नहीं, क्योंकि एक ही विषय पर भिन्न भिन्न शास्त्र भिन्न भिन्न कथन किया करते हैं। इसलिये शास्त्र के नाम से किसकी बात मानी जाय ? साधारणतः लोग अपनी परम्परा या अपने विशेष सम्पर्क के शास्त्रों को प्रमाण मानते हैं। पर यह तो अकस्मात् की बात है कि हम अमुक परम्परा में पैदा हुए या अमुक ग्रंथ हमारे विशेष सम्पर्क में आये। दूसरा आदमी दूसरे सम्प्रदाय में पैदा हुआ, या दूसरे ग्रंथ उसके विशेष सम्पर्क में आय इसलिये उसे दूसरे ग्रन्थ प्रमाण होंगे। यह प्रमाण न कहलाया, मोह कहलाया। इस तरह से सत्य के दर्शन नहीं होसकते।

पर अगर शास्त्र का बिलकुल उपयोग न किया जाय तो भी सत्य के दर्शन कठिन होजाते हैं। शास्त्र चिरकाल से प्राप्त हुए अनुभवों तर्कों आदि के संग्रह के समान हैं। यह होसकता है कि कोई अनुभव आदि भ्रमपूर्ण या विकृत रहे हों परन्तु उनके पीछे सब अनुभवों तर्कों आदि का उपयोग बन्द कर दिया जाय तो मनुष्य का विकास ही रुकजाय।

पुरानी पीढ़ियों के अनुभवों को शास्त्र द्वारा प्राप्त कर मनुष्य आगे बढ़ता है। अगर वह पुराने अनुभवों को शास्त्र आदि के द्वारा प्राप्त न करे और शुरू से ही स्वयं सब अनुभव करे तो हजारों वर्ष के अनुभव दुहराने में ही उसकी सारी शक्ति और जिन्दगी पूरी होजाय, आगे बढ़ने का मौका ही न मिले। विकास के लिये पुराने तथा दूसरे लोगों के अनुभवों से लाभ उठाना जरूरी है इसीसे मनुष्य शीघ्र आगे बढ़ सकेगा।

इसप्रकार शास्त्र पूर्ण विश्वसनीय प्रमाण न होनेपर भी उसका पूरा उपयोग है। जैसे न्यायालय में गवाहों का स्थान होता है उसी प्रकार सत्य के न्यायालय में शास्त्रों का स्थान है। अगर गवाहों से काम न लिया जाय तो न्याय करना कठिन है, अगर गवाहों की बात को पूर्ण प्रमाण मानलिया जाय तो परस्पर विरोधी गवाहों के वक्तव्य के कारण न्याय निश्चित करना और भी कठिन है। इसलिये बीच का निरतिवादी मार्ग यह है कि गवाहों की बात सुनी जाय और अपने विवेक से उनके सत्यासत्य की जाच की जाय, फिर न्याय दिया जाय।

शास्त्र का मतलब यह है कि अमुक व्यक्ति अमुक बात कहता है। पर दूसरे व्यक्ति दूसरी बात भी तो कहते हैं, ऐसी हालत में शास्त्रकार कितने भी पुराने या नये या महान क्यों न हों उनके कहने से ही कोई बात प्रमाण न मानी जायगी। इससे शास्त्र का या शास्त्रकार का अविनय न समझना चाहिये। यथायोग्य आलोचन परीक्षा उपपरीक्षा विनयपरीक्षा करने में अविनय नहीं होता।

शास्त्र की किसी बात को प्रमाण मानते समय हमें निम्नलिखित बातें देख लेना चाहिये।

१—वह किसी दूसरे प्रबल प्रमाण (प्रत्यक्ष या तर्क) से खण्डित न होती हो।

२—देशकाल परिस्थिति के अनुसार सम्भव मालूम हो। बहुतसी बातें आज सम्भव हैं पर पुराने जमाने में सम्भव नहीं थीं। उस समय सिर्फ कल्पना आकांक्षा अतिशयोक्ति आदि के कारण शास्त्र में लिख दी गई थीं। वे आज के युग की दृष्टि से सम्भव होने पर भी पुराने युग में सम्भव नहीं मानी जासकतीं। जैसे—रेल तार मोटर, हवाई जहाज, कपड़े आदिकी मिलें, सिनेमा, बेतार का तार, ध्वनि प्रसारण, ग्रामोफोन आदि हजारों आविष्कार आज जनसाधारण में दिखाई देते हैं, ये सब आज सम्भव हैं पर हजार दोहजार वर्ष पहिले कोई उनका चित्रण करे तो कहना चाहिये कि वह कल्पना या उस युग की आकांक्षा प्रगट कर रहा है। हां! अगर किसी बात के कोई दूसरे जबर्दस्त प्रमाण मिलें और पता लगे कि अमुक कारण से अमुक आविष्कार लुप्त होगया था तो उसको प्रमाण माना जाय। यह भी देखना चाहिये कि किसप्रकार उस युग की वैज्ञानिकता विकसित हुई थी। विकास की अन्य अवस्थाओं के विचार से भी इसमें सहायता मिल सकती है। इसप्रकार सम्भवता का विचार करना चाहिये।

३—अहितकर न हो।

जो बातें प्रत्यक्ष अनुमान से सिद्ध हैं, उनकी बात दूसरी है, वे तो मान्य हैं ही, परन्तु जिन्हें जो प्रत्यक्ष अनुमान से सिद्ध नहीं कर सकता उसके लिये शास्त्र का उपयोग है। पर ये तीन बातें देख लेना चाहिये।

प्रत्यक्षोपम शास्त्र (इन्दूर ईनो)

व्यवहार में बहुतसी चीजें ऐसी होती हैं जिन्हें हमने देखा नहीं होता पर उनकी प्रामाणिकता प्रत्यक्ष के समान होती है। जैसे बहुत से आदमी ऐसे हैं जिनने इंग्लैण्ड अमेरिका रूस चीन जापान आफ्रिका आदि नहीं देखे, भारतमें रहने पर भी बहुतों ने बम्बई कलकत्ता मद्रास आदि भी नहीं देखे, सिर्फ भूगोल की पुस्तकों में या समाचार पत्रों में पढ़े हैं, लोगों के मुँह से सुने हैं, पर इनकी प्रामाणिकता इतनी अधिक है कि इन्हें शास्त्र सरीखा विवादापन्न नहीं कह सकते। यद्यपि इनका ज्ञान बहुतों को है तो शास्त्र-ज्ञान ही, फिर भी इनकी प्रामाणिकता इतनी प्रबल और निर्विवाद है कि इन्हें प्रत्यक्ष यातर्क की कोटिमें रक्खा जासकता है। जिसे हमने प्रत्यक्ष नहीं किया किन्तु सैकड़ों ने प्रत्यक्ष किया और जिसमें अप्रामाणिकता की कोई सम्भावना नहीं है उस शास्त्र या पुस्तकीय ज्ञान को प्रत्यक्ष या तर्कके समान ही प्रबल मानना चाहिये. उसे प्रत्यक्षोपम शास्त्र कहना चाहिये।

ह। जिन बातों में यह पता लगे कि वे किसी पन्थके कारण या अन्धविश्वास के कारण

रही या लिखी जारही हैं ऐसी बातों को समझ सोचकर प्रमाण मानना चाहिये। जैसे ठंडे या गरम युद्ध के समय में एक राष्ट्र के समाचार पत्र विरोधी राष्ट्र के बारे में खूब झूठी झूठी बातें छापा करते हैं, विज्ञापनदाता लोगों को ठगने के लिये झूठी या अतिशयोक्तिपूर्ण बातें छपवाया करते हैं ये सब बातें साधारणतः तबतक प्रमाण न मानना चाहिये जब तक किसी दूसरे प्रबल प्रमाण से समर्थित न होजायँ। इसीप्रकार बहुत से लोग भूत-पिशाचों की, परलोक की स्मृति की, या और भी चमत्कारों की कहानियाँ पत्रों में छपवाया करते हैं ये सब अन्धश्रद्धा, साम्प्रदायिक पक्षपात आदि के कारण असत्य होती हैं। इन्हें प्रत्यक्षोपम शास्त्र तो किसी भी तरह नहीं कह सकते किन्तु साधारण शास्त्र कोटि में भी मुश्किल से डाल सकते हैं।

साधारण शास्त्रों की अपेक्षा प्रत्यक्षोपम शास्त्रों की प्रामाणिकता अत्यधिक या कई गुणी है।

प्रत्यक्ष का उपयोग (इन्दो उशो)

सबसे अधिक प्रबल प्रमाण प्रत्यक्ष है। बाकी दूसरे प्रमाण प्रत्यक्ष के सहारे ही खड़े होते हैं। वस्तु के साथ निकटतम सम्पर्क इसी का होता है। आँख कान नाक जीभ और स्पर्शन इन्द्रिय से जो ज्ञान होता है उसमें विवाद की कम से कम गुंजाइश रहती है। दूसरे प्रमाणों की प्रामाणिकता की अन्तिम जाँच भी प्रत्यक्ष से की जाती है।

फिर भी इसका ठीक ठीक उपयोग करने के लिये सापेक्षवाद का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। सापेक्षवाद के बिना प्रत्यक्ष को ठीक समझा भी नहीं जासकता। सूर्य और चन्द्र हमें करीब करीब बराबर दिखाई देते हैं जब कि चन्द्र से सूर्य हजारों गुणा बड़ा है। चन्द्र हमसे सिर्फ ढाई लाख मील दूर है और सूर्य करीब नव करोड़ मील दूर, इस निकट दूरी के कारण दोनों बराबर दिखाई देते हैं। बहुत से तारे सूर्य से भी हजारों गुणा बड़े हैं पर दूर होने से सूर्य से बहुत छोटे और निष्प्रभ दिखाई देते हैं। इस दूरी के कारण भूतकाल की भी घटना वर्तमान रूप होती है। सूर्य से यहां तक प्रकाश आने में करीब सात आठ मिनिट लगते हैं इसका मतलब यह हुआ कि सूर्य उदय होने के सात आठ मिनिट बाद हमें ऊगता हुआ दिखाई देता है, इसी प्रकार अस्त होजाने के सात आठ मिनिट बाद अस्त होता दिखाई देता है। इसप्रकार सात आठ मिनिट का भूत हमारे लिये वर्तमान होता है। आसमान में जो तारे हमें जिस रूप में दिखाई देरहे हैं वह उनकी वर्तमान अवस्था नहीं है किन्तु सैकड़ों हजारों वर्ष पुरानी अवस्था हमें इस समय दिखाई देरही है। वे इतने दूर हैं कि एक लाख छयासी हजार मील प्रतिसेकिण्ड के हिसाब से चलनेवाला प्रकाश यहां तक सैकड़ों वर्षों में आपाता है, इसलिये सैकड़ों वर्ष बाद हमें उनकी अवस्था दिखाई देती है।

सिर्फ आंख के प्रत्यक्ष में ऐसा अन्तर पड़ता है सो बात नहीं है, हर एक इन्द्रिय के प्रत्यक्ष में यह बात होती है। शब्द का अन्तर तो हमें तुरंत मालूम होजाता है। कई मील दूर किसी पहाड़ की चोटीसे तोप दागी जाय तो प्रकाश की गति तीव्र होने से उसका धुआँ तो तोप दागते ही दिखजायगा किन्तु उसका शब्द कई सेकिण्ड बाद सुनाई देगा क्योंकि शब्द की गति हवा में प्रतिसेकिण्ड सिर्फ १०९० फुट ही है। भिन्न भिन्न माध्यमों से शब्द के आने में काफी अन्तर पड़ता है इसलिये उसके सुनने में भी अन्तर पड़ता है। १६८२० फुट का शब्द अगर लोहेकी पटरी के माध्यम से सुना जाय तो एक सेकिण्ड बाद ही सुनलिया जायगा किन्तु वही शब्द हवा के जरिये करीब साढ़े पन्द्रह सेकिण्ड लेगा। जबकि बिजली के माध्यमसे किसी शब्द का प्रसारण किया जाता है तब हजारों मील दूर से आने पर भी एक सेकिण्ड भी नहीं लेता। इसप्रकार शब्द भी अपनी दूरी के कारण भूत वर्तमान में गड़बड़ी पैदा करदेता है।

इसके सिवाय इन्द्रियों की अपनी अपनी विशेष अवस्था का भी संवेदन पर प्रभाव पड़ता है। एक आदमी को साधारण अवस्था में सौ डिग्री की चीज कुछ गरम मालूम होगी, परन्तु जब उसे १०३ डिग्री बुखार होगा तो सौ डिग्री की चीज ठंडी मालूम होगी। साधारण अवस्था मे नीम कड़वी मालूम होती है, किन्तु सांप का विष चढ़ने पर कड़वी नही मालूम होती, और पित्त-ज्वर में दूध भी कडुआ मालूम होता है। किसी जानवर को साधारण अवस्था में भी नीम कड़वी नहीं मालूम होती। यह सब इन्द्रियों की विशेष अवस्था के कारण होता है। सापेक्षवाद का ध्यान रखने से इनकी गड़बड़ियों से बचा जाता है।

प्रत्यक्ष में सापेक्षवाद का विचार सिर्फ गति या इन्द्रिय की अवस्था के कारण ही नहीं करना पड़ता किन्तु मस्तिष्क के कारण भी करना पड़ता है, क्योंकि संवेदन का मुख्य आधार तो मस्तिष्क है। इन्द्रिय के द्वार से मस्तिष्क तक जैसी लहरें जाती हैं वैसा संवेदन होता है। पदार्थ के न होने पर भी अगर वैसी लहरें मस्तिष्क तक पहुँचें तो मस्तिष्क उस पदार्थ का संवेदन करने लगेगा। पदार्थ के बिना भी कृत्रिम रूपमें वैसी लहरे मस्तिष्क में पहुँचायी जासकती हैं इसलिये मस्तिष्क उसका संवेदन कर सकता है। चित्रपट में इसका अनुभव सदा होता है। सिनेमा के पर्दे-पर आग पानी मकान आदि कुछ नहीं होता, सिर्फ उस तरह की किरणें पर्देपर से आंखोंपर आती हैं इसलिये उन पदार्थों के न होनेपर भी उन पदार्थों का भान बहां होता है। कृत्रिमता से अन्य इन्द्रियों के विषय मे भी ऐसा किया जासकता है।

इसप्रकार प्रत्यक्ष सब से अधिक स्पष्ट, सब से अधिक साधार, इसलिये सबसे अधिक प्रमाण होनेपर भी उसकी जाच करना पड़ती है, उसके बारे में सतर्क (तर्कसहित) रहना पड़ता है। पर ऊपर जो गड़बड़ियाँ बतलाई गई हैं उनमें यदि सापेक्षवाद का ध्यान रक्खा जाय तो प्राय. सभी उलझनें दूर होजाती हैं।

अपर्याप्त कारणों से या किसी बाधा के कारण जहां भ्रम या संशय होता है वहां भी प्रत्यक्ष की जाच अन्य प्रत्यक्षों से या तर्क आदि से होजाती है।

अनुभव की दुहाई (इदो पे खूहो)

प्रत्यक्ष एक अनुभव है और परीक्षकता में अनुभव सब से बड़ी और अन्तिम कसौटी है। परन्तु कल्पना के स्वप्नों को अनुभव नही कह सकते। बहुत से लोग भूत-पिशाचों का, अलौकिक चमत्कारो का, अनुभव होने की दुहाई देकर अविश्वसनीय बातो का समर्थन करने लगते हैं। जब कि ये सब एक तरह के स्वप्न होते है। जिस तरह के विचार हमारे मन में या वासनाओं में भरे रहते हैं वे साधारणतः स्वप्न में इस तरह दिखाई देने लगते हैं जैसे प्रत्यक्ष दिखाई देते हों। ये स्वप्न सोते समय आते हैं। पर भावना की तीव्रता होनेपर जागते समय भी दिखाई देने लगते हैं। प्रेमोन्माद की अवस्था में आदमी अपने प्रिय को शून्य में ही प्रत्यक्ष के समान देखता है, और उसकी तरफ दौड़कर दीवार से या खम्भे आदि से टकराजाता है। यही वृत्ति कभी कभी तीव्र उपासकों में देखी जाती है। वे ऐसी ही तीव्र कल्पना से अपने भगवान को अपने इच्छित रूप में देखते हैं। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय के तीव्रभावुक उपासकों को भगवान या इष्ट देव भिन्न-भिन्न रूप मे दिखाई देते हैं। इसीलि- यह लोकोक्ति प्रचलित है—

जाकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी॥

भावनाओं के इस प्रबुद्ध रूप को · या प्रत्यक्ष न कहना चाहिये। ये कल्पनाएँ हैं इन कल्पित भावनाओं से एक तरह का आ. लिया जासकता है पर ये परीक्षकता की नहीं बन सकतीं।

हा! जीवन व्यवहारमें या मानव प्रकृति अभ्यास में जो अनेक प्रकार के अनुभव मिलते

अनेक प्रकारके मनुष्योंसे काम पड़नेसे मानव प्रकृति का जो विशेष ज्ञान होता है उससे मनुष्य जिस प्रकार अनुभवी बनता है, उसको प्रत्यक्ष या तर्क बराबर प्रमाण न माननेपर भी प्रामाणिकता की दृष्टि से इसका काफी मूल्य है। हां ! ऐसे अनुभव अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार कुछ भिन्न भिन्न होते हैं और सब मनुष्यों की प्रकृति भी एक सी नहीं होती इसलिये उससे प्राय: रूप से तो कोई बात कही जासकती है पर निश्चित रूप से नहीं। फिर भी इस 'प्राय.' का काफी उपयोग होता है। इसे उपमान प्रमाण कहना चाहिये। उपमान प्रमाण कार्यकारण या स्वभाव का निश्चित सम्बन्ध तो नहीं होता पर अनेक स्थानों की समानता से एक नये स्थानपर सम्भावना की जाती है जो पर्याप्त उपयोगी होती है। इसप्रकार के मानव अनुभव ठीक हैं, पर कल्पनाओं के स्वप्नों को अनुभव के नाम से न चलाना चाहिये।

तर्कप्रमाण (टिम्मेर नीपेर)

अनेक पदार्थों के निश्चित सम्बन्ध का ठीक ठीक ज्ञान तर्क है। इसका क्षेत्र विशाल है। उपयोगिता भी सब से अधिक है। यद्यपि इसका मूलाधार प्रत्यक्ष है। पर तर्क न हो तो अकेला प्रत्यक्ष कुछ नहीं कर सकता। बहुत से ज्ञानों को हम प्रत्यक्ष समझते हैं पर वास्तव में वे तर्क होते हैं। निकट और दूर का ज्ञान हम प्रत्यक्ष समझते हैं पर वास्तव में वह तर्करूप है। शिशु अपनी आंखों से अनेक दृश्य देखता है पर निकट दूर का ज्ञान उसे नहीं होता। पीछे आने-जाने या टोलने से उसे निकट दूर का ज्ञान होने लगता है, तब वह समझता है कि अमुक परिमाण का पदार्थ दूर होनेपर इतना छोटा-छोटा दिखता है। धीरे धीरे आंख में पड़नेवाले प्रतिबिम्ब के छोटे बड़ेपन के अनुसार वह निकट दूरी का ज्ञान करने लगता है। जब तक उसे यह सम्बन्ध ज्ञान तर्क नहीं होता तब तक उसे निकट दूर का ज्ञान नहीं होता। चित्र में या सिनेमा के पर्दे पर निकट दूरी के दृश्य दिखाई देते हैं वे इसी आधार पर निकट दूर समझे जाते हैं। अन्यथा चित्र में या पर्दे पर सभी [illegible] एक [illegible] रहता है। यह सब [illegible] आधार से होता है।

पर व्यवहार में हम यहां नहीं पहुँच [illegible] सकते हैं। क्योंकि कोई कोई [illegible] सूक्ष्म [illegible] ही [illegible] रहते हैं, [illegible] मिलने पर [illegible] प्रत्यक्ष रहते हैं, फिर भी व्यवहार में इसे किसी न किसी तरह से प्रत्यक्ष में शामिल किया जाता है। [illegible] इसप्रकार के [illegible] ज्ञान [illegible] अनेक प्रत्यक्षों की सहायता से पैदा होते हैं इसलिये [illegible] तर्क में शामिल करना पड़ेगा। [illegible] अनुभव का निर्णय होता है और हमारे व्यावहारिक [illegible] भी अनुभव के निर्णय हैं।

यहां [illegible] तर्क का [illegible] प्रमाण से [illegible] किया गया है। [illegible] जिन सूक्ष्म तर्कों का समावेश होता है उसे साधारण तर्क [illegible] ([illegible]) तर्क कहना चाहिये। तर्क या व्यावहारिक उपयोग है अनेक परोक्ष पदार्थों का सिद्ध करने में। मनुष्य के हाथ में सत्यासत्य निर्णय का यही सब से जबर्दस्त और [illegible] काम में आनेवाला हथियार है।

प्रत्येक धर्म का नीतिक या क्रान्तिकारी, तर्क के बलपर अपने विचार जनता के सामने रखता है। शास्त्रों को यह महत्व नहीं देता, क्योंकि शास्त्र किसी पुराने जमाने के सन्देश होते हैं इसलिये बदले हुए युग के लिये उनकी थोड़ी बहुत बातें पुरानी होजाती हैं, तब असली सहायक तर्क रहजाता है। शास्त्र भी तर्क के कहने से जानकर काम में लिया जाता है। ठीक भी है। हरएक के अपने अपने शास्त्र हैं, एक के शास्त्र को दूसरा प्रमाण नहीं मानता, तब सत्यासत्य का निर्णय तर्क से ही किया जासकता है। अन्त में शास्त्रों की दुहाई देनेवाले को अपने शास्त्र के बारे में भी तर्कसंगतता की दुहाई देना

पड़ती है। इसलिये कहना चाहिये कि तर्क ही प्रबल और व्यापक प्रमाण है।

परन्तु बहुत से लोग तर्क को तब तक मानते हैं जब तक वह उनकी मान्यताओं का समर्थक होता है। जब तर्क उनकी मान्यताओं का खण्डन करने लगता है तब वे तर्क की निन्दा करने लगते हैं और भावना की दुहाई देते हुए कहने लगते हैं—"उँह! तर्क से क्या होता है, वह तो बुद्धि का खेल है जैसा बनाओ बनजाता है, मानवी बुद्धि परिपूर्ण नहीं है। आज एक तर्क से एक बात सिद्ध होती है कल दूसरे तर्क से वह खण्डित होजाती है, असली और दृढ़ वस्तु तो भावना और श्रद्धा है। तर्क तो भावना का दास है, भावना स्वामिनी है, क्योंकि जीवन के सारे काम भावना के अनुसार होते हैं। तर्कशास्त्री महीनों में जो बात ढूढ़ नहीं पाते वह भावुक और श्रद्धालु दिनों में ढूढ़जाते हैं। तर्क का क्षेत्र सीमित है और उसके निर्णय अस्थिर हैं। भावना का क्षेत्र असीम है, सीधा है और उसमें स्थिरता है।"

इसप्रकार तर्क का विरोध करनेवालों को निम्नलिखित बातों पर विचार करना चाहिये।

१—अन्दाज बाँधना या अपनी बात के समर्थन में कोई उपमा देदेना तर्क नहीं है। तर्क कार्यकारण या वस्तुस्वभाव के नियत सम्बन्ध पर अवलम्बित रहता है। तर्क के दृष्टान्त में भी साध्यसाधन का नियत सम्बन्ध स्पष्ट होता है, इसलिये तर्क के निर्णय उच्छृंखल या अस्थिर नहीं कहे जासकते। तर्क किसी प्रमाण का विरोध नहीं करता। जहां उसकी गति नहीं होती वहां अपने आप अटक जाता है। जैसे—विश्व कितना बड़ा है इस प्रश्न का उत्तर तर्क अभी नहीं देसकता क्योंकि अर्बों खर्बों मीलों से जो प्रकाश आता है उससे सिर्फ इतना ही मालूम होता है कि अर्बों खर्बों मीलों तक विश्व है परन्तु ऐसा कोई चिन्ह नहीं मिलता जिससे उसके बाद अनन्त क्षेत्र तक शून्यता का पता लगे इसलिये तर्क विश्व की सीमा बताने में अक्षम कहा जासकता है। परन्तु क्षेत्र (जगह) काल को वह अनन्त सिद्ध कर सकता है। क्योंकि ऐसी कोई जगह नहीं है जिसके बाद जगह न हो, ऐसा कोई समय नहीं है जिसके बाद समय न हो, इसप्रकार तर्क उन्हें अनन्त सिद्ध करदेता है। इस प्रकार तर्क जहां निश्चित रूप से खंडन कर सकता है वहां खंडन कर देता है, जहां मंडन कर सकता है वहां मण्डन कर देता है, जहां उसकी गति नहीं होती अर्थात् जहां किसी बात का साधक हेतु नहीं मिलता वहां चुप रहजाता है। जिस चाहे को सिद्ध कर देना, और जिस चाहे को अप्रमाणित कहदेना या कैसा भी बकवाद करने लगना यह सब तर्क नहीं है। हां! कभी कभी कोई विशेष बुद्धिमान आदमी तर्काभासों का प्रयोग कर सत्य को असत्य और असत्य को सत्य सिद्ध कर सकता है पर यह बात कभी कहीं ही सम्भव है, वह टिकाऊ नहीं होती। सब आदमियों को सब जगह चिरकाल तक धोखा नहीं दिया जासकता। सच्चा तर्क हो तो कम प्रतिभाशाली भी अपने से अधिक प्रतिभाशाली को परास्त कर सकता है। हां! कभी कभी सत्य के एक एक अंश को लेकर दो पक्ष लड़ने लगते हैं, तर्क दोनों सत्यांशों का समर्थन करता है, इसलिये तर्क विरोधी लोग तर्क को अस्थिर कहदेते हैं पर इसमें तर्क का अपराध नहीं होता। वह तो दोनों सत्यांशों को साबित करता है। ऐसे अवसर पर तर्क को गाली न देकर दोनों का समन्वय कर सत्य प्राप्त करना चाहिये। तब तर्क में उच्छृंखलता अस्थिरता न मालूम होगी।

२—कभी कभी एक तर्क से निश्चित की हुई बात दूसरे तर्क से कट जाती है पर उसका मुख्य कारण यह है कि पहिले मनुष्य तर्क के साथ कुछ कल्पना का मिश्रण कर जाता है इसप्रकार तर्क और कल्पना को मिलाकर एक निर्णय करता है और उसे तर्क का निश्चय समझ लेता है। बाद में जब वह कल्पना का अंश कटता है तो लोग कहने लगते हैं कि तर्क कटगया। पर यह अपराध तर्क का नहीं है किन्तु तर्क के साथ कल्पना के मिश्रण का है। जैसे—जब लोगों ने देखा कि पदार्थ पृथ्वीतल के ऊपर गिरता है

तब उस जमाने के लोगों ने निर्णय किया कि पदार्थ में गुरुत्व नामका एक धर्म है जिसमें चीज नीचे गिरती है। इस निर्णय में तर्क के साथ कल्पना का मिश्रण था। पदार्थ ऊपर से नीचे अर्थात् पृथ्वी की ओर आता है इसका एक कारण यह कहा जासकता था कि पदार्थ में गुरुत्व धर्म हो, दूसरा यह कहा जासकता था कि पृथ्वीमें आकर्षणशक्ति हो। यहां तर्क का काम इतना ही था कि दोनोंमें या दोनोंमें से किसी एक में किसी शक्ति या धर्मका सद्भाव सिद्ध करदे। परन्तु पुराने तार्किकों ने इस सामान्य निर्णय के साथ विशेष कल्पना को मिलाकर गिरनेवाली वस्तुमें ही गुरुत्व धर्म मानलिया जब कि इसकेलिये उनके पास विशेष तर्क नहीं था। बाद में जब विशेष खोज हुई तब यही मालूम हुआ कि गुरुत्व नामका कोई धर्म नहीं है, प्रत्येक भौतिक पदार्थ (मेटर-Matter) में आकर्षण शक्ति है जिससे वे एक दूसरे को खींचते हैं। पृथ्वी विशाल पिंड होने से वह छोटे पिंडों को अपनी ओर खींच लेती है। इसीका नाम गिरना है। इस नये सिद्धान्त ने पुरानी बात का खंडन कर दिया परन्तु पुरानी बातमें जितना तर्क का अंश था उसका खंडन नहीं किया। तर्क के साथ जो कल्पना के द्वारा विशेष निर्णय किया गया था उसीका खंडन किया गया।

इसीप्रकार दिनरात का भेद देखकर मनुष्य ने सूर्य के गमनकी कल्पना की, परन्तु यहां भी तर्क में कल्पना मिली। तर्क ने तो सिर्फ इतना ही निर्णय किया कि दोनों में कुछ अन्तर पड़ता है। वह अन्तर सूर्य की गति से भी होसकता है, पृथ्वी की गतिसे भी होसकता है, दोनों की गति से भी होसकता है। तर्क ने तो सिर्फ सामान्य गति और अन्तर को सिद्ध किया। यह अन्तर किसकी गति से पैदा होता है इसकेलिये विशेष हेतु की आवश्यकता थी जोकि उस समय मिला नहीं, इसलिये विद्वानों ने कल्पना से सूर्यको चल मानलिया। पीछे इस बातका खंडन होगया परन्तु इसे तर्क का खंडन न समझना चाहिये। तर्क ने जो अन्तर सिद्ध किया था वह तो आज भी सिद्ध है। अन्तर के कारणों के विषयमें जो तर्कहीन कल्पना की गई थी बस उसका खंडन हुआ है।

इसप्रकार जो कुछ मान्यताएं हैं कल्पनाओं की हैं, अर्थात् विशेष रूप में से कल्पित सम्भावना के आधार पर किसी एक बातको मानलिया है। इसे तर्क की मान्यता नहीं कह सकते।

३—विश्व का पूरा रहस्य मनुष्य आज तक नहीं जानपाया और भविष्यमें जान पायगा इसकी कोई सम्भावना नहीं। हां ! उत्तरोत्तर अधिक रहस्य का पता वह लगाता जायगा। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक है कि पुराने ज्ञान में कुछ भूल का पता लगे इसलिये उसमें थोड़ा बहुत परिवर्तन करना पड़े। यह तो सत्य की प्राप्ति का और विकास का मार्ग है। इसे तर्क का या विज्ञान का दोष नहीं कह सकते, बल्कि अमुक दृष्टि से गुण भी कह सकते हैं। किसी पुराने रूपपर अन्धभक्त बनकर बैठजाने से स्थिरता तो प्राप्त होती है पर सत्य प्राप्त नहीं होता। कल के तर्कसे यदि आज का तर्क आगे बढ़ा है और कुछ बदला है तो उसका अर्थ यही है कि कल का तर्क सत्य से कोसभर दूर था, तो आज का तर्क मीलभर या फर्लांगभर दूर है किंतु पुराना रूप तो योजनों दूर था। अस्थिरता के नामपर सत्यके मार्ग से आगे बढ़ने से डरना और पुराने रूप से चिपटे रहना तो स्थिरता के नामपर जीवन से डरना और मौतसे चिपटे रहना है। कोई बालक जवानी की ओर बढ़ेगा तो उसकी आज की बहुतसी चीजें बेकार होती जायगी, अगर स्थिरता के नामपर ममी की तरह उसे मसाले में पोतकर रख दिया जाय तो सैकड़ों वर्ष स्थिर रहेगा, क्या इसीलिये बालक का जवान बनने की अपेक्षा ममी बनजाना अच्छा कहा जासकता है ?

एक दिन मनुष्यने पृथ्वी को अचला कहा, और सूर्य को उसके चारों ओर घूमता माना, कालान्तर से मनुष्य को विशेष ज्ञान हुआ, उसका मत बदला तब उसने गुरुत्वाकर्षण मानकर

पृथ्वी को सूर्य के चारों ओर घूमती हुई माना, इस प्रकार मनुष्य सत्य के मार्ग में आगे बढ़ा। अब होसकता है कि कल गुरुत्वाकर्षण के बदले किसी दूसरे सिद्धान्त का पता लगे, इससे वे उलझनें भी सुलझजायँ जो गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से नहीं सुलझ पातीं तो यह सत्य के और निकट पहुँचना कहलायगा। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त कदाचित् आगामी कल के सिद्धान्त दृष्टि से असत्य कहाजासके पर भूतकाल के अचला और चपटी पृथ्वी के सिद्धान्त से तो हजार गुणा सत्य है। इसलिये सत्य की खोज में स्थिर होने के कारण भावना का कल्पना का या श्रद्धा का मूल्य बढ़ नहीं जाता. और अस्थिरता के कारण तर्क का मूल्य घट नहीं जाता। स्थिरता-अस्थिरता का विचार छोड़कर देखना यही चाहिये कि सत्य के अधिक निकट कौन है और किसके जरिये पहुँचा जासकता है। कल्पना या भावना के जरिये सत्य की तरफ गति नहीं होती या नाममात्र की होती है, किन्तु तर्क के जरिये उससे हजारों गुणी होती है।

४-कुछ लोग तर्क के विरोधी इसलिये हो जाते हैं कि उससे उनके धर्म का खण्डन होने लगता है। धर्मपर तो उनका अटल विश्वास होता है और उसे कल्याणकर समझते हैं इसलिये जब तर्क उसका भी खण्डन कर देता है तब वे तर्क के निन्दक बनजाते हैं। पर इस विषय में उनकी भूल यह होती है कि वे धर्म और धर्म के बाहरी उपकरणों के भेद को भूल जाते हैं। समाज के जीवन को सुखमय बनाने की स्वेच्छा-प्रधान व्यवस्था का नाम धर्म है। धर्म के खंडन के नामपर इसका खण्डन प्रायः नहीं किया जाता। किन्तु इस व्यवस्था को टिकाने के नामपर जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालनेवाली कल्पनाएँ की जाती हैं उनका खण्डन किया जाता है। जैसे— हिन्दूधर्म के खण्डन के नामपर उसके पितृलोक आदि की व्यवस्थाएँ, पौराणिक कथाएँ आदि खण्डित की जाती हैं, जैनधर्म के नामपर उसके लाख योजन के ऐरावत हाथी, जम्बूद्वीप आदि की विचित्र कल्पनाएँ, समवशरण आदि के वर्णन आदि खण्डित किये जाते हैं, ईसाई-धर्म के नामपर ईसामसीह मनुष्य पिता के बिना कैसे पैदा हुए आदि बातों का खण्डन किया जाता है, इसलाम के नामपर जन्नत बहिश्त हूरें गिलमें आदि का खण्डन किया जाता है। इन सब खण्डनों से वास्तविक धर्म का खण्डन नहीं होता। ये तो धर्म के उपकरणमात्र हैं। जिस ज़माने में जहां जिन लोगों में तर्क इतना प्रबल नहीं था वहां इनका उपयोग कर लिया गया, आज तर्क बढ़गया तो इन्हें हटा देना चाहिये, दूसरे उपकरण दूसरे ढंग से लाना चाहिये इससे धर्म के प्राण न निकलेंगे।

दूसरी बात यह भी है कि धर्म देशकाल के अनुसार मानव जीवन की चिकित्सा करता है। देशकाल बदल जानेपर चिकित्सा की औषध बेकार होसकती है, अब अगर तर्क उसे बेकार सिद्ध करता है तो उससे क्यों घबराना चाहिये? धर्म ने अपने देशकाल के अनुसार काफी काम किया, उसके दृष्टिकोण के अनुसार अगर आजका देशकाल देखकर कुछ अदलबदलकर काम करना पड़े तो इससे धर्म का क्या नुकसान है? तर्क तो इस काम में उसे सहायता देता है, युगसत्य के पास लेजाता है, इस कारण तर्क से द्वेष क्यों करना चाहिये?

५-थोड़ा बहुत धोखा खाने की सम्भावना हरएक प्रमाण में है। सब से जबर्दस्त प्रमाण जो प्रत्यक्ष कहा जाता है उसमें भी मनुष्य धोखा खा जाता है। साप को रस्सी या रस्सी को साप समझता है। सौर जगत् की दृष्टि से स्थिर सूर्य को चलता हुआ देखता है। सूखी बालू में पानी का ज्ञान कर जाता है, इत्यादि। इसीप्रकार कभी कभी मनुष्य में तर्क भी धोखा खाजाता है। पर प्रत्यक्षमें धोखा खानेसे जिसप्रकार हर प्रत्यक्ष अप्रमाण नहीं मानता प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास का भेद करता है उसी प्रकार अगर तर्क में धोखा खाजाय तो उसे भी अप्रमाण नहीं मानना चाहिये। तर्क और तर्काभास का भेद करना चाहिये। तर्क को प्रमाण और तर्काभास को अप्र

माण मानना चाहिये।

६-यद्यपि कहीं कहीं तर्क की जांच प्रत्यक्ष से करना पड़ती है परन्तु उससे भी अधिक तथा महत्वपूर्ण स्थानों में प्रत्यक्ष की भी जांच तर्क से करना पड़ती है। क्योंकि प्रत्यक्ष तो किसी एक जगह और एक काल में होता है इसलिये उसमें धोखा खाने की सम्भावना अधिक है परन्तु तर्क तो सैकड़ों प्रत्यक्षों के आधार पर खड़ा होता है, वे प्रत्यक्ष सैकड़ों स्थानों के और सैकड़ों समयों के होने से काफी अजमाये हुए होते हैं इसलिये उनके आधार से जो निर्णय होता है वह काफी विश्वसनीय, किसी एक समय के प्रत्यक्ष से भी विश्वसनीय होता है।

७-भावना और श्रद्धा का स्थान काफी ऊंचा है, पर भावना और कल्पना को एक न समझना चाहिये। भावना और श्रद्धा कल्पना का भी सहारा लेसकती है और तर्क आदि का भी सहारा लेसकती है। भावना और श्रद्धा को सम्राज्ञी के समान समझना ठीक है क्योंकि मानव जीवन की गति भावना और श्रद्धा के अनुसार होती है, पर तर्क को उसका दास न समझना चाहिये किन्तु मन्त्री समझना चाहिये। दास का काम मालिक की इच्छा के अनुसार नाचना होता है, जब कि मन्त्री का काम मालिक के हित के अनुसार सलाह देना होता है। मानना न मानना मालिक के हाथ में है। परन्तु मालिक का अधिकार विशेष होने से मन्त्री की विशेष योग्यता उसे नहीं मिलजाती। इसलिये निर्णय करने में तर्क को प्रधानता देना चाहिये।

८-यद्यपि कल्पना का स्थान तर्क से विशाल है परन्तु उसमें प्रामाणिकता न होने से उसका मूल्य तर्क के सामने न कुछ के समान है। कल्पना में तथ्यातथ्य का विवेक नहीं रहता, सिर्फ अपनी आशा को पूर्ण करने की इच्छा रहती है। जैसे सपने में अमृत पीने की अपेक्षा वास्तविकता का साधारण भोजन अधिक मूल्यवान है उसी तरह कल्पना के स्वर्गों की अपेक्षा तर्क की वास्तविकता अधिक मूल्यवान है। कल्पना के द्वारा मनुष्य भूत भविष्य, यहां वहां लोक परलोक आदि के मन चाहे निर्णय कर सकता है भोले लोगों पर धाक जमाने के लिये उन्हें अनुभव दिव्यज्ञान, योगजज्ञान, अलौकिक प्रत्यक्ष, केवलज्ञान आदि नाम देसकता है, पर सत्य के मार्ग में इनका मूल्य कुछ नहीं के बराबर है।

सत्य खंडित नहीं होसकता। पर ये अलौकिक कल्पनाएँ खंडित होजाती हैं। उदाहरणार्थ कुछ लोगों ने यह कल्पना की कि एक मनुष्य अनादि अतीत काल की सब अवस्थाएँ जान लेता है और एक साथ जान लेता है। तर्क ने कहा कि भूतकाल की सब अवस्थाएं तभी जानी जा सकती हैं जब क्रमवर्ती सब अवस्थाओं में से सबसे पहिली अवस्था जानली जाय, परन्तु पदार्थ अनादि होने से उसकी सब से पहिली अवस्था मानी नहीं जासकती तब जानी कैसे जायगी. इसीप्रकार पदार्थ की अंतिम पर्याय कोई मानी नहीं जासकती. तब उसे भी कोई नहीं जान सकता तब भूत-भविष्य की दृष्टि से कोई पूर्ण पदार्थ को कैसे जान सकता है इसप्रकार ऐसी सर्वज्ञता मिथ्या है। ऐसी झूठी बातों को अन्धश्रद्धा आदि के कारण ठिका भले ही लिया जाय पर वास्तव में ऐसी बातें दुनिया की बड़ी से बड़ी झूठ हैं।

इसीप्रकार विश्वरचना आदि की बहुतसी बातें हैं जिन्हें लोगों ने दिव्यज्ञान आदि के नाम से मानलिया है पर तर्क ने उनका अनेक तरह से खंडन कर दिया है। तर्क से खंडित होनेपर भी किसी बात को अनुभव या प्रत्यक्ष कहना गलत है, वे सिर्फ कल्पनाएँ हैं।

बहुत से लोग इन कल्पनाओं को अनुभव आदि का विषय कहकर कहा करते हैं कि ये बातें तर्कका विषय नहीं हैं। पर यदि ये तर्कके विषय न होतीं तो तर्क से खंडित कैसे होजातीं। आश्चर्य तो यह है कि जो बात अनुभव के क्षेत्रके बाहर है उसे तो अनुभव का विषय कह दिया जाता है और जिसका तर्क से खंडन होजाता है उसे तर्क

के बाहर कहदिया जाता है। एक आदमी मनमें कुछ विचार रहा है, हम उसकी विचारधारा को उसके अनुभव का विषय कहदे, सम्भवतः कोई बाह्यचिन्ह न मिलने से तर्क का अविषय कहदे तो यह ठीक है परन्तु भूत भविष्य तथा अत्यन्त दूर आदि के कारण परोक्ष वस्तुओं को, जिनके प्रत्यक्ष करने का कोई साधन ही न हो, और जिनके विषयमें भिन्न-भिन्न लोगों या मतों की भिन्न-भिन्न मान्यता के कारण कल्पना के सिवाय जिनका कोई कारण समझमें न आता हो, उन्हें अनुभव के नामपर कैसे माना जासकता है! और तर्क से खंडित होजानेपर भी तर्क क्षेत्र के बाहर कैसे कहा जासकता है। मतलब यह कि ये सब कल्पनाएँ हैं। तर्क के आगे इनका कोई मूल्य नहीं। इनके आधारपर कोई भावना या श्रद्धा खड़ी होगी तो उसका भी मूल्य तर्क के आधारपर खड़े होने की अपेक्षा नहीं के बराबर होगा।

सत्य की दृष्टि से जिसका मूल्य न हो, उसका क्षेत्र यदि विशाल हो, निर्णय शीघ्र से शीघ्र हो तो भी किस कामका? क्योंकि वास्तव में तो वह शून्य के बराबर ही हुआ।

९—कल्पनाएँ तो अप्रामाणिक हैं उनकी बात छोड़ दी जाय, इसके बाद बाकी सब प्रमाणोंमें तर्क का क्षेत्र विशाल है। यद्यपि सभी ज्ञानों का मूल प्रत्यक्ष है इसलिये तर्क का मूल भी प्रत्यक्ष है परन्तु प्रत्यक्ष भूत-भविष्य के तथा देशान्तरित पदार्थों को नहीं जानसकता, जब तर्क उन्हें जानसकता है इसलिये विषयकी दृष्टिसे तर्क प्रत्यक्ष से भी विशाल है। यों कहना चाहिये कि वह प्रत्यक्षों का फैला हुआ प्रकाश है।

१०—तर्क की महत्ता बतलाने का मतलब यह नहीं है कि श्रद्धा की महत्ता कम की जाय। तर्क और श्रद्धा दोनों ही जीवन के लिये अत्युपयोगी हैं। इतना ही नहीं अगर सत्येश्वर के मार्ग में चलना चाहे तो दोनों का परस्पर सहायक होना आवश्यक है। अन्यथा तर्कहीन श्रद्धा अन्धश्रद्धा होने के कारण कुछ काम न कर सकेगी बल्कि कुपथ में लेजायगी, और श्रद्धाहीन तर्क कोरी कसरत होगी। इसलिये जरूरत इस बात की है कि कल्पना, या रूढ़ि आदि के आधारपर श्रद्धा को खड़ा न किया जाय उसे तर्क के आधारपर खड़ा किया जाय। हां! यथाशक्य तर्क का उपयोग करने के बाद मनुष्य को श्रद्धा का सहारा अवश्य लेना चाहिये। क्योंकि श्रद्धा की स्थिरता के बिना ज्ञान का उपयोग नहीं होता।

११—कल्पना भावना सम्भावना अनुभव तर्क श्रद्धा इन शब्दों का ठीक ठीक अर्थ उनका उपयोग आदि जान लेने से इस प्रकरण को समझने में बहुत सुभीता होगा।

कल्पना [फुंडो] इसका वस्तुस्थिति से सम्बन्ध नहीं होता, संस्कार में जमे हुए चित्रों को रुचिके अनुसार जोड़ तोड़कर या गुणाकार कर इसका निर्माण किया जाता है। सत्य के मार्ग में इसका कोई उपयोग नहीं।

भावना [भावो] यह एक विचार है जो कल्पना सरीखा निराधार नहीं है, पर प्रमाण के आधारपर भी नहीं खड़ा है। इच्छा या रुचि को प्रगट करता है

सम्भावना (मांचो) यह तर्क का हल्का रूप है। इसमें किसी न किसी हेतु से किसी बात के होने की आशा की जाती है। तर्क के समान निश्चित सम्बन्ध न होने से इसपर पूरा विश्वास तो नहीं किया जासकता पर आधे से ज्यादा किया जासकता है। कभी कभी इसका नियत सम्बन्ध ऐसा अव्यक्त होता है कि शब्दोंमें नहीं कहा जासकता।

अनुभव [इकिंचे] इसका अर्थ है बार-बार की घटनाओं से कुछ विचारपूर्ण शिक्षा लेना। साधारण अनुभव करने से यहां मतलब नहीं है। जिससे मनुष्य अनुभवी कहलाता है उसीसे यहां मतलब है। यह सम्भावना से भी अधिक प्रामाणिक है। तर्क के पहिले नाना प्रयोगोंसे जो अनुभव होता है उसीसे तर्क को जीवन मिलता है।

तर्क (हम्मो) अनुभवों के आधार से पदार्थों के परस्पर सम्बन्धों का जब पूर्ण निश्चय होजाता है तब तर्क होता है । इसकी प्रमाणता ऊपर की सब बातों से अधिक है।

श्रद्धा (श्राशो) यह विचार की ऐसी स्थिरता है जिसके सहारे मनुष्य विचार को कार्यपरिणत करने के लिये निःशंक बढता है। इसका अधिकार सब से अधिक है। यह कल्पना भावना सम्भावना अनुभव तर्क प्रत्यक्ष आदि किसी का सहारा लेसकती है । यह जिसका सहारा लेगी उसीके अनुसार कार्य किया जायगा । इसलिये इसका अधिक से अधिक महत्व है। श्रद्धा न हो तो तर्क भी बेकार होगा, श्रद्धा हो तो कल्पना के भी अनुसार प्रवृत्ति होने लगेगी भले ही उसका फल कुछ भी न हो, इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि श्रद्धा को अधिक से अधिक प्रामाणिक आधारपर खड़ा किया जाय।

इन ग्यारह वक्तव्यों से तर्क के ऊपर काफी प्रकाश पड़ता है। कल्पना से उसका भेद, उसकी स्थिरता, श्रद्धा से अनुकूलता आदि बातों का पता लग जाता है। इस विश्वकी समस्याओं को सुलझाने के मार्ग में बढ़ानेवाला तर्क ही है। प्रत्यक्ष तो रास्ते में गड़े हुए मील के पत्थरों की तरह हमें सूचना ही देता है। बाकी सब काम तर्क का है। इसलिये तर्क का स्थान विशाल है । यह हजारों प्रत्यक्षों का निचोड़ होने से अधिक उपयोगी है। अन्धश्रद्धा के कारण या प्राचीनता के कारण अपनी पुरानी मान्यताओं को सुरक्षित रखने के लिये तर्क का विरोध न करना चाहिये।

इस प्रकार प्रमाण ज्ञान से मनुष्य को परीक्षकता की कसौटी हाथ लगती है । प्रमाण ज्ञान न हो तो प्रमाणों के बलाबल का पता न लगे और उसके बिना मनुष्य निर्णय न कर सके, इसलिये प्रमाणों के वास्तविक स्वरूप, उनका बलाबल, अवसरपर उनकी उपयोगिता आदि को समझकर परीक्षक बनना चाहिये।

इसप्रकार विचारकता, प्रवीनता और प्रमाणज्ञान के सहयोग से मनुष्य को परीक्षक बनकर सत्येश्वर का दर्शन करना चाहिये।

३—समन्वयशीलता (शचेरो)

निष्पक्षता और परीक्षकता के द्वारा मनुष्य को सत्यदर्शन की सामग्री मिलजाती है। परन्तु उस सामग्रीका तब तक ठीक ठीक उपयोग नहीं हो सकता जब तक उसमें समन्वयशीलता न हो। मकान बनाने की सब सामग्री किसी के पास हो, पर किस सामान का कहां कैसा उपयोग है इस बात का पता न हो, तो सब सामग्री रहते हुए भी मकान न बनेगा । यह बात ज्ञानसामग्री के बारे में भी है। प्रमाणों के द्वारा ठीक ठीक जानकारी होजाने पर भी किस सामग्री का कब कहां कैसा उपयोग है यह पता न हो तो ज्ञानसामग्री भी सफल न होगी । समन्वयहीन जानकारी में तथ्य होसकता है पर सत्य नहीं। समन्वय के द्वारा तथ्य सत्य बनजाता है, अर्थात् कल्याणकारी बनजाता है। समन्वय सत्यांशों को ठीक रूप में मिलाकर कल्याणोपयोगी चीज तैयार कर देता है। झूठी सच्ची बातों को किसी तरह मिला देने का नाम समन्वय नहीं है वह तो समन्वयाभास (निशत्तो) है। सत्यांश को ठीक तौर से यथास्थान बैठाकर, सत्य का अंग बनाकर, कल्याणोपयोगी बनादेना ही समन्वय है।

समन्वय करते समय समन्वयाभास (निशत्तो) से बचते रहना चाहिये। इसलिये साधारण रूप का और परिस्थिति विशेष का विचार करना आवश्यक है। कोई चीज ऐसी होती है जो सामान्यरूप में कल्याणकारी है और जिस अवसरपर उसका उपयोग किया जारहा है उस अवसरपर भी कल्याणकारी है इसे उभय-कल्याणकारी, उभय-सत्य, कहना चाहिये। जैसे उसका समन्वय उभय-समन्वय (दुम शत्तो) कहलायगा। मैत्री धर्म है। साधारणत. मैत्री धर्म है और जिस आदमी से हमें मैत्री करना है वह भी मैत्री का पात्र होने से उसकी मैत्री से स्वपर-कल्याण होनेवाला है इस

दृष्टि से यह अवसर पर भी सत्य है, इसलिये इसे उभय-सत्य (दुमसत्य) कहेंगे।

पर ऐसे भी अवसर आते हैं जब कोई सामान्यसत्य किसी विशेष परिस्थिति में असत्य (अकल्याणकारी) होजाता है। जैसे मैत्री करना सामान्य सत्य है पर किसी ऐसे दुर्जन से मैत्री कीजाय जिसकी संगति से चरित्रपतन की सम्भावना हो तो ऐसी मैत्री असत्य होजायगी। ऐसी अवस्था में मैत्री का सामान्य रूप में ही समन्वय (पॅलिमशत्तो) किया जासकता है उस विशेष अवसर पर नहीं।

कभी कभी ऐसे अवसर भी आते हैं जब सामान्य रूप में अकल्याणकारी बात विशेष अवसरपर कल्याणकारी होसकती है। जैसे अभिमान करना अकल्याणकारी है पर जो व्यक्ति अत्यन्त घमण्डी और नम्रता का दुरुपयोग करनेवाला हो, उसके सामने आवश्यक घमण्ड बताना सत्य है इसलिये इसे सामान्य सत्य न कहकर अवसर-सत्य कहना चाहिये। इसका समन्वय अवसर-समन्वय (चसशत्तो) कहा जायगा।

जो जिस रूप में सत्य है उसका उसी रूपमें समन्वय करना चाहिये। अन्य रूप में समन्वय करना मिशत्तो (मिथ्या समन्वय) है।

जो बात सामान्य रूप में भी असत्य हो और जिस अवसरपर उसका उपयोग होरहा है उस रूप में भी असत्य हो उसका समन्वय करना अनुचित है। जैसे जातिपाँति मानना सामान्य रूप में असत्य है और आजकल भी अकल्याणकारी है इसलिये आज उसका समन्वय नहीं किया जासकता।

कभी कभी किसी चीज का समन्वय मात्रा के आधार से होता है। अमुक मात्रा में किसी बात से लाभ होता है अधिक मात्रा से नुकसान होता है। लाभप्रद मात्रा को समन्वय मात्रा (शत्तो उंटो) कहते हैं। जैसे भोजन करना अच्छा है पर पचने की शक्ति से अधिक कर लिया जाय तो हानिप्रद होजायगा। इसी तरह वत्सलता मैत्री दया आदि की भी बात है। मात्रा से अधिक होनेपर जीवन में इनका समन्वय नहीं होपाता है।

ऊपर जो वस्तुओं का समन्वय बताया गया है उसमें परिस्थिति का विचार मुख्य है इसलिये यह समन्वय पारिस्थितिक समन्वय (लंजिज्र्ज-शत्तो) कहलाया। समन्वय का यही तरीका श्रेष्ठ है। इस समन्वय को भुलाकर हम ऐतिहासिक घटनाओं को ठीक ठीक नहीं समझ सकते। जिन दिनों अन्न पैदा न होता हो, जंगलों को मिटाकर काफी मात्रा में खेती के लिये जमीन न निकाली गई हो, जंगली जानवरों के कारण खेती की रक्षा अशक्य साय हो, उन दिनों लोग जंगली जानवरों को मारते हों यह स्वाभाविक है। पर जब परिस्थिति बदलजाय जमीन काफी हो, अन्न काफी हो, जंगली जानवरों का उपद्रव न हो तब जानवरों को मारना अनुचित है। इन परिस्थितियों को भुलाकर हम एक परिस्थिति में रहकर अपनी परिस्थिति को कसौटी बनाकर दूसरी परिस्थिति के कार्यों की निन्दा करें तो यह अज्ञान कहा जायगा। पारिस्थितिक समन्वय से सत्य का दर्शन होता है। इसके कारण हम दूसरे युग के सत्य की न निन्दा करते हैं, न उसका अन्धानुकरण (नोलुकं लुचो) करते हैं न अपने युग के सत्य को भुलाते हैं।

कुछ लोग वस्तु या अर्थ को भुलाकर शब्दों को पकड़कर समन्वय का ढोंग करते हैं। वे शब्दों का अर्थ बदलकर प्रकरण-संगत सम्भव अर्थ को छोड़कर आवश्यकता के अनुसार अर्थ करके समन्वय करते हैं। यद्यपि इस समन्वय में भी बात कल्याणकर ही कही जाती है फिर भी वह विश्वसनीय नहीं होती। अर्थ बदल देने से एक तरह से वह शब्द का ही समन्वय होता है। जैसे कि कोई गोवध को आवश्यक बतलाये तो गो का अर्थ गाय न करके इन्द्रिय करना सिर्फ शब्द-समन्वय हुआ, वास्तविक अर्थको छोड़ देने से अर्थ समन्वय न हुआ।

इसकी अपेक्षा यह कहना कि गोवध (गाय

का वध) है तो अनुचित, परन्तु जिसदेश में रेगिस्तान होनेसे ऊंट की अपेक्षा गाय की उपयोगिता कम है, और भरपूर वनस्पति न होने से मासभक्षण किया जाता है वहा गोवध क्षन्तव्य है, आज इसकी यहां कोई जरूरत नहीं तो यह अर्थ-समन्वय या पारिस्थितिक-समन्वय कहलायगा। इसमे विश्वसनीयता अधिक है, विद्वानोंको भी इससे सन्तोष होता है।

शब्द-समन्वय मे तरह तरह से. लक्षणा श्लेष रूपक आदि से अर्थ बदला जाता है इसलिये वास्तविकता को चाहनेवाले लोग सन्तुष्ट नहीं होते, बल्कि मजाक उड़ाते है।

हा! जहा अभिधा अर्थ सम्भव न हो वहा लक्षणा से अर्थ करना अनुचित नहीं कहा जासकता। जैसे-हमें नई दुनिया बनाना चाहिये, या अमुक व्यक्तिने नई सृष्टि की। यहा दुनिया बनाने का अर्थ सूर्य ग्रह नक्षत्र आदि बनाना सम्भव नहीं है, इसलिये लक्षणा से यही अर्थ लेना पड़ेगा कि नई समाज-व्यवस्था करना चाहिये। यह समन्वय ठीक है। यद्यपि इसमे शब्द का अर्थ बदला गया है अभिधेय अर्थ से लक्ष्य अर्थ लिया गया है फिर भी इसे अनुचित नहीं कह सकते क्योंकि लक्ष्य अर्थ ही यहां वास्तविक अर्थ है।

इसप्रकार समन्वय दो तरह का होगया।

१-पारिस्थितिक-समन्वय (लंजिज्जं शत्तो)

२-शब्द-समन्वय (ईकं शत्तो) इसमे अर्थ बदलने के लिये काव्य के अलंकारों (श्लेष उपमा रूपक आदि) का उपयोग किया जाता है, इसलिये इसे आलंकारिक-समन्वय (भायहूरं शत्तो) भी कहते हैं। परन्तु शब्द-समन्वय नाम सरल और अधिक ठीक है क्योंकि इसमें शब्द की प्रधानता है।

ऊपर इन दोनों समन्वयों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

शब्द समन्वय भी दो तरह का होता है। १-सयुक्तिक २-अयुक्तिक।

१-सयुक्तिक [डम्मिर] जिसमें शब्द के अर्थ बदलने में ऐसी कोई युक्ति तर्क हो जिससे शब्द का अर्थ बदलना उचित और अनिवार्य हो, वह सयुक्तिक शब्द-समन्वय है। जैसे 'अमुक व्यक्ति ने नई दुनिया बनाई' इस वाक्य मे दुनिया का अर्थ समाज-रचना करना आदि अनिवार्य है, क्योंकि आदमी पृथ्वी ग्रह नक्षत्र आदि नहीं बना सकता। इसलिये यह सयुक्तिक शब्द-समन्वय कहलाया।

२-अयुक्तिक (नोडम्मिर) जिसमें शब्द का अर्थ बदलना सयुक्तिक न हो, सिर्फ किसी कारण से वह अर्थ हमें पसन्द नहीं है इसलिये किसी दूसरे ढंग से श्लेष उपमा रूपक आदि से अर्थ बदला जारहा है। जैसे गोवध का अर्थ श्लेष के द्वारा इन्द्रियवध करना। इतिहास पर विचार करने से गोवध अशक्य, या असगत नहीं मालूम होता, ऐसी हालत में उसका अर्थ बदलना सयुक्तिक नहीं कहा जासकता।

कुछ ऐसे अयुक्तिक शब्द-समन्वय होते हैं जिन्हें सिर्फ अयुक्तिक न कहकर अत्ययुक्तिक (मेंनोडम्मिर) कहना चाहिये। इनमे अर्थ बदलने के लिये लक्षणा का तो विचार किया ही नहीं जाता किंतु श्लेष के लिये कोष का भी ध्यान नहीं रक्खा जाता, उपमा आदि से अर्थ बदला जाता है अथवा एकाक्षरी कोष का सहारा लेकर अर्थ बदला जाता है। जैसे-'पुराने समयमें आर्य लोग अग्नि की उपासना करते थे'। इतिहास की इस सिद्ध बात को बदलकर यह अर्थ करना कि "वे अग्नि की उपासना नहीं करते थे किंतु ध्यान लगाते थे। ध्यान का अर्थ अग्नि है। अग्नि जैसे कचरे को या मैल को जलाती है उसी प्रकार ध्यान भी आत्मा के मैल को या पाप को जलाता है इसी ध्यान को अग्नि कहा गया है। इसलिये अग्नि की उपासना अर्थात् ध्यान की उपासना अर्थात् ध्यान करना"

इसप्रकार की खींचतान करने से शब्द निरर्थक होजाते हैं क्योंकि इस तरह जिस चाहे वाक्य का जैसा चाहे अर्थ किया जासकेगा।

उपमा रूपक आदि की कोई सीमा नहीं है, और उनका वस्तुस्थिति से इतना सम्बन्ध नहीं होता, जितना हमारी इच्छा या कल्पनाओं से। इसलिये ऐसे अर्थों का तब तक कोई उपयोग न करना चाहिये जब तक सीधा अर्थ लगाने से कोई प्रामाणिक बाधा न हो।

एकाक्षरी कोष का उपयोग करके अर्थ बदलना भी इसी तरह व्यर्थ है। अगर कहा जाय कि 'पुराने जमाने में लोगों को प्राकृतिक शक्तियों के बारे में बहुत अज्ञान था" इसका सीधा अर्थ यही है कि उन्हें जानकारी नहीं थी। पर अज्ञान का ईश्वरीय ज्ञान अर्थ करना, और कहना कि उन्हें प्राकृतिक शक्तियों का ईश्वरीय ज्ञान था, तो यह अन्धेर है। निःसन्देह एकाक्षरी कोषमें 'अ' का अर्थ 'विष्णु' किया गया है (अकारो वासुदेवःस्यात्) इसलिये अ-ज्ञान अर्थात् 'अ' का 'विष्णु' का ज्ञान कहा जासकता है। पर काव्य शास्त्रके चमत्कार के लिये जो बातें काम में लाने की हैं उन्हें इतिहास की कसौटी न बनाना चाहिये।

समन्वय के इन भेदों को ध्यान में रखकर हमें समन्वय कार्य में निम्नलिखित मर्यादाओं का पालन करना चाहिये।

१—पारिस्थितिक समन्वय (लंलिज्जंशत्तो) ही सर्वश्रेष्ठ है। समन्वय में मुख्यता से इसी का उपयोग करना चाहिये।

२—सयुक्तिक शब्द-समन्वय (डम्मिर ईकं शत्तो) भी उपयोग में लाया जासकता है। पर उसकी सयुक्तिकता काफी स्पष्ट हो।

३—अयुक्तिक शब्द-समन्वय (नोडम्मिर ईकं शत्तो) का उपयोग न करना चाहिये। इनका उपयोग काव्य चमत्कार दिखाने में है वस्तुस्थिति के निर्णय में नहीं। एकाधबार कदाचित् इससे सत्प्रेरणा दी जासके पर तरीका गलत होने से लाभ से अधिक हानि है। समझदारों के सामने विश्वासयोग्यता न होने से एक बात के कारण दस बातें अविश्वसनीय होजाती हैं। इसलिये वस्तुस्थिति के निरूपण में इसका उपयोग कभी न करना चाहिये।

४—अत्ययुक्तिक शब्द-समन्वय (मे-नोडम्मिर ईकं शत्तो) तो और भी बुरा है। विद्वानों के सामने ही नहीं, किन्तु साधारण जनता के सामने भी इसकी अविश्वसनीयता प्रगट होजाती है।

समन्वय दृष्टि आजाने से हरएक बात का सदुपयोग होने लगता है।

इसप्रकार निष्पक्षता परीक्षकता समन्वयशीलता से सत्येश्वर के दर्शन के मार्ग की बाधाएँ हटजाती हैं और सत्येश्वर का गुणदर्शन होजाता है। उससे सत्येश्वर की साधना होसकती है।

दूसरा अध्याय [मानव होपंमो]

ध्येय दृष्टि (नीमो लंको)

अंतिम ध्येय (लुस नीमो)

निष्पक्ष परीक्षक और समन्वयशील बनने से मनुष्यमें सत्यदर्शन की पात्रता आजाती है, इसके बाद उसे जिसबात को सब से पहिले समझना है वह है जीवन का ध्येय। जीवन का ध्येय निश्चित होजानेपर मार्ग ढूढ़ने और समझने में सुविधा होती है।

ध्येय और उपध्येय (नीमो अं फूनीमो)

जीवन का ध्येय अनेक शब्दों में कहा जाता है। जैसे-स्वतंत्रता, मुक्ति, ईश्वरप्राप्ति, पुरुषार्थ, यश, वैभव, सुख आदि। अगर व्यापक और गहराई से विचार किया जाय तो किसी भी ध्येय से मानव-जीवन सफल होसकता है, फिर भी जब तक ध्येय और उपध्येयो को ठीक तौर से न समझलिया जाय मनुष्य के गुमराह होने की काफी आशंका रहती है। इसलिये अंतिम ध्येय और उसे पाने के लिये जिस जिस बात को पहिले प्राप्त करना हो वह उपध्येय अच्छी तरह से समझ लेना चाहिये। ध्येय और उपध्येय में जहा विरोध हो वहा उपध्येय को छोड़कर ध्येय को अपनाना चाहिये। इस दृष्टि से रहना चाहिये कि—

१-विश्वसुखवर्धन हमारा ध्येय है।

२-स्वतंत्रता, मुक्ति, ईश्वरप्राप्ति, स्वर्ग, वैभव आदि उपध्येय हैं।

ध्येय के लिये उपध्येय है इसलिये उपध्येय को ध्येय की कसौटीपर कसते रहना चाहिये। उपध्येय के लिये हम पूछ सकते हैं कि वह किसलिये, पर ध्येय के लिये यह पूछने की जरूरत नहीं होती। एक आदमी नौकरी करता है तो हम पूछ सकते हैं-नौकरी किसलिये ? उत्तर मिलेगा-पैसे के लिये। पैसा किसलिये ? रोटी के लिये। रोटी किसलिये ? जीवन के लिये। जीवन किसलिये ? सुख के लिये। इसके बाद प्रश्न समाप्त है। सुख किसलिये यह नहीं पूछा जाता इसलिये सुख अन्तिम ध्येय कहलाया।

स्वतन्त्रता उपध्येय (मुच्चो फूनीमो)

प्रश्न—ध्येय और उपध्येय के निर्णय की एक कसौटी यह है कि परस्पर विरोध होनेपर ध्येय के लिये उपध्येय का बलिदान कर दिया जाता है। देखा जाता है कि कभी कभी स्वतन्त्रता के लिये सुख का बलिदान कर दिया जाता है। अनेक जनसेवक या देशसेवक स्वतन्त्रता के लिये अपना सुख छोड़ देते हैं वे जेल और मृत्युदण्ड को स्वीकार कर लेते हैं पर स्वतन्त्रता को नहीं छोड़ना चाहते।

उत्तर—इसमे ध्येय और उपध्येय का प्रश्न नहीं है किन्तु किसी एक ही बात की मात्रा का प्रश्न है। यहा देश के सुख के लिये अपने सुख का बलिदान है, देश की स्वतन्त्रता के लिये अपनी स्वतन्त्रता का बलिदान है। जो आदमी जेल जाता है उसकी स्वतन्त्रता बाहर रहने की अपेक्षा छिन ही जाती है, इसलिये देश के सुख के लिये यह स्वतन्त्रता का बलिदान कहलाया। खैर ! इसे चाहे स्वतन्त्रता का बलिदान कहो, चाहे सुख का बलिदान कहो मुख्य बात इसमें समाज के सुख के लिये व्यक्ति के सुख का बलिदान है।

जीवन में इसप्रकार के अनुभव बारबार आते हैं जिससे मालूम होता है कि स्वतन्त्रता के

लिये सुख नहीं है, किन्तु सुख के लिये स्वतन्त्रता है। समाज के संगठन में व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को थोड़ा-बहुत धक्का लगता है पर सहयोग के सुख के लिये उतनी स्वतन्त्रता का बलिदान सभी लोग करते हैं। विवाह के द्वारा भी स्त्री और पुरुष की स्वतन्त्रता पर कुछ न कुछ अंकुश लगता है फिर भी परस्पर के सहयोग से मिलनेवाले सुख के लिये लोग उतनी अस्वतन्त्रता को स्वीकार करते हैं। जो स्वतन्त्रता सामाजिक सुख में बाधा पहुँचाती है उस स्वतन्त्रता को उच्छृंखलता कहकर निन्दा की जाने लगती है। इन सब बातों से मालूम होता है कि स्वतन्त्रता उपध्येय है सुख अर्थात् विश्वसुख ध्येय है। हां! कभी कभी ऐसा होता है कि गुलामी का दुःख अत्यधिक होने से लोग जीवन तक देदेते हैं। इसका कारण प्राणियों का विकसित हृदय है। जो लोग खाने-पीने आदि के सुखों की अपेक्षा, मानसिक सुख को अधिक महत्त्व देते हैं, और गुलामी में मानसिक कष्ट अधिक मालूम होता है वे भविष्य की निराशाजनक परिस्थिति में जीना पसन्द नहीं करते। पर इसमें भी सुख-दुःख का नापतौल ही मुख्य है।

स्वतन्त्रता अगर सबके सुख के लिये उपयोगी हो तभी उसका आदर किया जासकता है, सबके सुख की उपेक्षा करके स्वतन्त्रता पर अधिक जोर दिया जाय तो जगत नरक की ओर बढ़ने लगे। व्यक्ति यह सोचने लगे कि कुटुम्ब बनाने में पराधीनता है इसलिये कुटुम्ब न बनाना चाहिये, कुटुम्ब यह सोचें कि गांव का अंग बनने में पराधीनता है इसलिये गांव न बनाना चाहिये, गांव यह सोचें कि देश का अंग बनने में पराधीनता है इसलिये देश न बनें, तो दुनिया में हैवानियत और शैतानियत का नंगा नाच होने लगे। स्वतन्त्रता एक तरह की जुदाई पैदा करती है और जुदाई से सहयोग टूटता है और सहयोग के अभाव में सब तरह के विकास रुकते हैं। इसलिये स्वतन्त्रता को सबके सुख से अधिक महत्त्व न देना चाहिये।

स्वतन्त्रता के नामपर लोग राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े करने को उतारू होजाते हैं। भले ही उससे दोनों टुकड़ों के शासन-खर्च का बोझ असह्य होजाय, दोनों कमजोर होजायँ, निर्बलता और गरीबी से विकास रुकजाय इससे मनुष्य दुख की ओर ही जाता है। इसी स्वतन्त्रता के नामपर वह मानवराष्ट्र बनाने में हिचकिचाता है। इससे राष्ट्र-राष्ट्र के बीच में आर्थिक और राजनैतिक द्वन्द होते हैं युद्ध और महायुद्ध होते हैं इससे जगत नरक बनता है। इसलिये स्वतन्त्रता को विश्वसुख के अंकुश में रखना चाहिये उसे अन्तिम ध्येय नहीं, उपध्येय बनाना चाहिये।

शान्ति उपध्येय (शमो फूनीमो)

प्रश्न—शान्ति को जीवनका ध्येय मानें तो ?

उत्तर—जो शान्ति, सुख के लिये उपयोगी है वही शान्ति उपयोगी कही जासकती है। पूर्ण शान्ति जीवन का ध्येय नहीं है। प्रलय में पूर्ण शान्ति है पर इसीलिये प्रलय की इच्छा नहीं होती। एक आदमी को ऐसे द्वीप में छोड़दिया जाय जहां उसे खाने-पीने की सब सुविधा हो, और अशान्ति पैदा करने के लिये दूसरा कोई प्राणी न हो, तो आदमी ऐसे स्थान को पसन्द न करेगा। हां! जब मनुष्य ऐसे कोलाहल या संघर्ष में पड़जाता है जो उसे दुःखी कर देते हैं, तब वह उनसे बचना चाहता है। इससे वह मर्यादित या अमुक प्रकार की शान्ति चाहता है। पर जब मनुष्य को खेल, कूद, क्रीड़ा, विनोद आदि में आनन्द आता है तब वह इन्हें पसन्द करता है, और उछल-कूद की इस अशान्ति को आवश्यक समझता है। इससे मालूम होता है कि ध्येय शान्ति नहीं है, ध्येय सुख है। जब जहां जिसे जितनी शान्ति सुख के अनुकूल मालूम होती है तब वहां वह उतनी शान्ति को स्वीकार करता है, सुख विरोधी शान्ति को अस्वीकार करता है।

मोक्ष उपध्येय (जिम्रो फूनीमो)

प्रश्न—मोक्ष तो अनन्त शान्ति है और उसकेलिये मनुष्य अपने सर्वस्व का, जीवन के सब सुखों का त्यागकर जीवनभर कठिन . ...

एक बार एक राजा ने अपने बड़े बगीचे के दो हिस्से करके दो मालियों को सौंप दिये। एक माली ने खूब श्रम करके बगीचे को अच्छा भरा पूरा बनाया, दूसरे ने बगीचे को तो उजाड़ दिया पर हर दिन तीन-तीन बार महल में जाकर राजा के सामने झुक-झुककर सलाम अवश्य की और कहता रहा 'हुजुर की गादी सलामत रहे।' एक दिन राजा ने जब बगीचा देखा तो सलाम की पर्वाह न करनेवाले माली का बगीचा देखकर बहुत खुश हुआ पर सलाम करनेवाले माली का बगीचा देखकर बहुत नाखुश हुआ और कहा—"कमबख्त, हर दिन तूने तीन-तीन बार कहा कि हुजुर की गादी सलामत रहे पर मेरा बगीचा बेसलामत कर दिया, अब हुजूर की गादी क्या खाक सलामत रहेगी? निकल यहां से' इस प्रकार सलाम करनेवाले माली को उसने निकाल दिया।

राजा ने जितने विवेक का परिचय दिया, ईश्वर से उससे अधिक विवेक की आशा करना चाहिये।

ईश्वर मानने का वास्तविक उपयोग यह है कि यह दुनिया ईश्वर का बगीचा है, उसे सलामत रखना ही ईश्वर की भक्ति है। और ईश्वर अन्धेरे में भी देखता है सदा देखता है, सर्वशक्तिमान है इसलिये उससे बचकर कोई निकल नहीं सकता, ऐसी हालत में कोई कितना भी ताकतवर हो, कितने भी छिपकर काम करे ईश्वर की नजर से बचेगा नहीं। इसप्रकार अन्याय आदि से बचे रहना और दुनिया का हित करना ही सच्ची ईश्वर भक्ति है। उसका नामस्मरण वगैरह कर्तव्य में प्रेरणा प्राप्त करने के लिये हैं।

इसप्रकार विश्वसुखवर्धन को मुख्य ध्येय बनाना, और उसके साधन के रूप में उपध्येय मानकर ईश्वर-भक्ति करना, ही ठीक मार्ग है।

दुःखाभाव अंश ध्येय (दुक्खनोलसो अंश तीमो)

बहुत से लोगों का यह कहना है कि "संसार में सुख कम हो या ज्यादा, इसकी चिन्ता नहीं है, चिन्ता है इस बात की कि दुःख न हो। पर संसार में दुःख और सुख मिश्रित हैं। बिना दुःख के सुख नहीं मिलता। भूख प्यास के कष्ट के बिना खाने पीने का आनन्द नहीं आता। यों भी संसार में एक न एक दुःख प्राणी के पीछे लगा रहता है, उस दुःख से अगर हम छूटना चाहें तो हमें सुख का भी त्याग करना पड़ेगा। इसलिये हमारा ध्येय एक ऐसी अवस्था प्राप्त करना होना चाहिये जिसमें न सुख हो न दुःख। इसीलिये कुछ दार्शनिकों ने मोक्षमें दुःख और सुख दोनों का अभाव माना है। वही हमारा ध्येय रहे।

यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि यह एक तरह की जड़ता होगी। प्राणी को जो संवेदना होती है वह या तो दुःखात्मक होती है या सुखात्मक, अथवा किसी में सुखदुःख दोनों के अंश मिले रहते हैं। अनुकूल संवेदना को सुख कहते हैं, प्रतिकूल संवेदना को दुःख कहते हैं। ऐसी कोई संवेदना नहीं होसकती जिसमें नाममात्रका भी सुख या दुःख न हो। संवेदना का अभाव होजाना एक तरह की बेहोशी है। अर्थात् चेतना का सुप्त होजाना है। चेतन होकर भी अचेतन बनना जीवन का ध्येय नहीं है। सृष्टि और प्रलय में से सृष्टि का ही चुनाव करना चाहिये।

हां। यह अवश्य है कि मनुष्य दुःख कमसे कम करना चाहता है क्योंकि इससे उसका सुख बढ़ता है। इसलिये दुःखाभाव को अंश ध्येय कह सकते हैं। सिर्फ इतने से ही मनुष्य को सन्तोष नहीं होसकता। हर एक क्षेत्रमें वह दुःखाभाव के साथ सुख चाहता है। वह यह चाहता है कि कोई अप्रिय आदमी उसके सम्पर्क में न आये, पर इस दुःखाभाव से वह सन्तुष्ट न होगा, वह यह भी चाहेगा कि प्रिय आदमी सम्पर्क में रहे, प्रिय आदमी नहीं तो कोई प्रिय वस्तु या प्रिय विषय अपने सम्पर्क में चाहेगा।

प्रश्न—संसार में दुःख ही अधिक है, बहुत अधिक है, और सुख बहुत कम है, ऐसी अवस्था में कितनी भी कोशिश की जाय दुःख तो सुख से अधिक ही रहेगा। अगर दुःखाभाव को ध्येय बनाया जाय तो सम्भव है दुःख के साथ सुख भी

चला जाय। सो चला जाय। अगर सेर भर दुःख दूर होने से तोलाभर सुख भी दूर होता है तो क्या हानि है? टोटल में तो लाभ ही है।

उत्तर—संसार को अधिकदुःखमय मानना भ्रम है। ससार में दुःख और सुख दोनो है और दुःखसे अधिक सुख है। किसी व्यक्ति विशेष की बात जुदी है सम्भव है उसके जीवन मे सुखसे अधिक दुःख हो पर साधारण प्राणी के जीवनमें और टोटल मिलाकर सारी प्राणिसृष्टि में दुःख से अधिक सुख है। इसलिये दुःखसुख दोनो का अभाव कर देने से जगत् या प्राणिसृष्टि घाटे में ही रहेगी। दुःखसुख की मात्रा जानने के लिये निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

१–जीवन ज्ञानमय है और ज्ञान सुखमय है। जिन बातों के जानने से प्राणी को कोई शारीरिक सुख नहीं होता उनसे भी उसे मानसिक सुख होता है। एक बच्चा किसी भी नवीन चीज को देखकर किलकता है। नई चीज को जानने का आनन्द ही एक निरपेक्ष आनन्द है जो संसार मे भरा पड़ा है। देशाटन करने में घर के बराबर आराम नहीं होता फिर भी नये नये अनुभवो और जानकारियों का आनन्द लेने के लियें मनुष्य पैसे के खर्च की और शारीरिक कष्टों की पर्वाह नहीं करता। नाटक सिनेमा देखने, खगोल भूगोल की किताबे पढ़ने, कहानी आदि सुनने में मनुष्य को शारीरिक आनन्द कुछ नहीं मिलता फिर भी इनकी जानकारी से मन आनन्द रस से भरजाता है इसकेलिये वह पैसे भी खर्च करता है, एक जगह बैठने का कष्ट भी उठाता है, निद्रा वगैरह न लेपाने का कष्ट भी सहता है फिर भी जानकारी के कारण अपने को लाभ में समझता है। इस जानकारी के अन्य परिणाम हों चाहे न हो इसकी पर्वाह किये बिना ही प्राणी आनन्दानुभाव करता है। इससे मालूम होता है कि ज्ञान आनन्दमय है, और जीवन ज्ञानमय है इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन आनन्दमय है।

२–जीवन की स्थिति और वृद्धि के लिये जो जो कार्य प्राणी करता है उनमें भी अधिकांश मे आनन्द आता है। खाना-पीना शरीरस्थिति के लिये जरूरी है पर उनसे आनन्द आता है। साधारणत. चबानेकी और पेटमें बोझ लादनेकी तकलीफ हमे नहीं मालूम होती पर स्वाद का और तृप्ति का आनन्द मालूम होता है। वंशवृद्धि के लिये नरनारी सहवास की जो क्रिया जरूरी है वह भी प्रकृति ने आनन्दमय बनादी है। इस प्रकार जीवन तो आनन्दमय है ही, पर जीवनस्थिति की जो क्रियायें हैं वे भी आनन्दमय हैं।

३–सामाजिकता का आनन्द भी एक सुलभ आनन्द है। कुछ लेन-देन का व्यवहार न भी किया जाय पर एक दूसरे के सान्निध्य से ही प्राणी को आनन्द आता है। इससे जो आशा निर्भयता आदि पैदा होती है वह आनन्द तो विशेष है ही, पर भय का कारण न होने पर भी, कोई आशा न होनेपर भी प्राणी अकेलेपन की अपेक्षा साथियों के साथ रहने में आनन्द का अनुभव करते हैं। यह बात मनुष्यो में ही नहीं देखी जाती पशुपक्षियों में भी देखी जाती है। यहा तक कि सजातीय प्राणी न मिलनेपर विजातीय प्राणी तक से यह सामाजिकता पैदा होती है और उसमें आनन्द आता है। मनुष्य कुत्तों से हरिणो से तोतों से तथा भिन्न-भिन्न तरह के पशुपक्षियों से निस्वार्थ प्रेम से सामाजिकता स्थापित करता है और आनन्द पाता है। इसे दूसरे शब्दों मे प्रेमानन्द कह सकते हैं। यह भी ससार में भरपूर है।

४–प्रकृतिने चौथा आनन्द रसानन्द भी देरक्खा है। उसने पांच इन्द्रियाँ दीं उनका उपयोग जीवन टिकाये रखने में तो हुआ ही, साथ ही उनके विशेष विषयो से आनन्द का श्रोत भी बहा। आंखो ने तरह तरह के सौंदर्य का, जो प्रकृति ने भर रक्खा है, रस लूटा, खाद्य पदार्थों मे नाना तरह के स्वादिष्ट रस भरे हुए हैं, फूलोंमे सुगन्ध है, कोयल आदि का संगीत है, शीतल पवन है आदि सभी इन्द्रियो के लिये असाधारण

रसानन्द की सामग्री भरी पड़ी है इससे भी जगत आनन्दमय है।

यह ठीक है कि इस रसानन्द के साथ कहीं कहीं विरसता की सामग्री भी है पर चुनाव के साधन हमें प्राप्त हैं उससे हम रस सामग्री काफी सरलता से चुनसकते हैं, चुनते भी हैं। अगर कोई नहीं चुनता तो यह उसकी मूर्खता है प्रकृति का अपराध नहीं। रसोई घर में सुन्दर स्वादिष्ट सुपाच्य भोजन-सामग्री तैयार हो और कोई उसे न लेकर चूल्हे में से कोयला लकड़ी या राख निकालकर चबाने लगे और फिर कहे कि इस रसोई घर में बेस्वाद चीजें बहुत हैं तो यह उसका पागलपन होगा, रसोईघर का अपराध नहीं। इसीप्रकार प्रकृति के रसभण्डार में से रस चुनना चाहिये। बस! फिर जीवन में आनन्द ही आनन्द है।

ये चार प्रकार के आनन्द ऐसे हैं जिनसे प्राणियों का जीवन ओतप्रोत है। अधिकांश प्राणियों का अधिकांश काल इन्हीं आनन्दों में बीतता है। और यह सब आनन्द इतना अधिक है कि जिन्हें हम दुखी कहते हैं वे भी इन्हीं आनन्दों के कारण मरने को तैयार नहीं होते।

५-इसके सिवाय यश, महत्व आदि के और भी आनन्द दुनिया में हैं। यद्यपि ये विरल हैं पर हैं। इन सब आनन्दों से यह बात साफ मालूम होती है कि संसार आनन्दमय है।

६-हां! इस बात को भुलाया नहीं जासकता कि ससार में दुःख भी हैं। उनमें से सब से बड़ा दुःख मृत्यु का है जो कुछ क्षणों के लिये होता है। साधारणतः जीवन की अपेक्षा मृत्यु के क्षण बहुत कम होते हैं और उससमय प्राणी को अधिक कष्ट का अनुभव न हो इसलिये प्रकृति मरते समय प्राणी को बेहोश कर देती है। इतना ही नहीं, किसी भी तरह की असह्य वेदना के समय प्रकृति प्राणी को बेहोश कर देती है। इसलिये साधारणतः मृत्यु का कष्ट चिन्तनीय नहीं है पर अन्य जीवन के निर्माण रक्षण स्थानदान आदि की दृष्टि से उपयोगी भी है।

७-दूसरा बड़ा कष्ट है बीमारी का। साधारणतः यह कष्ट ऐसा ही है जैसा कि दिवाली के समय घर की सफाई आदि करने से होता है। बीमारी भी शरीर की सफाई है। जो सफाई प्रतिदिन होने से रहजाती है वह सब जुड़कर सालछैमाल से इकट्ठी करना पड़ती है। इसके बाद शरीर अच्छा होजाता है।

हां! कोई कोई असाधारण बीमारियाँ होती हैं जोकि अधिकतर मनुष्य के अज्ञान लापर्वाही या असंयम का परिणाम होती हैं। पर ऐसी बीमारियाँ सौ में एकाध को होती हैं और इसमें मनुष्य की गलती या समाज की गलती अधिकतर होती है, प्रकृति का अपराध बहुत कम। इसलिये इसकेलिये भी हम संसार को दुःखमय नहीं कह सकते।

८-कुछ प्राकृतिक कष्ट जरूर ऐसे हैं जिनकी जिम्मेदारी मनुष्यपर नहीं है जैसे बिजली गिरना, बाढ़ आना, भूकम्प होना आदि। पर इनसे मनुष्य-जाति इतना भी संहार नहीं होता जितना बीमारी आदि से होजाता है। लाखों में से एकाध आदमी पर कभी बिजली गिरती है, करोड़ों आदमियों में से दसपांच वर्ष में कुछ आदमी भूकम्प आदि से मरते हैं। अन्य कारणों से जो दुःख या मौतें होती हैं उनके आगे ये न कुछ के समान है।

९-मानव के सिरपर जो असली दुःख है और अन्य कष्टों का भी जोर जिससे बढ़जाता है वह है मनुष्यकृत। गरीबी, बेकारी, अपमान, लूट, मारकाट, युद्ध, द्वेष ईर्ष्या, कृतघ्नता, असहयोग, आदि कष्ट ही जीवन के वास्तविक कष्ट हैं और इन कष्टों के जो बीज हैं उन्हीं के कारण अन्य कष्ट बहुत बढ़जाते हैं या बढ़े मालूम होते हैं। पर इन सब कष्टों की जिम्मेदारी मनुष्य पर है, प्रकृतिपर नहीं। ये अनिवार्य कष्ट नहीं हैं इनपर विजय पाई जासकती है और ये बिलकुल कम किये जासकते हैं।

पर प्राणिकृत और भी थोड़े बहुत कष्ट मिलजायँगे पर उनपर मनुष्य सरलता से विजय

पासकता है, बहुत कुछ पा भी चुका है।

१०-पर इन सब कष्टों का जोड लगाकर भी इतना नहीं होता कि पहिले जो चार प्रकार के सुख बताये गये है उनकी बराबरी कर सके या पासंग में भी उतर सके। ये सब दुःख होने पर भी संसार में सुख इतना अधिक है कि संसार को दुःखमय नहीं कह सकते।

बुध बृहस्पति आदि ग्रहों पर या चन्द्र आदि उपग्रहों पर निर्जीवता है। बुध और चन्द्र पर तो हवा भी नहीं है इसलिये प्राणिसृष्टि भी नहीं है। इसी कारण वहा कोई दुःख भी नहीं है। दुःखवादियों से कहाजाय कि क्या तुम पृथ्वी को भी बुध या चन्द्र के समान या अग्निपिंड के समान जीव शून्य बनाना पसंद करते हो ? तो दुःखवादी भी इसकेलिये तैयार नहीं होंगे साधारण लोग भी इसी कारण मरने को तैयार नहीं होते। इन सब बातों का कारण यही है कि संसार में दुःख की अपेक्षा सुख अधिक है। कभी किसी को थोड़ी देर को दुःख की वेदना भले ही अधिक हो परन्तु उसके बाद ही सुख की मात्रा काफी रहती है इसलिये उस दुःख को बर्दाश्त करके भी लोग सुख की आशा में जीना चाहते हैं। इसलिये संसार को हम दुःखमय नहीं कह सकते।

११—पर इसका मतलब यह नहीं है कि संसार मे जितना दुःख है उसे घटाने की और जितना सुख है उसे बढ़ाने की कोशिश न की जाय। प्रकृति ने जितने साधन दिये है और मनुष्य के पास जितनी विद्या बुद्धि है उनका पूरा सदुपयोग किया जाय तो दुःख नाममात्र का रहजायगा और सुख कई गुणा होजायगा। इसकेलिये इस दुनिया से भागने की जरूरत नहीं है किन्तु आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, क्रांति करके इस संसार को नया संसार स्वर्गोपम संसार बनाने की जरूरत है। ऐसा होनेपर अधिक से अधिक दुःखाभाव और सुखवृद्धि होगी।

जो लोग संसार को दुःखमय मानते हैं वे संसार के साथ अन्याय तो करते ही हैं, अगर कोई ईश्वर है तो उसे भी नासमझ या क्रूर कहते हैं (क्योंकि उसने ऐसा दुःखमय संसार बनाकर प्राणियोंके साथ अन्याय क्यों किया) और सत्य की भी अवहेलना करते हैं, पर सब से बुरी बात यह है कि वे एक ऐसे निराशावाद का प्रचार करते है जिससे मनुष्य दुःख घटाने और सुख बढ़ाने के काम में हताश शिथिल और किंकर्तव्यविमूढ़ होजाता है। जब दुःख को संसार का स्वभाव ही मान लिया जाता है तब आदमी यह सोचकर रहजाता है कि 'स्वभाव की दवा क्या, संसार तो सुधारा नहीं जासकता, इसलिये संसार से भागो। पर भागना तो इन भगोड़ों के वश की बात नहीं है, भागकर जायँगे कहा ? क्योंकि बिना मरे भाग नहीं सकते और मरने से भी वह दुनिया उन्हें मिल नहीं सकती जो उनने कल्पना से गढ रक्खी है या किसी की कल्पना से मान रक्खी है, इसलिये भागने का ढोंग कर वे अपनी जिम्मेदारियों को छोड़कर दूसरों के बोझ बनते हैं, और जो शक्ति संसार का सुख बढ़ाने और दुख घटाने मे लगाई जासकती थी उसे बेकार बर्बाद करते हैं।

प्रश्न—संसार को दुःखमय मानने से दुःख में एक प्रकार का सन्तोष होता है कि संसार तो दुःखमय है इसलिये क्या किया जाय, दुःखमय संसार में सुख की आशा ही क्यों की जाय ? यह सन्तोष भी एक लाभ है जो संसार को दुःखमय मानने से मिलता है। तब संसार को दुःखमय मानना बुरा क्यों ?

उत्तर—सन्तोष तीन तरह का होता है। १-सुखसन्तोष, २-दुःखसन्तोष, ३-भ्रमसन्तोष या वृथासन्तोष। पहिला उत्तम है, दूसरा मध्यम, तीसरा जघन्य।

सुखसन्तोष-सुख या सुखसाधन प्राप्त होने से, सफलता प्राप्त होने से, या सफलता का भान होने से, सुख या सफलता की आशा से जो सन्तोष होता है वह सुखसन्तोष है। यही सन्तोष

वास्तविक सन्तोष है और उत्तम है।

दुःख सन्तोष-दुःख को स्वाभाविक, या अनुपाय मानने से, या अपने समान दूसरों को भी दुःखी देखने से जो सन्तोष होता है वह दुःख सन्तोष है। इसमें सन्तोष का कारण यह होता है कि मनुष्य सोचता है कि दुःख के कारण मैं दूसरों से कमजोर अभागा या गयाबीता नहीं हूँ, यह स्वाभाविक या अनिवार्य है इसलिये कोई कुछ नहीं कर सकता इसलिये मैं भी कुछ नहीं करसकता, ऐसा दुःख सभी के पीछे पड़ा है आखिर मैं अकेला ही तो दुःखी नहीं हूँ।' इस प्रकार दुःख स्वाभाविक और सर्वसाधारण में व्यापक मानने से अपने गौरव की रक्षा होती है और इस बात से एक प्रकार का सन्तोष होता है। जहां सुख-सन्तोष का अवसर न हो वहां यह दुःख-सन्तोष उचित है। सुख-सन्तोष की बराबरी तो यह नहीं कर सकता, फिर भी 'न कुछ से कुछ अच्छा' इस दृष्टि से सुखसन्तोष के अभाव में यह अच्छा है।

भ्रमसन्तोष-जहां सन्तोष का कोई कारण नहीं होता किन्तु मोह या अहंकार से सन्तोष-सामग्री के विषय में भ्रम होजाता है वह झूठा और व्यर्थ सन्तोष भ्रम-सन्तोष या वृथा-सन्तोष है। जैसे वर्षा तो अपने प्राकृतिक कारणों से होती है कदाचित् उचित कारण न मिलने से कभी रुकजाती है तो दसपांच दिन बाद अनुकूल कारण मिलनेपर फिर होजाती है। ऐसे अवसरपर कोई दसपांच दिन भजन-पूजन मंत्र या अनुष्ठान करे और जब प्राकृतिक कारण से वर्षा होजाय तो कहने लगे कि मेरे भजन-पूजन मंत्र अनुष्ठान से वर्षा हुई है तो यह भ्रम-सन्तोष या वृथा-सन्तोष कहलायगा। यह सन्तोष झूठा है।

संसार को दुःखमय मानने से दुःख-सन्तोष अर्थात् मध्यम श्रेणी का सन्तोष होसकता है। पर जहांपर उत्तम श्रेणी का सन्तोष अर्थात् सुख-सन्तोष होना चाहिये था वहां मध्यम श्रेणी का सन्तोष होना जीवन का घाटा है। जिस रसोई घर में स्वादिष्ट भोजन मिलसकता हो वहां कोयले चबाना और फिर यह सन्तोष करना कि 'कोयला तो संसार के सभी रसोईघरों में रहेगा ही, वह हमारे ही क्या सभी के भाग्य में बदा है इसलिये कोयला चबाने की हमें चिन्ता क्यों करना चाहिये' तो यह मूर्खता होगी। जो संसार सुखमय है और उससे भी अधिक सुखमय बनाया जासकता है, उसके थोड़े से दुःख को और भी कम किया जासकता है, उसे दुःखमय मानकर निराश होजाना, भागने का बेकार डौल करना, सुखसन्तोष की जगह दुःखसन्तोष करना, मुहर लुटाकर कौड़ी का सन्तोष करना है।

घाटे का यह व्यापार बन्द करना चाहिये और संसार का जो वास्तविक रूप है उसका विचारकर सुख बढ़ाने की और दुःख घटाने की कोशिश करना चाहिये।

इन ग्यारह बातों से पता लगता है कि संसार में दुःख सेरभर और सुख तोलाभर नहीं है कि दुःखाभाव के लिये सुख को भी छोड़ा जासके। यह अगर सम्भव होता तो प्राणी घाटे में रहता।

इसके सिवाय इस ध्येय में यह आपत्ति तो है ही कि मरने के बाद सुखदुःखरहित ऐसी मुक्तावस्था सम्भव नहीं है जैसी कि कुछ दार्शनिकोंने मानी है।

इसप्रकार दुःखाभाव रूप ध्येय असम्भव है और सम्भव हो तो इससे प्राणिजगत् घाटे में रहेगा। इसलिये यह ध्येय स्वीकार नहीं किया जासकता।

हां! जितना दुःख है उसे हमें घटाना है और जितना सुख है उसे हमें बढ़ाना है, इसप्रकार ध्येय के एक अंश रूप में दुःखाभाव को भी स्वीकार किया जासकता है, पर वह पूर्ण ध्येय नहीं कहा जासकता। पूर्ण ध्येय विश्वसुखवृद्धि है, दुःखाभाव उसका एक अंश है।

सुख और पाप (शिम्पो अं पापो)

प्रश्न—जीवन के ध्येय में सुखपर अगर इतना जोर दिया जायगा तो पाप और अत्याचार

की मनुष्य को पर्वाह न रहेगी। हिंसा झूठ चोरी आदि से भी मनुष्य सुखी होने की कोशिश करेगा।

उत्तर—पाप से सुख की वृद्धि नहीं होती, बल्कि सुख की वृद्धि में घातक होने से ही कोई कार्य या विचार पाप कहलाता है। पाप से भी सुखी होने की जो बात कही गई है उसमें सुखपर पूरा विचार नहीं किया गया है। थोड़ी देर को किसी व्यक्ति को पाप भले ही सुखवर्धक मालूम हो परन्तु विश्वसुख की दृष्टि से पाप सुखघातक ही होता है। अगर कोई कार्य पापसरीखा दिखने-पर भी विश्वसुख घातक नहीं है तो समझना चाहिये कि उस अवसरपर वह पाप ही नहीं है। जो पाप है वह विश्वसुखघातक है, दुखवर्धक है। निम्नलिखित सूचनाओंपर ध्यान देने से पता लगेगा कि पाप विश्वसुखवर्धक नहीं है।

१-पाप थोड़ी देर के लिये ही सुखवर्धक मालूम होता है बाद में उसका परिणाम बुरा होता है। इसप्रकार आगे-पीछे का टोटल मिलाने पर सुख की अपेक्षा दुःख की मात्रा अधिक हो-जाती है।

२-पाप एकाध व्यक्ति को सुख देसकता है पर पाप का वह सुख दूसरों के कई गुणे दुःखपर अवलम्बित रहता है, इसलिये एक व्यक्ति का थोड़ा-सा सुख अनेक व्यक्तियों के कई गुणे दुःख को बढ़ाता है, इस प्रकार सब व्यक्तियों के सुख-दुःख का टोटल मिलानेपर उसमें दुःख का पलड़ा ही भारी होता है।

३-होसकता है कि किसी अवसरपर पापका दुष्परिणाम दिखाई न दे, या वह इतना थोड़ा हो कि किसीपर उसका असर ही न हो, पर इससे जो पापी की आदत बिगड़ती है उसका दुष्फल एक दिन बहुत बड़ा होता है। इस प्रकार भविष्य की इस सम्भावना, अविश्वास, दूषित मनोवृत्ति आदि के कारण विश्वसुख का घात ही होता है।

४-पाप करते समय भी मनुष्य को दुःख का काफी संवेदन करना पड़ता है। इसलिये पाप करना स्वयं एक दुःखप्रद कार्य है क्रोध के समय मनुष्य का संवेदन सुखात्मक नहीं दुःखात्मक होता है, चोरी करते समय जो भय होता है वह भी दुःख की ही अवस्था है। अज्ञान या असंयम के नशे के कारण इन दुःख-संवेदनों की तरफ मनुष्य ध्यान न दे यह बात दूसरी है, पर उसे ये सब भोगना पड़ते हैं जरूर। इस दृष्टि से भी पाप से दुःख बढ़ता है।

इन बातों से पता लगता है कि पाप विश्व-सुखवर्धक नहीं है। विश्वसुखवर्धन का अर्थ है—सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से अधिकतम प्राणियों का अधिकतम सुख। यही जीवन का ध्येय है। यह ध्येय पाप से पूरा नहीं होसकता। पाप एक जगह सुख देसकता है पर जब जगह उससे अधिक दुःख ही होगा, एक समय सुख देसकता है पर सब समय उससे अधिक दुःख ही होगा, एक प्राणी को सुख देसकता है पर उससे कई गुणे प्राणियों को उससे दुःख ही होगा, वह थोड़ासा सुख देसकता है पर परिणाम में अधिक से अधिक दुःख ही देगा, इसलिये कहना चाहिये कि विश्वसुखवर्धन की नीति का पालन करने और उसे ध्येय बनाने से मनुष्य पाप के पथपर नहीं चल सकता। विश्वसुखवर्धन पर जितना जोर दिया जायगा, उससे पाप घटेगा ही। उससे पाप को उत्तेजन नहीं मिल सकता।

निजसुख और सर्वसुख (एमशिम्पो अंपुंमशिम्पो)

प्रश्न—प्रत्येक प्राणी खुद सुखी होना चाहता है दुनिया के सुख से उसे क्या लेना देना? इस-लिये आत्मसुख या आत्मोद्धार ही उसके जीवन का ध्येय होना चाहिये, विश्वसुख की परेशानी के चक्कर में वह क्यों पड़े?

उत्तर—विश्वसुख की नीति को अपनाये बिना प्राणी न आत्मोद्धार कर सकता है न सुखी हो सकता है। आत्मसुख या आत्मोद्धार को ध्येय बनाने से मनुष्य गुमराह होजाता है। वह आत्मसुख के नामपर ऐसे स्वार्थ के चक्कर में पड़जाता है कि स्वार्थ और परार्थ दोनों ही

चौपट कर जाता है। विश्वसुख को ध्येय बनाने से आत्मोद्धार भी होता है और सर्वोद्धार भी होता है, आत्मोद्धार पर जोर देने से आत्मोद्धार भी नहीं होपाता और सर्वोद्धार भी नहीं होपाता। निम्नलिखित विवेचन से यह बात ध्यान में आजायगी।

यदि तुम अपने सुखको ही जीवनका ध्येय समझोगे तो दूसरे भी अपने सुखको अपने जीवन का ध्येय समझेंगे। तुम अपने स्वार्थके कारण दूसरेकी पर्वाह न करोगे, दूसरा भी इसीप्रकार तुम्हारी पर्वाह न करेगा। इस पारस्परिक असहयोग और लापर्वाही का परिणाम यह होगा कि संसारमें जितना सुख है उसका शतांश मात्र रह जायगा, और दुःख सौगुणा बढ़जायगा। तब तुम्हारे हिस्से में भी सुख कम और दुःख अधिक पड़ेगा। जब संसार में अधिक से अधिक सुख होगा तब व्यक्ति को भी अधिक से अधिक सुख मिल सकेगा। सहयोग से सुख बढ़ता है और स्वार्थपरता से दुःख बढ़ता है। यह कदापि न भूलना चाहिये कि दूसरों का सुख बढ़ाने से अपने सुख बढ़ाने में मदद मिलती है इसलिये कहना चाहिये कि परसुख या सर्वसुख ही निजसुख है।

अगर मा-बाप सोचलें कि बालबच्चों के पालन-पोषण की तकलीफ क्यों उठाई जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि मनुष्यजाति जानवर होजायगी, और मा-बाप को भी बुढ़ापे में सेवा करने को कोई न रहेगा। इससे मा-बाप कहलानेवाले भी परेशान होंगे और सन्तान कहलानेवाले भी, इस प्रकार सारी मानवजाति का पतन होजायगा, और उससे सभी दुःखी होंगे। सुखभण्डार की दृष्टि से मनुष्यजाति कगाल होजायगी और दुःख सैकड़ों गुणा बढजायगा। इसलिये व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने-पराये का भेद भूलकर संसार में सुख बढ़ाने की कोशिश करे। दूसरे का उपकार करने में जितना दुःख हमें सहना पड़ता है उससे कई गुणा सुख दूसरे को मिलता है, इसीप्रकार हमारे लिये दूसरा जब कोई कष्ट उठाता है तो उसके दुःख से कई गुणा सुख हमें मिलता है इसप्रकार बारीबारी से दोनों को सुख अधिक मिलजाता है।

एक आदमी गड्ढे में गिरपड़ा हो और उसके निकालने का हम प्रयत्न करें तो हमें कुछ कष्ट तो होगा, पर जितना हमें कष्ट होगा उससे कईगुणा आनन्द उस आदमी को मिलजायगा। इस प्रकार सामूहिक रूप में संसार में सुख की वृद्धि होती है।

जिस प्रकार एक बीज को मिट्टी में मिलाने से कई गुणा बीज और फल मिलता है उसीप्रकार परोपकार रूपी वृक्ष के लिये हम अपने सुख का जितना बलिदान करते हैं उससे कई गुणा सुख दूसरेको मिलता है। इसी प्रकार कभी हमारा भी अवसर आता है जब हम दूसरे के त्याग का फल पाते हैं इसप्रकार परस्पर के उपकार से सब सुखी होते हैं।

कभी कभी तो हमारी थोड़ी सी भी सेवा से दूसरों का हजारों गुणा उपकार होजाता है। एक आदमी कुए में गिर पड़ा, उसके बचाने में हमें जो कष्ट सहना पड़ेगा उससे हजारों गुणा सुख उसके प्राण बचनेपर उसे मिलेगा। इस प्रकार अपने थोड़े से प्रयत्न से दूसरे को कई गुणा सुख मिला और दूसरे के थोड़े से प्रयत्न से अपने को कई गुणा सुख मिला, इस प्रकार दोनों के हिस्से अधिक सुख आया। इसलिये कहना चाहिये कि परसुख से निजसुख है।

मनुष्य जितने अंश में स्वार्थान्ध होता है उतने अंश में सुख कम पाता है। परस्पर के उपकार से, सहयोग से सब सुखी होते हैं। मानलो दो व्यक्ति ऐसे हैं जो बिलकुल जुदे-जुदे रहते हैं, एक दूसरे को जरा भी सहायता नहीं करते दोनों ही सालमें ग्यारह माह नीरोग रहते हैं और एक माह बीमार। बीमारी में कोई किसी की सहायता नहीं करता। अब कल्पना कीजिये बिना परिचर्या के एक महीने तक बीमार रहनेवाला व्यक्ति कितना दुःखी होगा। ग्यारह महीने की नीरोगता का सुख भी उसके आगे फीका पड़ जायगा। अगर वे बीमारी में एक दूसरे की सेवा करें तो सेवा करने में जितना कष्ट बढ़ेगा उससे दस गुणा

कष्ट दूसरे से परिचर्या पाने से घटजायगा। सेवा करने के कष्ट की अगर दस मात्राएँ हों तो सेवा पाने के आनन्द की सौ मात्राएँ होंगी। इस प्रकार दोनों ही दस-दस देकर सौ-सौ पाने से नव्बे-नव्बे के लाभ में रहेंगे। मतलब यह कि प्राणी में स्वार्थान्धता जितनी कम होगी, परस्पर उपकार का प्रयत्न जितना अधिक होगा, सुख की वृद्धि उतनी ही अधिक होगी। स्वार्थान्धता के कारण जो संघर्ष होता है उसकी छीनाझपटी में सुख पैदा ही नहीं होपाता, अथवा जो पैदा होता है उसका बहुभाग मिट्टी में मिलजाता है अर्थात् नष्ट होजाता है। इसलिये स्वार्थान्धता जितनी कम हो, परोपकार और सहयोग जितना अधिक हो उतना ही अच्छा है। इससे समाज में सुख अधिक बढ़ता है और हरएक व्यक्ति के हिस्से में अधिक आता है। इसलिये मनुष्य का प्रयत्न सार्वदेशिक और सार्वकालिक दृष्टि से यथासम्भव अधिक से अधिक सुख होना चाहिये। इसी को कसौटी बनाकर हम नीति-अनीति का निर्णय कर सकते हैं।

प्रश्न—परोपकार की कोशिश कितनी भी की जाय, पर है व्यर्थ ही। क्योंकि हरएक प्राणी जो सुख-दुःख भोगता है वह पूर्व पुण्यपाप के उदय से। सो वह तो भोगना ही पड़ेगा, तब किसी के उपकार से क्या होने जानेवाला है? ऐसी हालत में उपकार के झंझट में क्यों पड़ना चाहिये?

उत्तर—प्राणी के पास पुण्य-पाप आता है कहां से? जब प्राणी किसी का उपकार करता है तब पुण्य होता है और जब किसी का अपकार करता है तब पाप होता है। अगर उपकार अपकार का कुछ अर्थ न हो तो पुण्यपाप भी न हो, तब भोगने के लिये पुण्यपाप कहां से आयगा? यदि उपकार करने से पहिले जन्म में हमें पुण्यबन्ध हुआ था तो इस जन्म में भी उपकार करने से पुण्यबन्ध होगा इसलिये अपनी भलाई के लिये, अपने पुण्यबन्ध के लिये, अधिक से अधिक परोपकार करना चाहिये।

यदि यह मानलिया जाय कि जो कुछ होता है वह मनुष्य के पुण्य पाप कर्म के उदय से ही होता है, तो अपने कार्यों की जिम्मेदारी से हर-एक आदमी बचजायगा। यदि चोर चोरी करता है तो कहना होगा कि उसने कोई बुराई नहीं की, क्योंकि जिसकी चोरी हुई उसके पाप-कर्म के उदय से चोरी हुई, चोर बेचारे को तो निमित्त बनना पड़ा, जिसका खून हुआ उसका पाप-कर्म उदय में आया, खूनी तो बेचारा निमित्तमात्र बना। इस प्रकार जगत में जितने पापी हैं सब वास्तव में पापी न कहलायँगे, निमित्तमात्र कहलायँगे। जैसे चोर को जेल जाने का दण्ड दिया जाय तो चोर को जेल में बन्द रखनेवाला जेलर पापी नहीं कहलाता उसी प्रकार पाप-कर्म के उदय को भोगने के लिये चोर खूनी आदि बनकर जो पापोदय के निमित्त बनते हैं वे पापी न कहलायँगे। इस सिद्धान्त का परिणाम यह होगा कि संसार में कोई पापी न कहा जासकेगा। तब दूसरी समस्या यह खड़ी होगी कि जब संसार में कोई पापी बनता ही नहीं, तब जिस आदमी की चोरी हुई वह पहिले जन्म में पापी कैसे बना होगा? जो भी उसने पाप किया होगा वह किसी दूसरे को सताकर किया होगा, पर उसके सताने में तो पूर्वजन्म में भी वह उस दूसरे के कर्मोदय में निमित्तमात्र बना होगा इसलिये वह पापी नहीं कहा जासकता। जब वह पापी नहीं तो इस जन्म में जो उसकी चोरी करता है वह किस बात में निमित्त बनता है? पाप कर्म के उदय में तो निमित्त बन नहीं सकता, क्योंकि वह पापी तो है ही नहीं।

मतलब यह कि हर कार्य की जिम्मेदारी यदि पूर्वजन्मके पाप-पुण्य पर डाली जाय तो जगत में पुण्य-पाप की व्यवस्था ही न बने। इसलिये जो लोग पुण्य पाप की व्यवस्था मानते हैं उन्हें भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि सारी जिम्मेदारी उस पूर्व पुण्यपाप की नहीं है, मनुष्य के कर्तव्य की भी है। ऐसी हालत में मनुष्य को अपना कर्तव्य करना ही चाहिये। नहीं तो पुण्य-

पाप की व्यवस्था ही न बनेगी।

इस बात को ठीक समझने के लिये न्यायदेवता की एक रूपक कथा का काफी उपयोग होगा, इससे बात और साफ होजायगी।

न्यायदेवता की कथा (इंकोजीमापे कीहो)

न्यायदेवताके दर्बारमें एक बार विंकक (साहूकार) नाम के आदमीने शिकायत की कि चुरक (चोर) नामके आदमीने मेरी चोरी की है इसलिये उसे दंड मिलना चाहिये। दर्बार में चुरक बुलाया गया।

चुरक ने कहा-हुजुर, मैंने विंकक की चोरी तो जरूर की है पर इसमें मेरा अपराध नहीं है। मुझे तो विवश होकर चोर का कार्य करना पड़ा। विंकक ने पहिले जन्म में नीरडेर (जिसके पास से कोई चीज हरली जाती हो) नामक आदमी के पाससे धन हरण किया था, उस पाप का उदय इस जन्ममें विंकक के आया। पाप के उदयसे उसकी चोरी होना ही चाहिये थी, और किसी न किसी को यह सजा देना ही पड़ती, इसलिये मुझे विंकक की चोरी करके उसे सजा देना पड़ी। इसलिये मैं निर्दोष हूं।

न्यायदेवता ने विंकक की तरफ देखा। विंकक ने कहा-हजूर, मैंने पहिले जन्ममें नीरडेर का धन हरण तो किया था, पर मैं तो निमित्त मात्र था, क्योंकि उसने भी पहिले जन्ममें नीरडेर ने लुंटगोर (जो लूटा जाता हो) का धन लूटा था, उस पाप का बदला उसे मिलना ही चाहिये था, इसलिये मैं उस पापोदय में निमित्तमात्र बनगया, और नीरडेर का धन हरण किया। इसलिये मैं निर्दोष हूं, पर जब मैं निर्दोष हूं तब एक निर्दोष की चोरी करने का पाप इसी चुरक ने किया था। इसलिये यह दोषी है।

न्यायदेवताने फिर चुरक की तरफ देखा। उसने कहा—विंकक अगर नीरडेरके पापोदयमें निमित्तमात्र बननेमें निर्दोष है और निर्दोषकी चोरी करने से मैं सदोष हूँ तो विंकक भी सदोष है। क्योंकि उसने जिस लुंटगोरका धन हरण किया था वह नीरडेर लुंटगोर के पापोदय में निमित्तमात्र था इसलिये नीरडेर निर्दोष था, और निर्दोष का धन हरण करनेसे विंकक सदोष हुआ और सदोषकी चोरी करने से, पापोदय में निमित्तमात्र होने से, मैं निर्दोष हुआ।

विंकक ने कहा—परम्परा कुछ भी रही हो, पर यह तो निश्चित है कि नीरडेर ने लुंटगोर को लूटा था इसलिये मैं नीरडेर का धन हरण होने में निमित्तमात्र था, इसलिये मैं निर्दोष हूं।

चुरक ने भी कहा—परम्परा कुछ भी रही हो, पर यह तो निश्चित है कि विंकक ने नीरडेर का धन हरण किया था-इसलिये विंकक की चोरी होनेमें मैं तो निमित्तमात्र था इसलिये मैं निर्दोष हूं।

न्यायदेवता ने कुछ जोर से कहा—जब तुम और तुम्हारे पहिले के सब चोर लुटेरे निर्दोष हैं तब यह दण्ड परम्परा क्यों चल रही है ?

चुरक ने कहा—मैं क्या समझूं हुजूर !

विंकक ने कहा—मैं क्या जानूं हुजूर !

न्यायदेवता ने कहा—अच्छा ! यह मुकद्दमा पिताजी (विवेकदेव-इंकोजीमा) के दर्बार में पेश किया जायगा।

जब विवेकदेवके दर्बारमें यह मुकद्दमा पहुँचा और उनने जब सब मिसल पढी तब वे मुसकराये और उनने फैसला लिखा—

"इस मुकद्दमे में चुरक अपराधी और दण्डनीय है। विंकक नीरडेर और लुंटगोर भी अपने अपने समय में अपराधी रहे हैं पर प्रकृति ने उन्हें अपने तरीके से दण्ड दे दिया होगा, इसलिये विंकक को दण्ड देने का काम चुरक का, नीरडेर को दण्ड देने का काम विंकक का, और लुंटगोर को दण्ड देने का काम नीरडेर का नहीं होजाता। किसी भी शासनप्रणाली में यह आवश्यक है कि कोई कानून अपने हाथ में न ले। लुंटगोर, नीरडेर और विंकक के परोक्ष अपराधों को दण्ड देने का काम प्रकृति का या न्यायदेवता का है, न कि नीरडेर विंकक और चुरक का। इसलिये इसमें से किसी को भी निरपराध नहीं कहा जासकता। चोरी करते समय चुरक न तो न्यायाधीश की मनोवृत्ति रखता था, न उसके

पास इस बात के प्रमाण थे कि किसने क्या पाप किया है जिन्हें मैं दण्ड दूं, न उसके हाथ मे न्याय का कोई अधिकार था जिससे दूसरे के अपराध का बदला लेने के लिये वह दण्डदाता बनजाय। इसलिये कहना चाहिये कि चुरक ने न्याय अन्याय का विचार न करके अपने स्वार्थ-वश नीतिकी मर्यादा को तोड़ा और संसार का दुःख बढ़ाया है। प्रकृति या न्याय देवता अपने ढंग से अपना काम करेंगे पर प्राणी को चाहिये कि वह यथाशक्य अधिक से अधिक सब का उपकार करे, अपकार किसीका न करे।

सत्येश्वर की या प्रकृतिकी ऐसी व्यवस्था नहीं है कि किसीको अपने पाप का दंड दिया जाय तो उसकेलिये किसी अन्य प्राणी को पाप करना पड़े। पुण्य पाप के फल देने का काम किसी अन्य प्राणी को नहीं सौंपागया। सत्येश्वर ने फल देने की तीन प्रणालियाँ ही ठीक मानी हैं।

१-पुण्य पाप के अनुसार प्राणी को जन्म देना, जहां उसे मन तन तथा परिस्थिति कर्म के अनुसार अच्छी बुरी मिले।

२-आचार विचार का शरीर के ऊपर प्रभाव पड़ना। क्रोध आने से शरीर का खून जलता है, ईर्ष्या आदि से अशान्ति पैदा होती है खानपान के असंयम से बीमारी आती है, प्रेम से मन प्रसन्न रहता है इससे शरीर भी स्वस्थ रहता है, इत्यादि दण्डानुग्रह सत्येश्वर की व्यवस्था है।

३-प्रगट रूप में अच्छे बुरे जो काम प्राणी करता है उसके दंडानुग्रह की योग्य व्यवस्था करने का अधिकार प्राणियों को सौंपा गया है। इसी अधिकार के अनुसार राज्य व्यवस्था, पंचायत आदि की व्यवस्था का निर्माण किया जासकता है, न्यायोचित आत्मरक्षा के लिये व्यक्ति को भी दंड का अधिकार है। पर इसमें विश्वसुख वर्धन की कसौटी पर कसकर निर्णय करना चाहिये।

चुरक ने जो चोरी की उसे दंड व्यवस्था नहीं कह सकते, क्योंकि वह उपर्युक्त तीन प्रकार की दंड शैलियों में से किसी में शामिल नहीं होती। जिस तीसरी शैली में प्राणी के हाथमें दंडानुग्रह की सत्ता आती है वह चुरक पर लागू नहीं होती, क्योंकि उसने जो चोरी की, वह विंकक के किसी अपराध के कारण नहीं, न्यायोचित आत्मरक्षा के कारण भी नहीं, समाज के किसी नियम कानून के आधार पर भी नहीं. इसलिये चुरक अपराधी है।

यहां एक बात और ध्यान में रखना चाहिये कि प्राणी के ऊपर जितने दुःख आते हैं वे सब पहिले के पुण्य पाप के अनुसार नहीं आते। जो सुख दुःख कर्मानुसार आते हैं वे ऊपर की तीन शैलियों में आगये हैं बाकी बहुतसे सुखदुःख प्रारम्भिक या बीजरूप होते हैं, जिनका बदला पीछे मिलता है। जैसे रावण ने सीता को दुःख दिया, तो इसका यह मतलब नहीं है कि वह सीता के किसी पूर्व पाप का फल था। ऐसा होता तो रावण इसका जिम्मेदार न होता। जब कि रावण इस पाप का पूरा जिम्मेदार था और मरने के बाद उसे उसका फल भोगना पड़ा। और सीता ने जितना निरपराध कष्ट उठाया उसका फल उसे मरने के बाद मिलसकता है। हां! निरपराध कष्टका ही फल पीछे मिल सकताहै, सापराध कष्ट का नहीं। अपनी लापर्वाही असंयम अज्ञान यशोलिप्सा आदिसे जो कष्ट उठाये जाते हैं वे व्यर्थ जाते हैं। एक आदमी यशोलिप्साके चक्करमें पड़कर उपवासों का प्रदर्शन करे, कांटों पर सोने का प्रदर्शन करे और भी तपस्या आदि के नाम पर निरर्थक कष्ट सहन करे तो उन कष्टों का कोई सत्फल न होगा।

प्राणी उपकार का प्रारम्भ भी कर सकता है और अपकार का प्रारम्भ भी कर सकता है। इस प्रकार वह जगत को स्वर्ग भी बना सकता है और नरक भी बना सकता है। इसलिये चुरक ने जो चोरी की वह अपकार का प्रारम्भ है, किसीके पूर्वपाप का दंड नहीं, इसलिये चुरक दंडनीय है।.,

विवेक देव के इस फैसले से इस प्रश्न का

त्तर अच्छी तरह होजाता है। इसलिये यह सोचना ठीक नहीं कि मनुष्य भला बुरा नहीं कर सकता। वह भला भी कर सकता है बुरा भी कर सकता है। अपनी इस जिम्मेदारी का ध्यान रखते हुए मनुष्य को सर्वदेशिक और सार्वकालिक दृष्टि से यथासम्भव अधिक से अधिक सुख की कोशिश करना चाहिये।

प्रश्न—माना कि सब के सुखमें निजसुख है इसलिये कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में सब के सुख का ही विचार करना पड़ेगा, पर सब का सुख कैसे होसकता है। संसार में तो एक का सुख दूसरे का दुःख बनेगा। राम का सुख रावण का दुःख है और रावण का सुख राम का दुःख है। ऐसी हालतमें कोई न कोई दुखी रहेगा ही, इसलिये यही कहाजासकता है कि जिसमें ज्यादा से ज्यादा या अधिक आदमियों का सुख हो उसीमें अपना सुख है। पर इसमें एक बड़ी अड़चन यह है कि कभीकभी अधिक आदमी अन्याय के तरफ होते हैं इसलिये अधिक आदमी के हित को महत्व देना हो तो अन्याय का समर्थन करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ–राम रावण के युद्ध में अधिक आदमी रावण की तरफ थे, इसलिये अधिक आदमी का हित करना हो तो रावण की रक्षा करना चाहिये अर्थात अन्याय का समर्थन करना चाहिये। पर जिस कसौटी से अन्याय का समर्थन होता हो उसे कर्तव्य की कसौटी कैसे कह सकते हैं? और उसके आधार से ध्येय का निर्णय कैसे कर सकते हैं।

उत्तर—किसी एक समय के और किसी एक जगह के ही बहुजनहित का विचार करने से यह गड़बड़ी होती है पर अगर सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टि से बहुजन के बहुसुख का विचार किया जाय तो यह गड़बड़ी नहीं रहती। रावण ने परस्त्री हरण किया पर इसलिये यह नहीं कहा जासकता कि परस्त्री हरण से अधिक प्राणियों का हित होता है। रावण की सेना अधिक थी पर अगर उन सैनिकों की स्त्रियों का हरण किया जाता तो उनके सुख की वृद्धि नहीं होसकती थी। मतलब यह कि एक सीता के हरण में रावण के सैनिक किसी स्वार्थवश या मोहवश अपना सुख देख रहे हों पर एक सीता को छोड़कर अपने अपने घर की सीताओं के हरण में वे सुख नहीं देख रहे थे। इसका मतलब यह कि सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे परस्त्रीहरण में बहुजन सुख नहीं है।

जब हम कहते हैं कि बहुजन अन्याय के पक्ष में है तब उसका यही मतलब है कि अमुक जगह का या अमुक समय का बहुजन अपने से बड़े सार्वत्रिक और सार्वकालिक बहुजनहित के विरोध में है। निम्नलिखित दोहों में यही बात और साफ शब्दों में कही गई है।

एक जगह ही देख मत चारों ओर निहार।
अपरिमेय संसार है अपनी दृष्टि पसार ॥ १
वर्तमान ही देख मत जो क्षण है दो चार।
कर तू निर्णय के लिये भूत भविष्य विचार ॥ २
सार्वत्रिक पर डाल तू सार्वकालिकी दृष्टि।
सत्य तुझे मिल जायगा होगी निर्णय सृष्टि ॥ ३
रावण की यदि जीत हो रामचन्द्र की हार।
तो घर-घर रावण बने डूब जाय ससार ॥ ४
होती रावण की विजय तो घर घर व्यभिचार—
करता तांडव रातदिन मिट जाते घरबार ॥ ५
परिमित रावण दल मरा हुआ पाप का अन्त।
अगणित सीताएँ बची फूला पुण्य वसन्त ॥ ६
सुखदुख निर्णय की तुला आत्मौपम्य विचार।
पर को समझा आत्मसम मिला आत्म का सार ॥ ७
अपने में ही भूल मत रख सब जग पर दृष्टि।
फिर यदि सुखवर्धन हुआ हुई धर्म की सृष्टि ॥ ८
वर्तमान ही देख मत भूत-भविष्य विचार।
फिर अपना कर्तव्य कर कर सुखमय ससार ॥ ९
परम निकष कर्तव्य की सुखवर्धन है एक।
सुख वर्धन कर विश्व का रखकर पूर्ण विवेक ॥ १०

शुद्धात्मता (शुद्धिकर्म)

प्रश्न—जब सुखवर्धन जीवन का अन्तिम ध्येय होजायगा तब आत्मशुद्धिपर उपेक्षा होगी। धर्म का सम्बन्ध सिर्फ वचन और तन से रह

जायगा। मन में दुष्ट भावना रहनेपर भी वचन और तन से सुखवर्धन का कार्य कर देने से धर्म की समाप्ति होजायगी। ईमानदार और मायाचारी में कोई फर्क न रहजायगा।

उत्तर—सुखवर्धन के कार्य को स्थिर और निश्चित बनाने के लिये, सुखवर्धन के कार्य में परस्पर विश्वास और सहयोग की जो आवश्यकता है उसे पूरा करने के लिये, सुखवर्धन के कार्य में अपने को जो सुख-सन्तोष और शान्ति मिलती है उसे प्राप्त करने के लिये आत्मशुद्धि या शुद्धात्मता आवश्यक है। अधिक से अधिक सुखवर्धन जब हमारा ध्येय है तब उसके साथ अधिक से अधिक आत्मशुद्धि उपध्येय के रूप में होती ही है। आत्मशुद्धि के बिना जो सुखवर्धन का कार्य किया जायगा वह क्षणिक, अनिश्चित, और अपूर्ण होगा, इसलिये उतने सुखवर्धन से धर्म की समाप्ति नहीं होसकती।

इस बात को समझने के लिये एक सरीखा व्यवहार करनेवाले किन्तु भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति रखनेवाले मनुष्यों को लें। फिर देखें कि सुखवर्धन की दृष्टि से किसका क्या स्थान है? और ईमानदार और मायाचारी के सुखवर्धन में कितना अन्तर है?

१—एक मनुष्य मन में प्रेम भक्ति आदि होने से सद्व्यवहार कर रहा है। २—दूसरा व्यक्ति मन में प्रेम न होनेपर भी सद्व्यवहार कर रहा है पर सोचता यह है कि किसी से द्वेष क्यों रखना चाहिये? द्वेष किसी स्वार्थपरता का परिणाम है, मुझे वह स्वार्थपरता दबाना चाहिये। ३—तीसरा व्यक्ति इसलिये सद्व्यवहार कर रहा है कि सद्व्यवहार प्रगट न किया जायगा तो अशान्ति बढ़ेगी इससे आगे और दुःख उठाना पड़ेगा इसलिये पूरी तरह शिष्टाचार निभाना ही अच्छा। ४—चौथा इसलिये सद्व्यवहार कररहा है कि मैं निर्बल हूँ गरीब हूँ, सद्व्यवहार न करूँगा तो इसका प्रतिफल अच्छा न होगा, बहुत से लाभों से वञ्चित रहजाऊँगा या परेशानी उठाऊँगा। ५—पांचवां इसलिये सद्व्यवहार कर रहा है कि यह मौका ही ऐसा है कि सद्व्यवहार करना चाहिये। दूसरा अवसर आनेपर सारी कसर निकाल ली जायगी। ६—छट्ठा इसलिये सद्व्यवहार कर रहा है कि सद्व्यवहार से ही विश्वास में लेकर धोखा दिया जासकता है ठगा जासकता है, उधार आदि के बहाने रुपये लेकर हजम किये जासकते हैं या किसी जाल में फसाया जासकता है।

इसप्रकार एक सरीखे व्यवहार के कारण, ऊपरी सुखवर्धकता समान होनेपर भी छह आदमियों की छह तरह की मनोवृत्ति है। पर आगे-पीछे का हिसाब लगाकर देखा जाय तो पता लगेगा कि जिसकी आत्मशुद्धि कम है उसकी सुखवर्धकता भी कम है, जिसकी आत्मशुद्धि अधिक है उसकी सुखवर्धकता भी अधिक है। निम्नलिखित विवेचन से यह बात स्पष्ट होगी।

१—शुद्धात्मा (शुधिम्प) जिसके मन में प्रेमभक्ति है उसका सद्व्यवहार स्थायी है, भविष्य में भी उसकी आशा की जासकती है इस विश्वास से एक तरह की आत्मीयता पैदा होती है और इससे सहयोग बढ़ता है। साथ ही सद्व्यवहार करनेवाले को भी प्रसन्नता होती है, इस कार्य में कोई श्रम आदि खर्च करना पड़े तो उसका दर्द नहीं मालूम होता, इसप्रकार यह शुद्धात्मता स्वपर सुखवर्धन की दृष्टि से सर्वोत्तम है।

२—जो अपनी आत्मा को शुद्ध करने की तैयारीमें है (शुधेलरिम्प) वह शुधिम्प के बराबर तो नहीं, फिर भी काफी सुखवर्धन करता है। शुधिम्प की बुद्धि और मन दोनों ही सद्व्यवहार में लगे हैं पर शुधेलरिम्प की बुद्धि तो सद्व्यवहार में लगी है पर मन हिचकिचारहा है। इसलिये शुधिम्प की अपेक्षा वह, कुछ दुःखी है। मन की कुछ हिचकिचाहट (हिच्चो) उसके दुःख के बोझ को बढ़ा रही है, सद्व्यवहार पर भी इसका असर पड़ता ही है, हालांकि वह इतना सूक्ष्म है जिसके साथ सद्व्यवहार किया जारहा है (सुहा जगेर) उसे मुश्किल से ही पता लगसकता है फिर भी शुधिम्प और शुधेलरिम्प के

के स्वाद में फर्क पैदा हो ही जाता है। इतना अन्तर होनेपर भी शुवेलरिम्प बहुत कुछ सुख-वर्धन करता है।

३–तीसरी श्रेणी का मनुष्य चतुरात्मा (चन्तिम्प) है, वह चतुरता से काम लेता है, और सहिष्णुता (फीशो) का परिचय देता है। बाहर से सद्व्यवहार इसका भी ठीक है। परन्तु वह परिस्थिति से पैदा होनेवाली विवशता का अनुभव कर रहा है। इसलिये शुवेलरिम्प की अपेक्षा भी भीतर ही भीतर बहुत दुःखी है। उसकी इस मनोवृत्ति का असर उसके व्यवहार पर पड़ने ही वाला है, जो शुवेलरिम्प के व्यवहार से भी अधिक स्पष्ट होगा। परिस्थिति बदलते ही वह सद्व्यवहार छोड़ देगा अशान्ति का डर न हो तो सद्व्यवहार न करेगा, इसलिये उसकी अपूर्णता के साथ उसकी अनिश्चितता भी बढ़जाती है। इसलिये सुखवर्धन घटजाता है।

४–चौथा दीनता के कारण सद्व्यवहार करता है इसलिये यह दीनात्मा (नूहिम्प) है। इसके मनमें भय और दीनता की वेदना है अथवा आशा की व्याकुलता है इसलिये चन्तिम्प (चतुरात्मा) की अपेक्षा यह अधिक दुखी है। उसकी इस मनोवृत्ति का असर व्यवहार पर भी पड़ता है इसलिये दूसरे को भी इसका रस पूरा नहीं मिलपाता। दीनता की परिस्थिति हटजाने पर यह सद्व्यवहार भी हट जायगा इसलिये उसमें अस्थिरता और अनिश्चितता भी है। इन सब बातों से इसका सुखवर्धन और भी कम है।

५–पाचवाँ अवसरवादी (चंतिम्प–अवसरात्मा) अथवा चालाक (चुन्त) है। इसे सद्व्यवहार में कोई आनन्द नहीं आरहा है, काफी बोझ अनुभव कर रहा है, इसकी दृष्टि परिस्थिति बदलते ही सारी कसर निकालनेपर है, इसलिये चिन्ता से भी काफी परेशान है, उसकी अस्थिरता तथा अनिश्चितता नूहिम्प (दीनात्मा) से भी अधिक है, इन सब बातों का असर सद्व्यवहार पर भी इतना पड़ता है कि सुहाजगेर [जिसके साथ सद्व्यवहार किया जाता है] को भी इसका पता लगजाता है, इसलिये उसको उतना सुख-सन्तोष भी नहीं मिलता जितना नूहिम्प [दीनात्मा] आदि से मिलजाता है। इस प्रकार इसका सुखवर्धन और भी कम है बल्कि अवसर निकलनेपर जल्दी ही दुःख-वर्धन की सम्भावना है।

६–छट्टा वञ्चकात्मा [चीटिम्प] है। इसका सुखवर्धन तो नाममात्र है और दुःख-वर्धन असीम है। स्वयं तो यह अशान्त चिन्तातुर भीत है ही, पर इसके चक्कर में पड़नेपर सुहाजगेर भी काफी दुखी होजाता है।

इन छह व्यक्तियों के विवेचन से मालूम होता है कि जिसमें जितनी आत्मशुद्धि होती है सुखवर्धकता भी उतनी अधिक होती है और जितनी आत्मशुद्धि कम होती है उतनी सुख-वर्धकता भी कम होती है। इसलिये सुखवर्धकता के लिये आत्मशुद्धि आवश्यक है। अगर सुखवर्धन ध्येय को पूरा करना हो तो उसके पहिले आत्मशुद्धि उपध्येय को पूरा करना ही पड़ेगा। इस प्रकार सुखवर्धन ध्येय में आत्मशुद्धि उपध्येय आ जाता है।

प्रश्न—देखा जाता है कि अगर किसी आदमी से कोई काम बिगड़जाता है–उससे दुःख बढ़जाता है–परन्तु यदि उसका मन शुद्ध हो तो हम उसे दोषी नहीं ठहराते, परन्तु यदि किसी का मन अशुद्ध हो, उसमें द्वेषादि भरा हो किंतु उसने हमें कोई दुःख न पहुँचाया हो तोभी हम उसे दोषी मानते हैं उसके प्रति मनमें विरोध लाते हैं, इससे मालूम होता है कि हमें सुखवर्धकता की अपेक्षा आत्मशुद्धि की अधिक चिंता है इसलिये आत्मशुद्धि को ही मुख्य ध्येय क्यों न माना जाय ?

उत्तर—उपर्युक्त अवसरपर भी आत्मशुद्धि की जो चाह मनुष्य को होती है वह भी टोटल मिलानेपर सुखवर्धकता अधिक होने के कारण। जिस मनुष्य से किसी अवसर पर काम बिगड़गया है किन्तु हृदय शुद्ध है उसपर हमें द्वेष नहीं होता इसका कारण यह है कि हम

जानते हैं कि "काम बिगड़ने में इसका कोई अपराध नहीं है, दूसरा अज्ञात या जबर्दस्त कारण आजाने से यह काम बिगड़ा है, ऐसा कारण सदा नहीं आयगा, इसलिये शुद्ध हृदय व्यक्ति पर विश्वास रक्खा जासकता है। वह जानबूझकर अहित नहीं करेगा।" इस विचारधारा से हमें शुद्ध हृदय व्यक्ति के बारे में निश्चिन्तता बनी रहती है, विश्वास बना रहता है। और यह काफी सुख-सन्तोष की बात है। किन्तु जिसके मनमें द्वेष है, किन्तु किसी कारण या अवसर आदि न मिलने से वह प्रगट या सफल नहीं होपाया है उसके विषयमें चिन्ता बनी रहती है। न जाने कब मौका मिलजाय और वह हमें सता डाले। इस प्रकार सदा की बेचैनीसे काफी दुःख होता है। सहयोग की आशा न रहने से भी सुख हानि होती है। इसलिये लोग आत्मशुद्धि को देखते हैं। किन्तु उसका ध्येय सुखवर्धन ही होता है।

प्रश्न—जब कोई मनुष्य हमें गाली देता है तब उसकी गालियों से हमें कोई चोट नहीं लगती, अच्छे शब्दों की तरह बुरे शब्द भी हवा में उड़जाते हैं फिर भी तो हमें दुख होता है वह इसी बात का कि इसका मन अशुद्ध है। मतलब यह कि दुःखवर्धन न होनेपर भी मन की अशुद्धिसे हम किसी बात को अकर्तव्य मानलेते हैं। इससे तो यही मालूम होता है कि आत्मा की शुद्धि ही असली ध्येय है।

उत्तर—आत्मा या मन की अशुद्धि तो तब भी कही जासकती है जब कोई हमें गाली न देकर हमारे दुश्मन को गाली दे, पर उस समय हमे दुःख नहीं होता या बहुत कम होता है। इसका मतलब यह हुआ कि गाली को हमने इसलिये बुरा नहीं माना कि इससे उसका आत्मा अशुद्ध हुआ, किंतु इसलिये बुरा माना कि उससे हमारा अपमान हुआ। और जितना अपमान हुआ उतना दुःख हुआ। एक आदमी हमारे परोक्ष में हमे गाली दे तो इसपर हम उपेक्षा कर जायँगे। क्योंकि परोक्ष मे गाली देने से हमपर कोई यह आक्षेप न लगायगा कि तुम गाली खागये इसलिये कमजोर हो। पर जनता के बीच हमारे सामने कोई हमे गाली दे तो हम न सहेंगे क्योंकि उसमें हमारा काफी अपमान होता है। अपमान एक बड़ाभारी मानसिक दुःख है जो गाली से मिलता है इसलिये हम इसके विरोधी होते हैं। यहा हमारी दृष्टि सुखवर्धन करने और दुःख घटाने की रहती है। आत्मशुद्धि इस कार्य में जितनी सहायता पहुँचाती है उतने अंश में उसे भी उपध्येय के रूपसे स्वीकार किया जाता है।

प्रश्न—जैसे यह कहा जासकता है कि सुखवर्धन के साथ आत्मशुद्धि होती है उसी प्रकार यह भी कहा जासकता है कि आत्मशुद्धि के साथ सुखवर्धन होता है। सुखवर्धन को ध्येय मानने में आपत्ति नहीं है पर आत्मशुद्धि को ध्येय मानने में भी क्या आपत्ति है?

उत्तर—चार आपत्तियाँ हैं १–अनिश्चितार्थता २–अनिष्टार्थता ३–विपक्षाश्रयता, ४–अशात जिज्ञासा।

१—अनिश्चितार्थता (नोनिसागो) आत्मशुद्धि शब्द का अर्थ ही निश्चित नहीं है। आत्मा क्या है? वह नित्य द्रव्य है या द्रव्यों के मिश्रण से बनी कोई अनित्य वस्तु है, वह परमाणु बराबर है या शरीर परिमाण है या विश्वव्यापक है? उसके साथ अशुद्धि क्या है? वह कोई भौतिक पिंड है, या उसका गुण है? या माया है? भौतिक-अभौतिक का बन्ध कैसे और कब होसका है? उसकी शुद्धि का क्या मतलब है? वह होती कैसे है? इन-प्रश्नों के साथ मोक्ष-अमोक्ष ब्रह्म माया आदि के ऐसे प्रश्न खड़े होजाते हैं कि आत्मशुद्धि का ठीक रूप ही स्पष्टता से ध्यान में नहीं आता फिर उसको ध्येय कैसे मानाजाय।

२—अनिष्टार्थता (नोइश्शागो) आत्मशुद्धि का साधारणतः यह मतलब समझा जा[illegible] है कि चित्त स्थिर हो, निर्विकल्प हो, राग द्वेष आदि किसी तरह की भावना उसमें पैदा न [illegible] हो, आत्मा समाधिमें लीन हो, या आत्मा [illegible] मे लीन हो, मन वचन शरीर की क्रियाएँ बन्द [illegible]

आदि। ऐसी अवस्था असम्भव तो है ही, किंतु इससे भी बुरी बात यह है कि यह सब बेकार है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है आनन्द रूप है और ज्ञान और आनन्द स्वयं एक विकल्प हैं, क्योंकि उसमें नाना तरह की अनुभूतियाँ हैं ऐसी अवस्थामें आत्मा को निर्विकल्प बना देने का अर्थ है उसे ज्ञानशून्य आनन्दशून्य बनाकर जड बना देना।

आत्मा में अगर भलाई से राग न हो, बुराई से द्वेष न हो, गुरुजनों में गुणीजनों में उपकारियों में आदर भक्ति कृतज्ञता न हो, जीवित रहने के लिये खानपान आदि की चेष्टा न हो, खानपान सामग्री के लिये अर्जन का कोई यत्न न हो, तो ऐसा जीवन एक तो टिकेगा नहीं, अगर टिक भी गया तो ममी (मिश्रके पिरामिडों में निकली हुई हजारों वर्ष पुरानी लाशें) की तरह वह बेकार होगा। जगत को तो इससे कोई लाभ है ही नहीं, पर जड़ता में समाजाने से, या एक तरह के नशे में लीन हो-जाने से उसको भी कोई लाभ नहीं। व्यवहार में जो इससे असीम हानि होगी वह यह कि निर्वि-कल्प समाधि आदि की साधना के नामपर मुफ्तखोरियों (मुफ्तखोरों) की एक पल्टन खड़ी होजायगी।

ऐसे लोग स्थिरता को शुद्धि और चंचलता को अशुद्धि मानने लगते हैं, जब कि शुद्धि-अशुद्धि का इससे कोई नियत सम्बन्ध नहीं। एक गड्ढे में पानी रुकजाय तो वह शुद्ध न होजायगा, और आसमान में बादल के रूप में पानी चपलता से इधर का उधर दौड़ता रहे तो अशुद्ध नहीं होजायगा। चंचल पानी भी शुद्ध होसकता है और अशुद्ध होसकता है और स्थिर पानी भी शुद्ध होसकता है और अशुद्ध होस-कता है। आसमान में पानी चंचल होनेपर भी शुद्ध है, गटर में बहता हुआ पानी चंचल होने पर भी अशुद्ध है। वर्षा का पानी जमीन में पड़ने के पहिले साफ बोतल में भरकर रख लिया जाय तो स्थिर रहनेपर भी शुद्ध है और गड्ढे में रुका हुआ पानी स्थिर रहनेपर भी अशुद्ध है। इसलिये यह समझना गलत है कि जो आदमी एक जगह बैठजायगा, मन वचन काय को स्थिर करलेगा सो शुद्ध होजायगा और सत्कार्यों में लगा रहेगा तो अशुद्ध होजायगा। पूर्ण एकाग्रता से मछलीपर ध्यान लगानेवाला बगुला अशुद्ध है और विश्वहितैषिता से दुनिया भर पर नजर डालनेवाला साधु शुद्ध है।

यही कारण है कि तीर्थंकर पैगम्बर अव-तार कहलानेवाले व्यक्ति जीवनभर समाजसेवा में लगे रहते हैं फिर भी शुद्धात्मा बने रहते हैं। जो लोग ईश्वरवादी हैं उनके अनुसार ईश्वर जगत् की व्यवस्था में लगा रहता है फिर भी वह शुद्धात्मा है। इसलिये निश्चलता को शुद्धि और अस्थिरता को अशुद्धि मानना असत्य है। पर बहुत से लोग या सम्प्रदाय आत्मशुद्धि के नामपर इसी तरह के अनेक अनिष्ट अर्थ मानते हैं इसलिये आत्मशुद्धि को ध्येय मानना ठीक नहीं।

हां! जो आत्मशुद्धि या ध्यान आदि की एकाग्रता सुखवृद्धि और दुखहानि के लिये जरूरी है उसे सुखवर्धन ध्येय के साधन रूप में अपनाया जासकता है पर ऐसी हालत में उसे उपध्येय कहेंगे, ध्येय नहीं।

प्रश्न–निर्विकल्प समाधि आदि हम छोड़ देते हैं पर क्रोध मान माया लोभ आदि कषायों का त्याग करना आत्मशुद्धि है यही अकषा-यता रूप आत्मशुद्धि को ध्येय मानें तो क्या हानि है इसमें अनिष्टार्थता क्या है?

उत्तर–आत्मशुद्धिके नामपर जैसी अकषा-यता का रूप माना जाता है वह सुख की तरह निर्विवाद नहीं है, और अनिष्टार्थ भी है। क्रोध आदि वृत्तियों का पूर्णनाश हो सकता है या नहीं, अथवा उनके पूर्णनाश से चैतन्य की जाग्रत अवस्था रहेगी कि नहीं ये बातें विवादग्रस्त या अविश्वसनीय हैं। गंभीर विचार से यही मालूम होता है कि क्रोध मान माया लोभ का पूर्णनाश नहीं किया जासकता, न किया जाना चाहिये, इनका दुरुपयोग रोका जासकता है, इनके विकृत रूप को रोका जासकता है, इनका प्रदर्शन मर्या-

दित किया जासकता है यह करना चाहिये, यही इष्ट है, इनका पूर्णनाश अनिष्ट है। अन्यायपर आवश्यक क्रोध आना धर्म है, अन्यायपर उपेक्षा या लापर्वाही करना निर्बलता या कायरता है अधर्म है। अभिमान से दूसरों का अपमान करना पाप है, अहंकारियों या अत्याचारियों के सामने आत्मगौरव या लोकगौरव या न्याय-गौरव की रक्षा करना धर्म है। स्वार्थवश दूसरों को छलना पाप है किन्तु उसके कल्याण के लिये असत्य भाषण पाप नहीं है। लोभ पाप है पर प्रेम मितव्ययिता आदि उसीके अच्छे रूप पाप नहीं हैं। मतलब यह कि स्वपरकल्याण के लिये इनकी जहां जितने जैसे रूपमें आवश्यकता है वहां उनको रखना चाहिये। पूर्ण रूप मे अकषाय होनेपर मनुष्य बेकार या जड़तुल्य होजायगा। अकषायता के ध्येय को अपनाने के भ्रम मे पड़कर बहुत से जैन ग्रंथो मे म महावीर के जीवन की विडम्बना होगई है। वे भोजन नहीं कर सकते, किसी से बात नहीं कर सकते, स्वेच्छा से कहीं आ जा नहीं सकते, आदि अस्वाभाविक चित्रण पूर्ण अकषायता के दुष्परिणाम है। इसलिये अकषायता का ध्येय भी अनिष्ट है। हा। जितने अंश मे वह स्वपरकल्याणकारी अर्थात विश्व सुखवर्धक है उतने अंश मे उपध्येय के रूप में उसे माना जासकता है।

३-विपक्षाश्रयता (राफ्शु जो) आत्मशुद्धि का अर्थ अनिश्चित या अनिष्ट होने से अन्त मे उसका यही अर्थ ठीक माना जाता है कि जिसके द्वारा मनवचन तन की प्रवृत्ति स्वपरकल्याण-कारी अर्थात् विश्वसुखवर्धक हो, वह आत्म-शुद्धि है और जिसके द्वारा मन वचन तनकी प्रवृत्ति अकल्याणकारी या दुखवर्धक हो वह अशुद्धि है। ऐसी हालत मे आत्मशुद्धि सुखवर्धन के आश्रित होजाती है। सुखवर्धन को हटाकर हम आत्मशुद्धि को ध्येय बनाना चाहते थे, इसलिये इस प्रकरण में सुखवर्धन आत्मशुद्धि का प्रतिस्पर्धी या विपक्ष था और उसी प्रतिस्पर्धी का आश्रय लेनेपर आत्मशुद्धि का अर्थ ठीक बैठ सका। ऐसी हालत में आत्मशुद्धि को ध्येय मानने का कोई अर्थ नहीं। ध्येय तो सुखवर्धन ही रहा और आत्मशुद्धि उपध्येय हुआ।

४-अशान्त जिज्ञासा-(नोशम जानिशो) चौथी बात यह है कि आत्मशुद्धि से जिज्ञासा शान्त नही होती। आत्मशुद्धि किसलिये, यह जिज्ञासा बनी ही रहती है। प्राणीको सुख चाहिये। आत्मशुद्धि से सुख मिलता हो तो आत्मशुद्धि ठीक है, नहीं मिलता हो तो आत्मशुद्धि बेकार है। स्वतन्त्रता, मोक्ष, ईश्वर, आत्मशुद्धि, आदि सब के बाद भी यह प्रश्न खड़ा होसकता है कि यह सब किसलिये? किन्तु सुख के बाद यह जिज्ञासा शान्त हो जाती है इसलिये विश्वसुखवर्धन को अंतिम ध्येय और कर्तव्य निर्णय की कसौटी मानना चाहिये।

प्रश्न—सुखवर्धन ध्येय ठीक होनेपर भी उसमें एक बड़ी भारी आपत्ति यह है कि उसका दुरुपयोग काफी होसकता है। सुखवर्धन के नाम-पर सभी स्वार्थियो और पापियो को अपना स्वार्थ या पाप छिपाने की ओट मिलजाती है। किसी पाप को सुखवर्धक सिद्ध करना जितना सरल है उतना सरल उसे आत्मशुद्धि रूप सिद्ध करना नहीं है।

उत्तर—विश्वसुखवर्धन की कसौटीपर कसकर कोई कार्य किया जाय तो उसमें पाप और दुस्वार्थ नहीं छिपसकता। झूठी दुहाई देकर कोई पाप छिपाने को दुरुपयोग नहीं कहते। इसे दुरुपयोग कहा जाय तो ऐसा दुरुपयोग तो किसी भी सच्ची बात का होसकता है। आत्मशुद्धि का भी होसकता है। आत्मशुद्धि की ओट में मनुष्य अकर्मण्य बनजाता है दम्भी घमण्डी और लापर्वाह बनजाता है। उसमें एक तरह की ठन्डी क्रूरता आजाती है। अन्याय अत्याचार को रोकने की शक्ति होनेपर भी और कर्तव्य का अंग होनेपर भी उसे न रोकना ठंडी क्रूरता है। आत्मशुद्धि के नामपर जो उदासीनता लापर्वाही आदि का नाटक किया जाता है वह दुरुपयोग तो स्पष्ट ही है।

कहा जासकता है कि जहा आत्मशुद्धि है

रहा अहंकार आदि कैसे रहसकते हैं। सचमुच नहीं रह सकते, ठीक उसी तरह जिस तरह विश्व-सुखवर्धन के होनेपर दुःस्वार्थ और पाप नहीं रहसकते। यह तो झूठी दुहाई देकर पाप छिपाने की बात है सो झूठी दुहाई को कहां कहां रोक सकते हैं? इसलिये झूठी दुहाई की पर्वाह न कर हमें ठीक अर्थ लेकर चलना चाहिये। ठीक अर्थ मानकर भी अगर दुरुपयोग हो तो दुरुपयोग मानना चाहिये। विश्वसुखवर्धन का ठीक अर्थ लेनेपर उसकी ओट में पाप या दुःस्वार्थ नहीं छिपसकते जिससे उसे ध्येय न माना जाय।

प्रश्न—माना कि विश्वसुखवर्धन की ओट में पाप नहीं छिपसकते। फिर भी यह बात तो साफ है कि सुखवर्धन की कोशिश करनेपर भी दुःखवर्धन होता है। किसी भूखे को मांस खिलाने में जैसे एक को थोड़ा सुखवर्धन और दूसरे को काफी दुःखवर्धन होता है उसीप्रकार पानी पिलाने आदि हर एक कार्यमें है। हम परोपकार के नामपर असंख्य क्षुद्र जीवों का जीवन नष्ट कर देते हैं इसप्रकार एक प्राणी के सुखवर्धन के लिये असंख्य प्राणियों का दुःख-वर्धन करते हैं। इसलिये अच्छा तो यही है कि मनुष्य परोपकारी बनने की अपेक्षा अहिंसक बने। सुखवढाने की अपेक्षा दुःख न बढाने का कार्य करें, यही हमारा ध्येय होना चाहिये। सीधे शब्दों में अहिंसा हमारे जीवन का ध्येय होना चाहिये।

उत्तर—अहिंसा दुःख को रोकना है। और दुःखको रोकना भी एक तरह का सुखवर्धन है। इसलिये अहिंसा में भी सुखवर्धन की दृष्टि काम करती है। फिर भी सुखवर्धनपर उपेक्षा करके केवल अहिंसा को जीवन का ध्येय नहीं बना सकते। क्योंकि वह अव्यावहारिक है और व्याव-हारिक भी होती तो अनिष्टता के कारण उसे स्वीकार नहीं किया जासकता था।

अगर हम सूक्ष्म हिंसा रोकने की कोशिश करें तो एक तरह से सामाजिक प्रलय होजाय। पानी पीने में और श्वास लेने में जो सूक्ष्म जीव मरते हैं उन्हें बचाने के लिये हमे पानी पीना और श्वास लेना बन्द करना पड़ेगा इस तरह मानवसमाजका या प्राणिसमाज का सर्वनाश ही होजायगा। इस प्रकार जब जीवन ही नहीं रहेगा तब जीवन का ध्येय या धर्म क्या रहेगा?

प्रश्न—अपने जीने के लिये भले ही सूक्ष्म हिंसा होती रहे पर दूसरों के लिये हम हिंसा क्यों करें?

उत्तर—यदि सूक्ष्म हिंसा भी न होने देना हमारे जीवन का ध्येय है तब उस ध्येय को सब से पहिले अपने ही ऊपर अजमाना चाहिये। अगर सूक्ष्म हिंसा पाप है तो सभी के लिये पाप है? एक पाप अपने लिये किया जाय तो पाप नहीं है या क्षन्तव्य है और परोपकार की दृष्टि से दूसरों के लिये किया जाय तो पाप है, इस स्वार्थ-परता और पक्षपात को धर्म कैसे कह सकते हैं? और तब यह अहिंसा का शुद्ध विचार भी नहीं रहता।

दूसरी बात यह है कि हमें अपने लिये भी परोपकार की जरूरत है। अगर हम किसी बीमार आदमी को पानी न पिलायेंगे तो हमारी नीतिके अनुसार हमारी बीमारीमें दूसरा हमें पानी नहीं पिलायगा। हमारी सेवा के बिना दूसरे मर जायँगे और दूसरों की सेवा के बिना हम मर जायँगे। इसलिये यह हद दर्जे की मूर्खता और कृतघ्नता है कि हमें अपनी भलाई के लिये तो सूक्ष्महिंसा करना चाहिये पर दूसरे की भलाई से क्या लेना-देना? दूसरे की भलाई के बिना हमारी भलाई भी टिक नहीं सकती। इसलिये पूर्ण स्वार्थ के लिये पूर्ण परार्थ अत्यावश्यक है? सच पूछा जाय तो परोपकार भी एक तरह का ऋण चुकाना है। व्यक्तिगत ऋण चुकाना इसे भले ही न कहाजाय किन्तु सामाजिक ऋण चुकाना इसे कहना चाहिये। हम देशाटन करते हैं जगह जगह दूसरों के बनवाये हुए कुओं का पानी पीते हैं दूसरे के द्वारा बनवाई हुई धर्मशाला में ठहरते हैं और दूसरों की अनेक वस्तुओं का उपयोग करते हैं इस ऋण को चुकाने के लिये यदि हम भी

दूसरों के लिये कुआ खुदवादे धर्मशाला बनवादें तो यह पाप न होगा, ऋण चुकाना रूप धर्म होगा, इसे एक तरह की ईमानदारी का कर्तव्य कहना चाहिये।

प्रश्न—जो अपने कुटुम्बी है या जो संयमी हैं उनका उपकार करना ठीक है, पर हरएक का उपकार करके हिंसा क्यों बढ़ाना चाहिये? अनिवार्य और संयमवर्धक उपकार ही करना चाहिये।

उत्तर—कुटुम्बियों के साथ हमारा घनिष्ट सम्बन्ध होता है इसलिये उपकार का आदान प्रदान भी उनसे विशेष मात्रा में है पर हमारा सारा जीवन इनेगिने कुटुम्बियों में ही समाप्त नहीं होजाता। घर में आग लगनेपर अकेले कुटुम्बी ही उसे नहीं बुझाते, दूसरों से भी मदद लेना पड़ती है, प्रवास में या घर के बाहर कुटुम्बी ही काम नहीं आते किसी से भी मदद लेना पड़ती है, इसलिये एक तरह की विश्वकुटुम्बिता को अपनाये बिना गुजर नहीं है। इसप्रकार प्रत्येक व्यक्ति विश्व का ऋणी है और यथाशक्य उसे विश्व का ऋण चुकाना चाहिये, वह विश्व का कुटुम्बी है और यथाशक्य विश्व से कौटुम्बिकता निभाना चाहिये। इस विषय में जितनी संकुचित दृष्टि से काम लिया जायगा, वह उतनी ही स्वार्थपरता और नादानी होगी।

संयमियों के उपकार करने का अर्थ है कि उनका विशेष उपकार करना चाहिये, क्योंकि वे अपने संयमपूर्ण जीवन से जगत् का विशेष उपकार करते हैं। पर संयम का अर्थ अमुक सम्प्रदाय की साधुसंस्था के सदस्य, या अमुक वेषधारी मनुष्य नहीं है किन्तु जहां जो संयम का परिचय दे वहां वही संयमी है। इसप्रकार संयमी का क्षेत्र भी विशाल है, इसलिये परोपकार का क्षेत्र भी विशाल होजाता है।

जब ज्ञात-अज्ञात सभी मनुष्यों से हमें उपकार का आदान-प्रदान करना पड़ता है, सभी जगह ज्ञात-अज्ञात मनुष्यों में संयमी हैं, तब हरएक का उपकार करने से ही उपकार का आदान-प्रदान उचित कहा जासकता है।

प्रश्न—इसप्रकार तो थोड़े प्राणियों के लिये अधिक प्राणियों का नाश होता ही रहेगा। इससे दुःखवर्धन ही होगा। तब सुखवर्धन ध्येय कैसे पूरा होगा? आप गाय की जान बचाने के लिये असंख्य वनस्पतिजीवों का नाश करेंगे, यह स्पष्ट ही एक के सुख के लिये असंख्य प्राणियों का दुःख है, अब सुखवर्धन ध्येय कहां रहा?

उत्तर—इतना विवेक तो हमें रखना ही चाहिये कि जहां टोटल मिलानेपर सुखवर्धन से अधिक दुखवर्धन होता हो वहां सुखवर्धन छोड़ देना चाहिये। अगर दुःखवर्धन की अपेक्षा सुखवर्धन अधिक मालूम हो तो वह करना चाहिये। इतना विवेक न हो तो ध्येयदर्शन या कर्तव्याकर्तव्य निर्णय नहीं हो सकता।

हां! सुखदुःख का विचार करते समय सिर्फ प्राणियों की गणना का विचार न करना चाहिये, किन्तु सुखदुःख की मात्रा का विचार करना चाहिये। निम्न श्रेणी के असंख्य प्राणियों के सुखदुःख की अपेक्षा, उच्च श्रेणी के एक प्राणि में सुखदुःख अधिक होता है। वनस्पतियों के सुखदुःख की अपेक्षा कीट-पतंगों का सुखदुःख असंख्य गुणा है, उनसे असंख्य गुणा पशु-पक्षियों का है उनसे असंख्य गुणा मनुष्य का है। ज्ञान का, चैतन्यशक्ति का, अर्थात् संवेदन शक्ति का जितना जितना विकास होता जाता है उतना उतना सुखदुःख बढ़ता जाता है। दुखसुख के मापतौल में हमें चैतन्य की मात्रा का विचार न छोड़ देना चाहिये। इसलिये साधारणतः अनेक पशुओं की अपेक्षा एक मनुष्य का बचाना अधिक कर्तव्य है। हां! इतनेपर भी उसकी मर्यादा है। मनुष्यपर प्राणसंकट आया हो तो उसके बचाने के लिये पशु का जीवन लगाया जासकता है, पर मनुष्य के सिर्फ विलास के लिये पशु का जीवन नहीं लगाया जासकता। खाने के लिये परिपूर्ण अन्नादि सामग्री रहनेपर भी स्वाद के लिये मांस-भक्षण करना और उसके लिये पशुवध करना कराना अनुचित है।

चलने-फिरने, साफ-सफाई करने आदि

जो सूक्ष्म प्राणिवध होता है, उसका विचार नहीं किया जासकता। बहुत से लोग सूक्ष्म प्राणियों की इतनी अधिक पर्वाह करते हैं कि उनकी रक्षा के नामपर मनुष्य की भी पर्वाह नहीं करते, या मनुष्य के प्रति मनुष्योचित कर्तव्य भी नहीं करते, वे हिंसा-अहिंसा विचार में या सुखदु:ख विचार में अविवेकी हैं।

इस प्रकार सुखवर्धन के कार्य में दुःख-वर्धन कुछ होता भी हो तो चैतन्य की मात्रा का विचारकर टोटल मिलाना चाहिये। टोटल मिलाने पर सुखवर्धन अगर अधिक मालूम हो तो सुख-वर्धन करना चाहिये। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि टोटल मिलाने में सिर्फ प्राणियों की संख्या का विचार नहीं करना है उनकी चैतन्य मात्रा का विचार करना है।

प्रश्न—कोई जीव छोटा हो या बड़ा, उसका सुख उसको उतना ही प्यारा है जितना बड़े प्राणी को अपना बड़ा सुख प्यारा है। जीने का जन्म-सिद्ध अधिकार भी जितना हमें है उतना उसे भी है फिर हम असंख्य प्राणियों का वध करके स्वयं जिन्दे रहें या सुखी बनें यह कहां तक उचित कहा जासकता है ?

उत्तर—इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीने का जन्मसिद्ध अधिकार हरएक को है, पर दो प्राणियों के जन्मसिद्ध अधिकारों में जब संघर्ष हो तब किसका जन्मसिद्ध अधिकार सुरक्षित रखना चाहिये इसके लिये कोई न कोई निश्चित नीति बनाना पड़ती है। और वह नीति है विश्व सुख वर्धन की। इस तरह के प्राकृतिक या अनि-वार्य संघर्ष में अधिक चैतन्यवाले प्राणी की रक्षा करना चाहिये। इसलिये मनुष्य को जीवित रखने के लिये अन्य प्राणियों का वध किया जासकता है, पशुपक्षी आदि को जीवित रखने के लिये वनस्पति आदि का वध किया जासकता है। पर शेर को जीवित रखने के लिये गाय हरिण आदि प्राणियों का वध नहीं किया जास-कता। क्योंकि शेर का चैतन्य गाय आदि से अधिक नहीं है। बल्कि सामाजिकता वात्सल्य आदि संयम शेरकी अपेक्षा गाय में अधिक है। इसलिये गाय शेर की अपेक्षा अधिक चैतन्य वाली है संयम चैतन्यके विकास का बहुत बड़ा चिन्ह है। शारीरिक शक्ति से चैतन्य विकास का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये गाय बचाने के लिये सिंह वध किया जासकता है।

प्रश्न—तब तो मांसभक्षण आदि का पूरी तरह समर्थन किया जायगा। शिकार की क्रूर प्रथा भी ठीक समझी जायगी।

उत्तर—मांसभक्षण की अनुमति सिर्फ वहीं दीजासकती है जहां अन्न आदि अन्य सामग्री इतनी न होती हो जिससे मनुष्य जिन्दा रह सके। स्वाद लोलुपता आदि के कारण मांस-भक्षण की अनुमति न दीजासकेगी। शिकार के विषय में भी यही नीति रहेगी। जहां अन्न नहीं होता वहां शिकार करना अनिवार्य होगा ही, साथ ही अगर जानवरों के आक्रमण के कारण खेती बगीचा, आदि का नाश होता है और अन्य-उपायों से रोका नहीं जासकता वहां भी शिकार की अनुमति देना होगी। फिर भी यह उचित है कि हमें ऐसी व्यवस्था बनाना चाहिये जिससे पशुवध न करना पड़े। निम्नलिखित सूचनाओं का पालन होसके तो अच्छा।

१—अधिक से अधिक अन्न पैदा किया जाय और जितना अन्न पैदा होसकता हो उसी के अनुसार जनसंख्या को नियन्त्रित रक्खा जाय। इसकेलिये सन्तति-नियमन की प्रथा अप-नाई जाय।

२—कृषिघातक जो प्राणी पकड़े जासकते हों उन्हें पकड़ कर ऐसी जगह छोड़ा जाय जहां से आकर वे फिर कृषिघात न करसकें।

३—कृषिघातक नर मादा पशुओं को पकड़कर अलग-अलग अहातों में बन्द किया जाय। वे वहां, समयपर आयु पूरी कर मर जायँगे और आगे सन्तान पैदा न होने से निर्वंश होजायँगे।

४—कृषिघातक नरपशुओं को पकड़कर या तो उन्हें बधिया करदिया जाय या ऐसा

अपरेशन किया जाय जिससे सन्तान पैदा न होसके। इसप्रकार उन्हें निर्वंश किया जाय।

५—कटीले तार आदि लगाकर कृषिघातक पशुओं का आना रोका जाय।

यथाशक्य ये उपाय किये जायँ, अगर ये उपाय पूरी मात्रा में न किये जासके और कृषि-रक्षण के लिये कृषिघातक या धनजन नाशक जानवरों का शिकार आवश्यक हो तो करने की अनुमति दी जासकती है।

प्रश्न—अनुमति क्यों दीजाय ? उपर्युक्त पांच सूचनाओं का पालन किया जाय। न होसके तो सब अपने भाग्य भरोसे रहे। किसी का शिकार क्यों किया जाय ?

उत्तर—पहिला उपाय तो पांच सूचनाओं का पालन ही है पर जब उनसे इतनी सफलता न मिल सके कि सब मनुष्यों को खाने लायक अन्न मिलजाय, तब भाग्य भरोसे बैठने से कैसे काम चलेगा ? पशुपक्षियों और मनुष्यों में से किसी एक वर्ग को प्राण देने के लिये चुनना होगा। पशुपक्षियों को बचाकर मनुष्यों को मरने देना विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से अनुचित तो है ही, साथ ही कोई प्राणी इस तरह जानबूझकर भूखा मरना पसन्द नहीं करता फिर मनुष्य कैसे पसन्द करेगा इसलिये अस्वाभाविक भी है। इसके बाद सवाल होगा कि भूखों मरने के लिये कौनसे मनुष्य चुने जाँय और किस प्रकार चुने जायँ ? जो लोग पशुओं को बचाने के लिये मनुष्यों के भी मरजाने की पर्वाह न करनेवाले हैं क्या वे पशुओं पर दया से प्रेरित होकर खुद भूख से प्राण छोडने को राजी होजायँगे ? वे खुद मरने को राजी नहीं हैं तो पशुओं के ऊपर बातूनी दया दिखाकर मनुष्य की अवहेलना का क्या अर्थ है ?

यह सोच लेना कि 'हमारे पास तो पैसा है हम तो महँगे से महँगा अन्न खरीदकर खालेंगे इसलिये हमें तो मरना ही न पड़ेगा, मरनेवाले तो गरीब होंगे, सो मरें। उनका भाग्य, हम पशु-पक्षियोंपर दया दिखाने से क्यों चूकें ? अथवा हम तो पंडितजी बनकर पढ़ाने का धंधा करते हैं, या व्याज का या सट्टे आदि का धंधा करते हैं, किसी का खेत जानवर खाते हैं इससे हमारे धंधे को क्या नुकसान ? तब हम पशुओंपर दया बताने से क्यों चूकें ?" यह सब दयालुता नहीं है घोर स्वार्थपरता है इसलिये अधर्म है। धर्म का विचार तो वही होगा जिसमें मनुष्यमात्र के हित का ध्यान रक्खा जायगा ? और प्राणिमात्र के हित का विचार करते समय, अधिक चैतन्य और हीन चैतन्यवाले प्राणियों में विवेक रक्खा जायगा, तथा आत्मौपम्यभाव से काम लिया जायगा।

यहां आत्मौपम्यभाव का खुलासा यह है कि जो मनुष्य यह कहता है कि अन्नाभाव से मनुष्यों की मौत भले ही हो, पर पशुपक्षियों की, अन्ननाशक पशुपक्षियों की भी, रक्षा होना चाहिये, उनका कर्तव्य है कि वे एक ऐसा खेत लेलें जिसमें उनके कुटुम्ब के लायक ही अन्न पैदा होता हो, और जिसे जंगली जानवर या बन्दर आदि चर जाते हों, जिन्हें रोकना अशक्य होपडा हो, फिर यदि अन्न कम पैदा होनेपर भी वे भूखे रहकर, बालबच्चों को भूखे रहकर, मरने को तैयार हों तो समझा जायगा कि वे पशु-पक्षियों की रक्षा करने के पक्ष में हैं। पंडिताई का धंधा करते हुए, या नगर में ऐसा काम करते हुए जिसका अन्नघातक जानवरों से सम्बन्ध नहीं आता, उस परिस्थिति का अनुभव नहीं हो-सकता जो पशुपक्षियों और चूहों आदि से खेती का नाश होने से पैदा होती है।

हम शब्दों से अनुमति दें या न दें, पर हमारेलिये जो हिंसा दूसरों को करना पड़ती है और जिसका हम लाभ उठाते हैं उसकी जिम्मे-दारी हमारे ऊपर आती है और उसमें हमारी मौन अनुमति मानीजाती है। इसलिये यदि हम अन्नाभाव से स्वयं मरने को तैयार नहीं हैं तो अन्नाभाव घटाने के लिये दूसरे जो कार्य करते हैं उसमें हमारी मौन या अमौन अनुमति है। इसी दृष्टि से अनुमति देने की बात कहीगई है।

प्रश्न—अन्नादि की रक्षा के लिये जो अनि-
ार्य वध करना पड़ता है वह ठीक है, पर सुख-
र्धन के नामपर और भी हिंसा कार्य होते हैं।
ामि मच्छर आदि के नाश की औषधे, चूहे पक-
ने या मारने के पिंजड़े आदि बनाये जाते हैं,
ांप बिच्छू आदि मारने के कार्य होते हैं। बिच्छू
ानबूझकर किसीपर आक्रमण नहीं करता,
ांप भी बिना छेड़े आक्रमण नहीं करता फिर
ी उन्हें मार दिया जाता है, सिर्फ स्वार्थ के नाम
ार नहीं किन्तु जन हित के नामपर भी। सुख
र्धन का ध्येय आखिर इस प्रकार हिंसा बढ़ाकर
ाफी दु:ख बढ़ाता है। अहिंसा के ध्येय से इन
ब की रक्षा होसकती है।

उत्तर—कुछ अनावश्यक हिंसाएँ होती हैं
रूर, अहिंसा के नामपर उनसे थोड़ा बहुत
चा भी जासकता है, और कुछ बचना भी
ाहिये, पर सामूहिक रूप में यह अव्यवहार्य
ै और अनिष्ट भी है। प्लेग के कीड़े मरेंगे इस-
लिये प्लेग की हवा को शुद्ध न करना चाहिये,
यह एक तरह का पागलपन होगा। मनुष्य और
प्लेग के कीड़ों को एक तराजू पर नहीं रक्खा
जासकता। आक्रमणकारी मनुष्यसे जिसप्रकार
हम अपनी रक्षा करते हैं उससे अधिक रक्षा
आक्रमणकारी कृमि आदि से करना पड़ेगी।
मच्छरों का हमने कुछ नहीं बिगाड़ा पर वे जब-
र्दस्ती आकर हमारा खून चूस जाते हैं यह आक्र-
मण है। यह सम्भव नहीं है कि उनके साथ सम-
झौता कर लिया जाय कि एक बार तुमने खून
चूसलिया सो चूसलिया, पर अब कोई मच्छर
खटमल आदि हमारा खून न चूसने पाय। ऐसी
हालतमें उनका संहार करना ही पड़ेगा। चूहा
आदि तो हमारा अनाज खाजाते हैं दीवारें फोड़
देते हैं न खाने का भी सामान काट काट कर
बेकार कर देते हैं इनसे भी कोई सुलहसन्धि
सम्भव नहीं है। साप बिच्छू इस तरह जबर्दस्ती
आक्रमण नहीं करते पर किसी कारण अनजान
में भी अगर स्पर्श होजाय, उस स्पर्शसे इनका
नुकसान हुआ हो या न हुआ हो ये डक मारते
हैं या काटखाते हैं। ये इसबात का विचार नहीं
कर सकते कि स्पर्श करने वाले का इरादा क्या
है, या अनजान में जो इससे कुछ भूल हुई है
वह दंडनीय है या नहीं, और है तो कितनी है।
बस, ये तो सारी शक्ति लगाकर आक्रमण करेंगे
फिर भले ही वह बेचारा रातभर चिल्लाता रहे या
मरजाय। इसप्रकार हजारों निरपराध आदमी
सर्पदंश से मरते हैं और बिच्छू के डंक से तड़-
पते हैं ऐसी हालतमें अगर इनकी हिंसा की जाती
है तो वह आत्मरक्षा और सुखवर्धन का ही
प्रयत्न है। जो व्यावहारिकता की दृष्टि से न्यायो-
चित है।

इनकी हिंसा रोकने का सर्वोत्तम उपाय यह
है कि साफ सफाई रक्खी जाय और इन्हें पैदा
न होने दिया जाय। इतने पर भी अगर ये पैदा
होजायँ तो आत्मरक्षा या आत्मीयरक्षा की दृष्टि
से इनकी हिंसा करना पड़ेगी। टोटल मिलाने पर
यह विश्वसुख वर्धन के अनुकूल कार्य होगा।

हिंसा अहिंसा का विचार करते समय हमें
इसबात का विवेक तो रखना ही होगा कि हिंसा
को बिलकुल हटाया नहीं जासकता इसलिये
दोनों का टोटल मिलाना उचित होगा। टोटल
में हिंसा अधिक हो तो उस कार्य को हिंसा माना
जाय अहिंसा अधिक हो तो अहिंसा मानाजाय।
ऐसा कोई बहीखाता नहीं होता जिसमें सारी
रकम जमा में ही लिखीजाय। जमा और नामा
दोनों तरफ ही रकमें लिखी जाती है सिर्फ इस
बात का ध्यान रक्खा जाता है कि नामा में रकम
ज्यादा न होजाय। जीवन के वहीखाते में भी
हमें यही बात देखना पड़ती है। अहिंसा हिंसा
दोनों तरफ रकम चढ़ती है, देखना यही चाहिये
कि अहिंसा से हिंसा बढ़ न जाय। वही खाते की
तरह इस बात का भी विचार करना पड़ता है
कि गिनती से ही जमा नामें का हिसाब नहीं
लगता। जमा में एक रुपया हो और नामें में
पचास पाईयाँ हों तो यह नहीं कहा जाता कि
रुपया तो एक ही है और पाइयाँ तो पचास है,
इसलिये नामें की रकम बढ़गई। रुपया एक होकर
भी पचास पाइयों से कई गुणा हैं इस बात को
भुलाया नहीं जाता। इसी तरह जीवन के वही-

खाने मे हिंसा-अहिंसा का विचार करते समय भी सिर्फ प्राणियो की गिनती नहीं देखी जाती। उनकी चैतन्यमात्रा के अनुसार मूल्य भी देखा जाता है, तभी हानि-लाभ या हिंसा-अहिंसा का निर्णय होता है। पर इस निर्णय की कसौटी भी विश्वसुखवर्धन ही है। जिसमे सुखवर्धन अधिक और दुखवर्धन कम, वह अहिंसा, और जिसमें सुखवर्धन कम और दुखवर्धन अधिक वह हिंसा, इस तरह निर्णय करना पडता है। इसप्रकार अहिंसा को ध्येय बनानेपर जो बात अनिर्णीत रहजाती है वह विश्वसुखवर्धन को ध्येय बनाने मे स्पष्ट रीतिसे निर्णीत होजाती है।

प्रश्न—सुखवर्धन को ध्येय बनाने से एक बड़ा अन्धेर यह होगा कि संयमी योगी लोगोपर आफत आजायगी। क्योंकि योगी लोग दुःखको सहने की ताकत अधिक रखते हैं इसलिये उन्हें सताना उतना बुरा न समझा जायगा जितना असंयमी को सताना। क्योकि असंयमी अपनी मानसिक कमजोरी से दुःख का अनुभव अधिक करता है। इस नीति से बढ़कर अन्धेर क्या होगा? संयमी को कुछ पारितोषक मिलना तो दूर उसपर दुःख डा दिया, और असंयमी को दंड मिलना तो दूर उसे संयमीसे कम दुख दिया गया ऐसी अवस्था मे संयम सदाचार का मार्ग ही बन्द होजायगा। और इससे दुनिया नरक बनजायगी।

उत्तर—'इससे दुनिया नरक बनजायगी' इसीसे सिद्ध होता है कि संयमी को अधिक दुख देने की और असंयमी को कम दुख देने की नीति विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से ठीक नहीं है। संयम सदाचार से विश्वसुखवर्धन होता है, और इसलिये जिससे संयम सदाचार बढे ऐसी कोशिश करना चाहिये। इसका एक उपाय यह है कि संयमी सदाचारी की इज्जत अधिक की जाय उसे सुविधा अधिक दीजाय। इसप्रकार सुखवर्धन के नामपर संयमी को अधिक दुख देने की नीति नहीं अपनाई जासकती।

दूसरी बात यह है कि योगी संयमी आदि दुःख अधिक सहन करते हैं पर इसका यह मतलब नहीं है कि उन्हे दुःख कम होता है। योगी संयमी आदि की चेतना इतनी विकसित और निर्मल होजाती है कि जिस सुखदुःख का अयोगी और असंयमी को पता भी नहीं लगता उसका प्रचंड संवेदन योगी और संयमी को होता है। जैसी गालियाँ साधारण लोग देते लेते रहते हैं योगी उन्हे नहीं सुनसकता, जैसी अशान्ति में साधारण लोग हँसते हैं योगी उससे कोसो दूर भागता है, योगी का दुख अयोगी से बहुत अधिक होता है। वह अपनी सहनशक्ति के द्वारा अक्षुब्ध रहता है, विश्वप्रेमी होने से वैर नहीं बसाता, यह दूसरी बात है पर उसे दुख अधिक होता है चोट अधिक लगती है।

इसप्रकार विश्वसुखवर्धन की नीति संयमी के साथ किसी तरह का अन्धेर नहीं करती। सार्वकालिक और सार्वदेशिक दृष्टि से विश्वसुखवर्धन की नीति को कसौटी बनानेपर कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय होजाता है और इसीसे हमे अपने ध्येय का पता लगजाता है।

हमे इस संसार को अधिक से अधिक सुखी बनाना है। संसार में जो दुःख है, उन्हे जितना बनसके कम करना है। दुःख से डरकर दुनिया से भागना, महाप्रलय की आकांक्षा करना, शून्यरूप होने की कल्पना करना, या आत्महत्या करना निरर्थक और दुरर्थक है। यह विवेकहीन भावुकता का परिणाम है। सत् असत् होकर शून्य नहीं होसकता, महाप्रलय हमारे हाथ में नहीं है, आत्महत्या करके हम पुनर्जन्म के कारण दुःख से छूट नहीं सकते, परलोक मे सुख की आशा हो तो वह तभी सम्भव है जब हम इस संसार को सुखमय बनाने की कोशिश करें। मरने के बाद कोई ताकत लगाकर स्वर्ग-मोक्ष मे हम उछल नहीं सकते, जो कुछ करना है इसी जीवन में करना है। इसी जीवन मे विश्वसुखवर्धन किया तो परलोक हो तो भी हमारा जीवन सफल है, न हो तो भी हमारा जीवन सफल है। इसलिये हर कार्य मे हर समय विश्वसुखवर्धन के ध्येय को सामने रखना चाहिये।

—᳀—

तीसरा अध्याय [चिनप होपंगो]

मार्गदृष्टि [राहो लंको]

सुख दुःख विचार (शिम्मो दुक्खो लंको)

विश्वसुखवर्धन जीवन का ध्येय निश्चित होजानेपर उसकी राह का विचार करना पडता है। और इस विचार में कई बातें आती हैं। जैसे दुःख क्या है, दुनिया मे कितने तरह के दुःख हैं, कितने दुःख दूर किये जासकते हैं, कितने दुःख किसी सुखके लिये अनिवार्य हैं इसी प्रकार सुख कितने तरह के हैं, कितने सुख उपादेय है कितने सुख त्याग करने योग्य हैं, किस सुख और किस दुःख के बारेमें हमें किस नीतिसे काम लेना चाहिये। किसे कैसे छोड़ें और किसे कैसे प्राप्त करें, आदि। इस प्रकार हमे तीन तरह के विचार करना है, १-दुःख विचार, २-सुख विचार, ३-उपाय विचार।

१—दुःख विचार (दुक्खो इको)

दुःख एक प्रकार की वेदना है, जो अपने को अच्छी नहीं मालूम होती। दीर्घ विचार करनेपर भले ही उसकी अच्छी उपयोगिता हो पर भोगते समय ऐसा मालूम होता है कि यह न होती तो अच्छा होता, इसके बिना भी अगर काम चल जाता तो अच्छा होता अथवा जितनी जल्दी यह वेदना जाय उतना ही अच्छा। ऐसी वेदना को दुःख कहते हैं। संक्षेपमे प्रतिकूल वेदना को दुःख कहते हैं।

यद्यपि सभी दुःख मन के द्वारा होते हैं फिर भी कुछ दुःख ऐसे हैं जो सीधे मनपर असर पडने से होते हैं, और कुछ ऐसे हैं जो शारीरिक विकार से सम्बन्ध रखते हैं। यद्यपि सभी दुःखों का असर मन और शरीरपर पड़ता है, फिर भी किसीमे मन की प्रधानता है किसी में शरीर की। मानसिक दुःखों मे पहिले मनपर असर पड़ता है, पीछे शरीरपर पडता है। शारीरिक दुःखों मे पहिले शरीरपर असर पड़ता है फिर मनपर। जैसे किसीने तमाचा मारा तो तमाचे का दुःखद प्रभाव पहिले शरीर पर होगा पीछे मनपर, और किसीने गाली दी तो गाली का दुःखद प्रभाव शरीरपर नहीं है मनपर है, पर मनपर प्रभाव होने से चिंता आदि के कारण शरीरपर भी उसका प्रभाव पडता है। इसलिये किस दुःख को शारीरिक कहना और किस दुःखको मानसिक कहना इसका निर्णय करने के लिये यह देखना चाहिये कि किस दुःख का प्रथम और मुख्य प्रभाव शरीरपर पड़ता है और किसका प्रथम और मुख्य प्रभाव मनपर पडता है।

जो शारीरिक दुःख व्यक्ति विशेषमें शरीर की अपेक्षा मनपर ज्यादा प्रभाव डालते हैं वे भी शारीरिक दुःख हैं। जैसे किसी मनुष्य को तमाचा के दुःख की अपेक्षा अपमान का मानसिक दुःख अधिक मालूम होसकता है, फिर भी तमाचा मारना शारीरिक दुःख ही गिना जायगा। पर जहांपर अपमान का दृष्टिकोण ही मुख्य होगा वहां वह मानसिक दुःख ही गिना जायगा। किसीको इस ढंग से जूता मारा जाय कि उसकी चोट नाममात्रकी हो, मुख्य ध्येय अपमान करना ही हो तो इसे मानसिक दुःखमें गिना जायगा। हां। जहां शारीरिक दुःख मानसिक दुःख के लिये दिया गया हो वहां उसे मिश्र दुःख कह सकते हैं क्योंकि इसमे दोनों दुःखों का मिश्रण हुआ है। फिर भी दुःख के मुख्यभेद दो ही हैं एक शारीरिक, दूसरा मानसिक। निमित्त

के भेद से शारीरिक और मानसिक दुःख अनेक तरह के हैं।

शारीरिक दुःख (मूसपेर दु.खो)—शारीरिक दुख छः तरह के हैं। १ आघात-२-प्रतिविषय ३-अविषय, ४-रोग, ५-रोध, ६-अतिश्रम।

१ आघात [चोटो]- अस्त्र-शस्त्र या हाथ आदि से अथवा किसी और सूक्ष्म स्थूल वस्तु से शरीर को ऐसी चोट पहुँचाई जाय जिससे तकलीफ हो उसे आघात दुःख कहते हैं।

२—प्रतिविषय (रोजूशो) इन्द्रियों के प्रतिकूल विषय से जो चोट पहुँचती है वह प्रतिविषय है। जैसे-दुर्गंध, कर्कश शब्द, भयंकर या बीभत्स दृश्य, बहुत ठंडा या बहुत गरम स्पर्श, बुरा स्वाद आदि।

३—अविषय (नोजूशो) शरीर के या इन्द्रियों के योग्य विषय न मिलने से जो वेदना होती है वह अविषय दुःख है। जैसे भूख प्यासका दुःख, किसी चीज के खाने का व्यसन हो और वह चीज न मिले तो उसका दुःख आदि।

४—रोग (रुगो) वात पित्त कफ की विषमता, आदि कारणोंसे शरीर में जो विकृति होती है उससे पैदा होनेवाला शारीरिक दुख रोग दुःख है।

५—रोध (रून्धो) शरीर के किसी अंग के, या किसी आवश्यक क्रिया के रुकजाने से या रुँधजाने से जो दुःख होता है वह रोध दुःख है। जैसे बहुत समय तक एक ही जगह बैठना पड़े या किसी कमरे या मकानमें इस तरह रुकजाना पड़े कि शरीर के लिये आवश्यक हिलना डुलना कठिन होजाय, तो उसमें होनेवाली तकलीफ रोध दुःख कहलायगा।

६—अतिश्रम (मेगिहो) अधिक श्रम करने से जो थकावट आदि की तकलीफ होती है वह अतिश्रम दुःख है।

मौत आदि के दुःख इन्हीं दुःखों में शामिल हैं। मौत में जो शारीरिक वेदना होती है वह रोग या रोध है और बिछुड़ने आदि की जो वेदना होती है वह मानसिक दुःख है। बुढ़ापा आदि का दुःख भी रोग, अतिश्रम आदि का दुःख है। बुढ़ापे में निर्बलता आजाने से अतिश्रम शीघ्र होने लगता है। इसप्रकार अन्यदुखों का भी विश्लेषण (शेत्राको) कर लेना चाहिये।

मानसिक दुःख (मनपेर दु.खो) भी छः तरहके हैं—१-इष्टाप्राप्ति, २-इष्टवियोग, ३-अनिष्टयोग, ४-लाघव, ५-व्यग्रता, ६-सहवेदन।

१-इष्टाप्राप्ति (इश्तानोसीतो) जो चीज हम चाहते हैं और जब वह नहीं मिलती तब एक तरह का मनमें दुःख होता है, उसे इष्टाप्राप्ति दुःख कहते हैं। ऐसी हालत में लोभ लालच तृष्णा या चाह की प्रेरणा से मनमें चिन्ता होती है जो काफी दुःखमय होती है। शोक निराशा आदि दुःखमय अवस्थाएँ भी होती हैं। प्रधानता चिन्ता की है।

२-इष्टवियोग [इश्तंसुगो] जब कोई प्रिय वस्तु अपने पासमें दूर होजाती है, बिछुड़ जाती है, या नष्ट होजाती है तब उससे जो दुःख होता है वह इष्टवियोग दुःख है। प्रिय मरण, या उसका परदेशगमन आदि इष्टवियोग दुःख है। धनसम्पत्ति का नष्ट होजाना भी इसीप्रकार का दुःख है। यह होसकता है कि चीज जहां की तहां पड़ी रहे और इष्टवियोग होजाय। एक जमीन जिसे हम अपनी समझते थे पर दूसरे ने लेली तो जमीन जहां की तहां पड़ी रहनेपर भी उसपर से स्वामित्व चलेजाने से इष्ट वियोग होगया। बैंक में रुपया जमा था और बैंक का दिवाला निकल जाने से रुपया मिलने की आशा न रही तो यह भी इष्टवियोग है। इष्ट वियोग में मुख्य रूप से [illegible] होता है, पीछे चिन्ता क्षोभ आदि भी पैदा होते हैं ये सब [illegible] संवेदन हैं।

प्रश्न—इष्टाप्राप्ति और इष्ट वियोग में [illegible] [illegible]

निर्बल या रुग्ण होजाता है, बाल सफेद होजाते हैं इसलिये उन्हें शारीरिक दुःख क्यों न कहा जाय?

उत्तर—इष्टाप्राप्ति और इष्टवियोग का पहिला प्रभाव मनपर पड़ता है, फिर दुःखी मन का प्रभाव तनपर पड़ता है इसलिये इसे मानसिक दुःख कहा जाता है। अगर इनका मनपर प्रभाव न पड़े तो तनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिये ये मानसिक दुःख ही हैं।

प्रश्न—इष्टाप्राप्ति और इष्टवियोग एक तरह के अविषय हैं और अविषय तो शारीरिक दुःख है, इसलिये उन्हें भी शारीरिक दुःख क्यों न कहा जाय?

उत्तर—अविषय का जो पारिभाषिक अर्थ यहां किया गया है उसका मतलब है शरीर और इन्द्रियों के विषयों का न मिलना। मानसिक अविषय इष्टाप्राप्ति और इष्टवियोग, जिसे सम्मिलित रूप में इष्टायोग (इश नोजुगो) कहना चाहिये, शब्द से कहा गया है। इस मानसिक अविषय से वह शारीरिक अविषय भिन्न है जो अविषय शब्द से कहा गया है। अविषय का सीधा प्रभाव शरीरपर पड़ता है, उससे शरीर क्षीण होने लगता है, अशक्त भी होजाता है, अन्त में प्राणी मर भी जाता है। इष्टाप्राप्ति और इष्टवियोग इस तरह शरीरपर कोई प्रभाव नहीं डालते। भोजन न मिलने से पानी न मिलने से शरीर की जो हालत होना अनिवार्य है उस तरह सन्तान के मरने से या न होने से अनिवार्य नहीं है। मन को अगर वश में कर लिया जाय तो शरीरपर अप्रत्यक्ष रूप में भी कुछ प्रभाव नहीं पड़ेगा। पर मन को वश में कर लेनेपर भी भूख प्यास से शरीरपर असर होगा ही। मन को वश में करके कोई बिना खायेपिये जिन्दा नहीं रह सकता। शारीरिक वेदना उसे होती है, भले ही वह उसकी पर्वाह न करे। इसलिये अविषय को शारीरिक दुःख और इष्टाप्राप्ति इष्टवियोग को मानसिक दुःख कहा गया।

४—अनिष्टयोग (नोइश्श जुगो)—अनिष्ट वस्तु के सम्पर्क या कल्पना से जो मानसिक दुःख होता है वह अनिष्टयोग दुःख है। जैसे शत्रु का दर्शन आदि। यद्यपि शारीरिक अनिष्टयोग भी होता है परन्तु वह प्रतिविषय, आघात आदि में शामिल है। यहां तो ऐसे अनिष्ट योग से मतलब है जो प्रत्यक्ष रूप में शरीर को चोट नहीं पहुँचाता सिर्फ मनपर चोट पहुँचाता है। पीछे भले ही मन की विकृति के कारण तनपर विकृति होजाय। अप्रिय जन को देखकर हमारे शरीरपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, प्रखर किरणों की तरह वह आंखों को चुभता भी नहीं है, न अन्य इन्द्रियों का प्रतिविषय होता है फिर भी जो हमें दुःख होता है उसका कारण मन की कल्पना है, इसलिये वह मानसिक दुःख कहलाया। इससे क्रोध शोक भय घृणा ईर्ष्या चिन्ता आदि मनोवृत्तियाँ पैदा होती हैं, खेद और पश्चात्ताप भी एक तरह के शोक हैं, उपेक्षा भी प्रायः हल्की घृणा का रूप लेती है। ये सब मनोवृत्तियाँ दुःखात्मक हैं। इसलिये अनिष्टयोग दुःख हैं।

५—लाघव (रिक्वो) अपयश निन्दा तिरस्कार उपेक्षा अपमान आदि से या छोटा कहलाने से जो दुःख होता है उसे लाघव कहते हैं। अपनी महत्वाकांक्षा पूर्ण न होनेपर भी यह दुःख होता है। इससे अहंकार चिन्ता शोक भय दीनता घृणा ईर्ष्या आदि मनोवृत्तियाँ पैदा होती हैं। अपयश आदि से शरीर को चोट नहीं पहुँचती, अभिमान या आत्मगौरव को चोट पहुँचती है इसलिये यह मानसिक दुःख है। अनिष्टयोग तो किसी घटना से सम्बन्ध रखता है और उसमें किसी से तुलना नहीं होती। लाघव दुःख अनिष्ट योग न होनेपर भी सिर्फ इस कल्पना से कि मैं छोटा हूँ या छोटा समझागया हूँ, होने लगता है। जीवन की प्रायः सारी आवश्यकताएँ पूर्ण होनेपर भी अनुचित महत्वकांक्षा से, या दूसरों के दुर्व्यवहार से यह दुःख होजाता है।

६—व्यग्रता (फुहिजो) व्यग्रता का अर्थ है हड़बड़ाना। चिन्ताओं के बोझ से मनुष्य हड़बड़ाता है व्याकुल होता है यही व्यग्रता है। जैसे

किसी के यहां शादी आदि का महोत्सव हो, काम करनेवाले काफी हों, कोई विशेष शारीरिक कष्ट न हो फिर भी 'कैसे क्या कराया जाय, क्या होगा' आदि चिन्ताओं के बोझ से वह परेशानी का अनुभव करने लगता है। यह चिन्ताओं का बोझ शारीरिक कष्ट नहीं है इससे शारीरिक दुःखमें शामिल नहीं कर सकते, शादी का प्रसंग और आदमी अनिष्ट भी नहीं हैं कि उन्हें अनिष्टयोग कहा जाय, न इष्टवस्तु के छिननेका कष्ट है कि इष्टवियोग कहाजाय और न अपमान या दीनता का दुःख है जिससे लाघव कहाजाय, इसलिये व्यग्रता एक अलग ही दुःख है। यह एक तरह की मानसिक निर्बलता का परिणाम है। मानसिक शक्ति जितनी कम होगी व्यग्रता उतनी अधिक सतायी जायगी। व्यग्रतासे क्रोध झुंझलाहट चिन्ता आदि भाव पैदा होते हैं। अभ्यास न होने से या मन निर्बल होने से व्यग्रता का कष्ट बढ़ता है।

६—सहवेदन (सेतुंदो) प्रेम—भक्ति मैत्री वात्सल्य करुणा के वश होकर दूसरों के दुःख से दुःखी होना सहवेदन दुःख है। कभी कभी सहवेदन दुःख अपने किसी स्वार्थ के कारण अन्य दुःखों में भी परिणत होजाता है। जैसे अपने नौकर को चोट लगगई और इससे अपने को दुःख हुआ। यह दुःख सहवेदन भी होसकता है, और नौकर दोचार दिन काम न कर सकेगा इस भाव से अनिष्ट योग भी होसकता है। जहां जितने अंश से शुद्ध प्रेम के वश में होकर दूसरों के दुःख से हम दुःखी होते हैं वहां उतने अंश में सहवेदन दुःख होता है। लोकसेवी महात्माओं को, सब दुःख छूटजानेपर भी, यह दुःख बना रहता है। यह दुःख जगत के दुःख दूर करने में सहायक होने से आवश्यक दुःख है। यह दुःख रौद्रानन्द का विरोधी और प्रेमानन्द का सहयोगी है।

इस प्रकार छः प्रकार के शारीरिक और छः प्रकार के मानसिक कुल बारह तरहके दुःख हुए।

सुख विचार (शिस्मो ईको)

जो संवेदन अपने को अच्छा लगे वह सुख है अर्थात् अनुकूल या इष्ट संवेदन का नाम सुख है। सुख और दुःख किसी क्रिया का नाम नहीं है। जो क्रिया आज सुख देती है वही कल दुःख देसकती है। गरमी की रात्रिमें वस्त्रहीनता सुखद होसकती है और ठंड की रात्रि में दुःखद। कभी हाथ दबाना सुखद होसकता है और कभी दुःखद। इसलिये सुखदुःख-संवेदनपर ही निर्भर है किसी क्रियापर नहीं।

सुख आठ तरह के हैं—१-ज्ञानानन्द, २-प्रेमानन्द, ३-जीवनानन्द, ४-विनोदानन्द, ५-स्वतन्त्रतानन्द, ६-विषयानन्द, ७-महत्वानन्द, ८-रौद्रानन्द।

१—ज्ञानानन्द—(जानोशिस्मो) जीव ज्ञानमय है, और यह ज्ञान जीवनका प्रमुख आनन्द है। जहां कोई स्वार्थ नहीं होता वहां सिर्फ जानकारी से प्राणी इतना आनन्दित होता है जिसका कुछ ठिकाना नहीं है। आकाश के तारों का या ब्रह्मांड की रचना का रहस्य जब मनुष्य को मालूम होता है तब उससे किसी लाभ की आकांक्षा न होनेपर भी मनुष्य एक उच्च श्रेणी के आनन्द का अनुभव करता है। इतना ही नहीं, रास्ता चलते जब कोई नई सी घटना होते वह देखता है तब वह उसे जानने के कुतूहल को शमन नहीं कर पाता। जानकारी के लिये वह काफी धन और समय खर्च कर देता है। ऐसा मालूम होता है कि जानकारी प्राणी की सब से अच्छी और आवश्यक खुराक है। यही कारण है कि जीवनमें अनेक कष्ट होनेपर भी मनुष्य जानकारी के आनन्दके लिये जीवित रहना चाहता है। इसलिये कहना चाहिये कि यह सब से महत्वपूर्ण आनन्द है।

२—प्रेमानन्द (लवोशिस्मो) प्रेम का आनन्द भी एक स्वाभाविक आनन्द है। हृदयमें हृदय मिलने को व्याकुल होता है। दो प्रेमी जब आपसमें मिलते हैं तब वे आपसमें कुछ दे या न दे

फिर भी पूर्ण आनन्द पाते हैं। गाय बछड़े से या मां बेटे से कुछ पाने की इच्छा से सुखी नहीं होती किन्तु प्रेम से सुखी होती है। प्रेम जितना फैलता जाता है सुख उतना ही निर्दोष और स्थायी होता जाता है। जो विश्वप्रेमी है वह प्रेमानन्द की पराकाष्ठापर पहुँचा हुआ है। वह पूर्ण वीतराग, पूर्ण अकषाय, पूर्ण योगी और पूर्ण सुखी है। प्रेमानन्द अधिक से अधिक निर्दोष, और अधिक से अधिक स्थायी, तथा दूसरों के लिये भी सुखवर्धक है। संयम आदि सद्वृत्तियाँ भी इसी के कारण पैदा होती हैं।

३—जीवनानन्द [जिवो शिम्मो]—जीवन के लिये उपयोगी पदार्थों के मिल जाने से जो आनन्द होता है वह जीवनानन्द है। जैसे, रोटी मिलने, पानी मिलने, हवा मिलने आदि का आनन्द।

४—विनोदानन्द (हसोशिम्मो) खेल कूद हँसी आदि का आनन्द विनोदानन्द है। यद्यपि विनोदानन्द कभी प्रेमानन्द, कभी विषयानन्द कभी महत्वानन्द बनजाता है परन्तु कभी कभी मनुष्य अकेलेमें भी खेलता है, कोई स्वार्थ न होने पर भी, महत्व का विचार न होनेपर भी प्राणी को खेलने में आनन्द आता है। इसलिये स्पष्टता के लिये इसे एक अलग आनन्द ही समझना चाहिये। छोटे बच्चोंमे लेकर बूढ़ो तक को इस आनन्द की चाह रहती है। यह ठीक है कि उम्र के अनुसार इसमें न्यूनाधिकता होती है, और विनोद के रूप भी बदलते हैं।

५—स्वतंत्रतानन्द [मुच्चो शिम्मो]—दुःख संवेदनमय बन्धन से छूटना स्वतंत्रतानन्द है। स्वतंत्रता से दूसरा सुख मिले तो वह सुख अलग होगा, परन्तु वह मिले या न मिले, या दुःख भी मिले, पर मनुष्य अपने को स्वतंत्र अनुभव करे इसमें भी एक तरह का आनन्द है। यथाशक्य अपनी इच्छा के अनुसार काम करने में एक विशेष आनन्द आता है। कैदी जब जेल से छूटते हैं तब इसी आनन्द का अनुभव करते हैं।

६—विषयानन्द [जूशो शिम्मो] इन्द्रियों के विषय मिलने से जो आनन्द होता है वह विषयानन्द है। स्वादिष्ट भोजन, संगीत, सौन्दर्य, सुगंध, अच्छा स्पर्श आदि के आनन्द को विषयानन्द कहते हैं।

प्रश्न—जीवनानन्द भी खाने-पीने का आनन्द है और विषयानन्द भी खाने-पीने का आनन्द है, तब दोनोंमे अन्तर क्या है?

उत्तर—जीवनानन्द में इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों के सेवन की मुख्यता नहीं है। पेट भरना एक बात है और स्वाद लेना दूसरी। अगर आवश्यक तत्वों से पूर्ण भरपेट भोजन मिलजाय तो रूखे-सूखे भोजन से भी जीवनानन्द मिल सकेगा, पर विषयानन्द न मिलेगा। अगर स्वादिष्ट भोजन मिलजाय तो खालीपेट रहनेपर भी विषयानन्द मिलजायगा पर जीवनानन्द न मिलेगा। शराबी जीवनानन्द नहीं पाता, पर विषयानन्द पाजाता है। विषयानन्द अन्त में प्रायः दुःख बढ़ाता है पर जीवनानन्द प्रायः ऐसा नहीं होता। यद्यपि किसी एक क्रिया से जीवनानन्द और विषयानन्द दोनों ही मिल सकते हैं फिर भी कभी कभी विषयानन्द के चक्कर में पड़कर उसकी अतिमात्रा या दुर्मात्रा से मनुष्य जीवनानन्द खो बैठता है इसलिये कभी कभी दोनों आनन्दों में विरोध पैदा होजाता है।

७—महत्वानन्द (चीशो शिम्मो) मान-प्रतिष्ठा यश आदि का आनन्द महत्वानन्द है। दूसरों से तुलना करनेपर जो अपने महत्व का अनुभव होता है वह भी महत्वानन्द है। महत्वाकांक्षा एक प्रबल आकांक्षा है जो थोड़ेबहुत रूप में सब में पाई जाती है। निराशा या दीनता के कारण कभी सोजाती है, गम्भीरता के कारण कभी कभी बाहर प्रगट नहीं होती, मात्रा से अधिक महत्व मिलजाने से या मिलते रहने से उसपर उपेक्षा अर्थात् लापर्वाही पैदा होजाती है, अथवा संयम के कारण मर्यादित रहती है, या चतुरता के कारण मर्यादित रूप में प्रगट होती है, यह सब है, पर यह किसी न किसी रूपमें सब में

रहती है निर्बीज नहीं होती। उसकी पूर्ति से एक अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है। बहुत से लोग इस आनन्द के लिये सारी धनसम्पत्ति अधिकार तथा सर्वस्व देडालते हैं, तथा मरने के बाद नाम के साथ महत्व लगारहे इसलिये जीवन तक देडालते हैं। इसलिये कहना चाहिये कि सबसे अधिक कीमती सुख यह महत्वानन्द है।

८ रौद्रानन्द (डिट्रो शिम्मो)—रौद्रानन्द में एक तरह की क्रूरता है इसलिये इसे क्रूरानन्द या पापानन्द कहना चाहिये। दूसरों को निरपराध दु:खी होते देखकर सुखी होना रौद्रानन्द है। जानवरों को लड़ाना और एक के या दोनों के घायल होने या मर जानेपर सुखी होना भी रौद्रानन्द है।

प्रश्न—समाज को सतानेवाले किसी आततायी मनुष्य या पशु को दण्ड दिया जाय और दण्ड देखकर से एक तरह का सन्तोष हो, जैसे पापी रावण के मारे जानेपर जनता को हुआ, तो क्या इसे पापानन्द कहा जायगा? बुरा कहा जायगा? पर इसके बिना अन्याय-अत्याचार का नाश कैसे होगा?

उत्तर—निरपराधों को दु:खी देखकर जो आनन्द होता है वह रौद्रानन्द है, सापराधों को दुखी देखकर होनेवाला आनन्द रौद्रानन्द नहीं है। सापराधों को दुखी देखने में सामाजिक व्यवस्था तथा न्यायरक्षण का सन्तोष है, सब के हित की भावना है इसलिये इसे प्रेमानन्द कह सकते हैं। फिर भी इसका विचार मन की भावनापर निर्भर है। एक आदमी को अपराध के प्रतीकार, या न्यायरक्षण का विचार नहीं है सिर्फ अपराधी की तड़पन देखने का ही आनन्द है, उसकी निरपराधता सापराधता से भी उसे कोई मतलब नहीं है, तो वह अपराधी के दुख में सुखी होनेपर रौद्रानन्दी कहलायगा।

उपाय विचार (रहो इंको)

दु:खों को दूर करने और सुखों को पाने का उपाय सोचना उपाय विचार है। इस प्रकार सारा सत्यामृत उपाय विचार ही है जो कि इस प्रकरण में नहीं आसकता, इसलिये यहां तो उपाय विचार की कुछ दृष्टि दी जाती है। यह विवेचन भूमिका का काम करेगा।

यद्यपि दु:ख बुरी चीज है और सुख भली, परन्तु इसका विचार आगे-पीछे का, निजपर का टोटल मिलानेपर ही किया जासकता है। इस दृष्टि से न तो सब दु:ख बुरे कहे जासकते हैं न सब सुख अच्छे। जो दु:ख अधिक सुख पैदा करें वे अच्छे कहे जायँगे। जो सुख अधिक दु:ख पैदा करे वे बुरे कहे जायँगे। इसप्रकार दुःख-सुख की तीन-तीन श्रेणियाँ होंगी।

दु:ख—	सुख
१—सुखबीज दु:ख	सुखबीज सुख
२—अबीज दु:ख	अबीज सुख
३—दु:ख बीजदु:ख	दु:खबीज सुख

जो दु:ख सुख पैदा करता है और दु:खसे अधिक सुख पैदा करता है वह सुखबीज दु:ख है, और अच्छा है। अच्छा होने के कारण इसे सद्दुःख (सुदुक्खो) कहना चाहिये। जैसे सहवेदन दु:ख जगत्कल्याण को पैदा करनेवाला है इसलिये सद्दु:ख है। संयम सुतप आदि के दु:ख भी इसी श्रेणी के हैं।

जो दु:ख भविष्य में न सुख बढ़ाने वाला हो न दु:ख बढ़ानेवाला। भोगने के बाद जिसकी समाप्ति होजायगी, ऐसे दु:ख को अबीज दु:ख या फलदु:ख (फावदुक्खो) कहना चाहिये। सहवेदन दु:ख को छोड़कर साधारणत: सभी दु:ख फलदु:ख कहे जासकते हैं या बनाये जासकते हैं।

दु:खबीज दु:ख उसे कहते हैं जो वर्तमान में तो दु:खरूप है ही और भविष्यमें भी दु:ख बढ़ानेवाला है, या दूसरे को दु:ख देनेवाला है। साधारणत सहवेदन को छोड़कर अन्य कोई भी दु:ख इस श्रेणीका बनाया जाता है। यह सब से बुरा दु:ख है इसलिये इसे दुर्दु:ख (दुद्दुक्खो) कहना चाहिये।

जो सुख भविष्य में भी सुख देनेवाला, वह सुख बीजसुख है। प्रेमानन्द इसी प्रकार ०

सुख है। रौद्रानन्द को छोड़कर और सुखों को भी इस तरह का बनाया जासकता है। यह सब से अच्छा सुख है इसलिये इसे सत्सुख या सुसुख (सुशिम्मो) कहना चाहिये।

जो सुख भविष्य में न सुख पैदा करनेवाला है न दुःख पैदा करनेवाला है, वर्तमान भोग के बाद वह निर्बीज होकर समाप्त होजायगा उसे अबीज सुख या फलसुख (फायसुखो) कहना चाहिये। ज्ञानानन्द विषयानन्द आदि अधिकतर इस श्रेणी के सुख कहलाते हैं। कभी कभी अन्य सुख भी इस श्रेणी के सुख बनजाते हैं।

जो सुख अधिक दुःख पैदा करनेवाला है वह दुःखबीज सुख है। यह बुरा है इसलिये इसे दुःसुख (दुशिम्मो) कहना चाहिये। विवेक और मर्यादा का ज्ञान न होनेपर कोई भी सुख दुःसुख बनाया जासकता है। रौद्रानन्द इसी श्रेणी का सुख है। इससे सदा बचना चाहिये।

उपाय विचार में दुःखसुख की इन श्रेणियों को ध्यान में रखना चाहिये। तभी विश्वसुख-वर्धन की दृष्टि से इनका ठीक विचार किया जासकेगा।

हमें दुःखबीज दुःख और अबीज दुःख दूर करना है और और सुखबीज सुख और अबीज सुख पाना है इसलिये इन्हीं दोनों बातों का यहां विचार किया जाता है।

तीन द्वार—जो दुःख हमें दूर करना है उन दुःखों के आने के तीन द्वार हैं— १-प्रकृतिद्वार, २-परात्मद्वार, ३-स्वात्मद्वार। प्रकृतिद्वार से आनेवाले दुःख को प्राकृतिक दुःख कहना चाहिये। परात्मद्वार से आनेवाले दुःख को परात्मकृत कहना चाहिये, और अपने भीतर से पैदा होनेवाले दुःख को स्वात्मकृत कहना चाहिये।

१-प्राकृतिक (शीकम्पजेर) यद्यपि संसार में प्रकृति ने दुःख की अपेक्षा सुख अधिक भर रक्खा है, फिर भी दुःख का पूरी तरह अभाव वह कर नहीं सकी है। ज्ञानानन्द जीवनानन्द विषयानन्द की सामग्री उसने काफी भर रक्खी है फिर भी इसमें कुछ कमी भी है। इसमें कुछ तो अनिवार्य है और कुछ मनुष्य के द्वारा दूर करने के लिये छूटी हुई है। प्रकृति तो नियमानुसार काम करती है, इच्छानुसार नहीं। प्रकृति में इच्छा है ही नहीं कि वह इच्छानुसार कार्य कर सके। इसलिये कुछ न कुछ प्राकृतिक दुःख मनुष्य के पीछे पड़े ही रहते हैं। मरण आदि के दुःख तो अनिवार्य हैं और जन्म विकास आदि की दृष्टि से आवश्यक भी हैं, अधिक गर्मी भी वर्षा के लिये जरूरी होती है इसलिये उसकी भी उपयोगिता है फिर भी प्रकृति के द्वारा दिये गये कुछ कष्ट ऐसे हैं जिनकी जरूरत नहीं है। भूकम्प, अतिवर्षा, अतिशीत अत्युष्णता आदि अनेक कष्ट इसी तरह के हैं।

२-परात्मकृत या परकृत (कुमजेर)—दूसरे प्राणियों से भी बहुत से दुःख मिलते हैं। हीन और निर्बल जाति के प्राणियों के आधारपर उच्च और सबल जाति के प्राणियों का जीवन टिका हुआ है इसलिये कुछ परकृत दुःख तो अनिवार्य हैं पर बहुत से परकृत दुःख प्राणियों की खासकर मनुष्य की स्वार्थपरता के कारण हैं। चोरी व्यभिचार परिग्रह विश्वासघात कृ[illegible]न, आदि के पर कृत दुःख ऐसे हैं जिन्हें अनिवार्य नहीं कहा जासकता। मनुष्य सरीखे एक जातिके प्राणी में जो परस्पर दुःखदान होता है वह अक्षन्तव्य है।

३—स्वात्मकृत या स्वकृत (एमजेर) दुःख हैं अपने मनोविकारों या मूर्खता आदि से पैदा होनेवाले दुःख। प्रकृति के द्वारा या दूसरों के द्वारा दुःख का उचित और पर्याप्त कारण न होने पर भी प्राणी अपनी लालसा तृष्णा ईर्ष्या घमंड क्रोध छल घृणा आदि वृत्तियों के कारण काफी दुःखी होता है। इन दुःखों की जिम्मेदारी न प्रकृतिपर है न किसी दूसरेपर, किन्तु अपने पर है। ये स्वकृत दुःख जीवन के कलंक हैं। कोई आदमी सेवा आदि से महान होगया और उसकी महत्ता से अगर हमारा दिल जलता है, तो इसमें हमारा ही अपराध है। सीता के सौन्दर्य से रावण की लालसा तीव्र हुई तो इसमें दूसरा

कोई अपराधी नहीं था रावण ही अपराधी था। सीतापर इस दुःख की जिम्मेदारी नहीं थी किन्तु रावणपर थी।

इस प्रकार बारह प्रकार के दुःख प्राकृतिक, परकृत, स्वकृत के भेद से छत्तीस तरह के हुए। और ये छत्तीस दुःख सद्दुःख भी होते हैं अबीज दुःख भी होते हैं और दुर्दुःख भी होते हैं इस प्रकार कुल एकसौ आठ तरह के दुःख हुए। दुखों के इन भेदों को ठीक तौर से ध्यानमें रखने के लिये निम्नलिखित नक्शा (फूचित्लु) उपयोगी होगा।

आघात	प्रतिविषय	अविषय	रोग	रोष	अतिश्रम	इष्टाप्राप्ति	इष्टवियोग	अनिष्टयोग	लाघव	व्यग्रता	सहवेदन
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२

प्राकृतिक	परकृत	स्वकृत
०	१२	२४
सद्दुःख	**अबीजदुःख**	**दुर्दुःख**
०	३६	७२

एक सौ आठ भेद इसप्रकार बनेंगे। १–सद्दुःखमय प्राकृतिक आघात, २–सद्दुःखमय प्राकृतिक प्रतिविषय ३–सद्दुःखमय प्राकृतिक अविषय। इसप्रकार बारहवां सद्दुःखमय प्राकृतिक सहवेदन। १३–सद्दुःखमय परकृत आघात, १४–सद्दुःखमय परकृत प्रतिविषय आदि २४ वां सद्दुःखमय परकृत सहवेदन। ३६ वां सद्दुःखमय स्वकृत सहवेदन। इसीप्रकार छत्तीस अबीज दुःखमय के, छत्तीस दुर्दुःखमयके, नक्शेपरसे समझनेमें बहुत सुभीता है। जिस नम्बर का भेद हमें निकालना हो वह नम्बर तीनों पंक्तियों की एक एक संख्या जोड़कर निकालना चाहिये। जिन संख्याओं के जोड़ से वह नम्बर निकले उन संख्याओंवाले दुःखों को मिलाने से इच्छित दुःखभेद निकल आयेगा। जैसे हमें ५० वां दुःखभेद निकालना है, तो अबीजदुःखके खाने में लिखा गया ३६, परकृत के खाने में लिखा गया १२, और प्रतिविषय के खाने में लिखा गया २, कुल मिलाकर ५० हुए, इसलिये पचासवां भेद कहलाया 'अबीजदुःखमय परकृत प्रतिविषय'। इस प्रकार कोई भी भेद निकाला जासकता है और भेद के तीनों अंकों को जोड़ने से दुःखों का नम्बर जाना सकता है। जैसे 'दुर्दुःखमय स्वकृत आघात' नाम का भेद ९७ वां भेद कहलाया। दुर्दुःख के ७२, स्वकृत के २४, आघात का १, तीनों अंकों को जोड़ने से ९७ हुए।

इन १०८ तरह के दुःखों में प्रारम्भके ३६ तरह के सद्दुःख छोड़ने योग्य नहीं हैं वे विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से आवश्यक होने के कारण स्वागत योग्य हैं। हां! विश्ववर्धन में बाधा न पड़े और ये दुःख भी कुछ मात्रा में कम होजायँ ऐसा उपाय अवश्य करना चाहिये। बाकी अबीज दुःखमय के छत्तीस भेद और दुर्दुःखमय के छत्तीस भेद इस प्रकार ये ७२ तरह के दुःख दूर करने योग्य हैं इनका उपाय करना चाहिये।

दुःख दूर करने के उपाय छः तरह के हैं—

१ प्रतिरोध, २-दूरीकरण [हटना] ३. चिकित्सा ४ सहिष्णुता, ५ प्रेम, ६ दंड।

१-प्रतिरोध [रोको] आघात आदि को रोकलेना, उसे होने न देना या होनेपर भी उसका असर अपने ऊपर न होने देना प्रतिरोध है। जैसे छत्ते से वर्षा की बूंदें रोकते हैं, ढालसे तलवार की चोट रोकते हैं, मकान के द्वारा वर्षा धूप ठंड रोकते हैं, किवाड़ के द्वारा चोर आदि को रोकते हैं ये सब रोध हैं।

२-दूरीकरण-हटना [हुडो] जहां रोध करने की शक्ति न हो वहां उससे बचने के लिये हटजाना किनारा काटजाना, आदि दूरीकरण है। जैसे भूकम्प को रोक नहीं सकते तो वहां से हटजाना पड़ता है, बाढ पीड़ित स्थान से भी हटजाना पड़ता है, जहां प्लेग आदि को रोक नहीं पाते, वहां भी हट जाना पड़ता है।

प्रश्न—पर यह तो एक तरह की कायरता कहलाई। क्या कायरता भी कल्याण का उपाय होसकती है?

उत्तर— रास्तेमें अगर पहाड़ आजाय तो उसे उखाड़ फेंकने के लिये सिर फोड़ते रहने का नाम बहादुरी नहीं है, बहादुरी है उसके ऊपर से या दायें बायें से निकलजाना। आग लगगई हो तो उसे बुझा डालना चाहिये, पर जहां बुझाना सम्भव न हो वहां आग से बच निकलने की कोशिश न करना, उसमें जल मरना बहादुरी नहीं है। बहादुरी विश्वसुखवर्धन में है, मूढता-पूर्ण हठ में नहीं। हां ! विश्वसुखवर्धन के लिये कभी जलना आवश्यक हो, टकराना आवश्यक हो तब ऐसा करनेमें बहादुरी कहलायगी पर निरर्थक नष्ट होजाने में बहादुरी नहीं है। विश्व-हितकारक कर्तव्य मार्ग से भागने का नाम कायरता है, पर कर्तव्य मार्ग में आये हुए कांटों से बचने का नाम कायरता नहीं है।

३-चिकित्सा (चिशो) दुःख को जब रोका न जासके उससे बचा न जासके वह आ ही जाय तो उसे हटानेके लिये कोशिश करना चिकित्सा है। बीमार होनेपर इलाज कराना, चोरी होजाने पर चोरी का माल ढूंढना आदि चिकित्सा है।

४—सहिष्णुता (फीशो) जब दुःख रोका न जासके, उससे बचा न जासके उसे हटाया न जासके तब उसे धीरज से सहन करना सहिष्णुता है। सहिष्णुता से दुःख का संवेदन कम होता है, चिकित्सा आदि में भी सुविधा होती है, इसप्रकार दुःखपर यथाशक्य विजय मिलजाती है।

प्रश्न—जब दुःख सिरपर आपड़ता है तब हर एक प्राणी सहता ही है, इसप्रकार सहिष्णुता जब अनिवार्य रूप से होती ही है तब उसको उपाय रूपमें अलग बतलाने का क्या अर्थ?

उत्तर—किसी न किसी तरह भोग लेने का नाम सहिष्णुता नहीं है, किन्तु यथाशक्य विचलित हुए बिना सहलेने का नाम सहिष्णुता है। दीन बनकर रोरोकर जो सहाजाता है वह तो भोगलेना (चीशो) है सहना (फीशो) नहीं। भोगना रोरोकर होता है, सहना हँसहँसकर होता है। दुःख में जो जितना धीर, अविचलित और अविकृत है वह उतना ही सहिष्णु है।

ये चार प्रकार के उपाय तो सब तरह के दुःखों के लिये उपयोगी हैं पर प्रेम और दण्ड प्राकृतिक दुःखों में उपयोगी नहीं हैं। प्राकृतिक दुःख किसी व्यक्ति की इच्छा से नहीं आते जिसमें प्रेम या दण्ड का उसपर प्रभाव पड़े और वह अपनी इच्छा से इन दुःखों से हमें मुक्त करदे। जो लोग प्राकृतिक कष्टों से बचने के लिये भक्ति पूजा करते हैं प्रकृति को भेंट चढ़ाते हैं, पानी बरसाने के लिये भजनपूजा होम आदि करते हैं वे इसमें भोलेपन का परिचय देते हैं जिसे मूढ़ता कहा जाना चाहिये। प्रेम (भक्ति मैत्री वात्सल्य) और दण्ड का प्रभाव समझदार प्राणियोंपर ही पड़ता है, प्रकृतिपर नहीं।

५-प्रेम (लवो)—दूसरे प्राणियों के द्वारा हमें जो दुःख सहना पड़ते हैं उनमें उन प्राणियों का स्वार्थ और अहंकार कारण होता है। प्रेम के द्वारा उनकी इन दोनों प्रवृत्तियोंपर काफी अंकुश लगजाता है और वे सीमित होजाती हैं। प्रेम

अहंकार को धोसकता है, स्वार्थ की वासना को कम कर सकता है। प्रेम के बिना बात बात में संशय, खेद, अपमान, आदि मालूम होने लगते हैं, और प्रेम होनेपर बुराई भी उपेक्षणीय होजाती है, यहा तक कि बात बात में भलाई दिखाई देने लगती है। मनुष्यों की तो बात ही क्या है हमारी प्रेममुद्रा या अन्य व्यवहार से जब पशुओं को प्रेम का पता लगजाता है तब वे भी मित्र बन जाते हैं। प्राणिसमाज के कल्याण के लिये यह सर्वश्रेष्ठ औषध है। हमें दूसरों के दिल को प्रेम से (भक्ति मैत्री वात्सल्य करुणा आदि सब प्रेम हैं और सेवा उपकार दान क्षमा सहानुभूति आदि इनके कार्य है) जीतना चाहिये। इससे परप्राणिकृत दुःख प्राय निर्मूल होजायँगे। जो विश्वप्रेमी हैं उनके शत्रु अपेक्षाकृत कम होते हैं और एक तरह से वह तो किसी का शत्रु होता नहीं, ये सब बातें दुःख दूर करने, उसे रोकने, या निर्मूल करने में सहायक होती हैं।

प्रश्न—विश्वप्रेम की क्या जरूरत है, हम राष्ट्रप्रेमी या समाजप्रेमी बनें तो काफी है और वही सम्भव है। कीट-पतंगों तथा अन्य क्षुद्र प्राणियों से हम प्रेम कहां तक कर सकते हैं और करें तो कैसे जिन्दे रह सकते है। इसलिये प्रेम तो उन्हीं से करना चाहिये जिनसे मतलब हो।

उत्तर—यद्यपि इस प्रकरण में कीट-पतंगों से सम्बन्ध नहीं है क्योंकि दुःखनिरोधोपाय के रूप में प्रेम का उपयोग वहीं होसकता है जहा प्राणी हमारे प्रेमभावों को समझ सकें। कीट-पतंग मनुष्य के प्रेमभावों को समझकर तदनुसार व्यवहार नहीं कर सकते। बिच्छू से तुम प्रेम करो इसलिये डंक नहीं मारेगा ऐसी बात नहीं होती फिर भी प्रेम को संकुचित बनाना ठीक नहीं। विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से प्रेम के क्षेत्र को विस्तृत से विस्तृत बनाना चाहिये। यहा निम्न सूचनाएँ उपयोगी हैं।

१–राष्ट्रप्रेम तक विश्वप्रेम को सीमित रखने का परिणाम विश्वव्यापी महायुद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय शोषण, साम्राज्यवाद आदि होता है, ये सब कार्य इतने भयंकर हैं कि एक दिन सारी मनुष्यजाति को नष्ट कर सकते हैं और इतने भयंकर संहार किया भी है। जिस सामग्री से स्वर्ग बनाया जासकता था उससे नरक बनाने में इस राष्ट्रीयता का भी काफी हाथ है।

२–राष्ट्र से भी क्षुद्र सामाजिकता और जातीयता तो किसी भी देश की जनता को हैवान बनादेती है, इससे वह राष्ट्र न संगठित होपाता है, न सहयोग से काम लेसकता है, निर्बल होकर दूसरों का गुलाम बनता है इससे एक तरफ हैवानियत बढती है दूसरी तरफ शैतानियत बढ़ती है। इसप्रकार दुःखों की काफी वृद्धि होती है।

३–कब किस मौकेपर मनुष्य को किससे मतलब निकल आता है इसका कुछ ठिकाना नहीं, इसलिये पहिले से मतलब की बात करना ठीक नहीं। मनुष्यमात्र से तो हमारा मतलब हो ही सकता है पर कभी कभी दूसरे प्राणी से भी मतलब निकल सकता है। इसलिये मतलब के नामपर मन को संकुचित नहीं बनाया जासकता।

४ मनुष्यमात्र में प्रेम को सीमित रखना भी ठीक नहीं क्योंकि मनुष्य से भिन्न प्राणियों में भी, मनुष्य के बराबर न सही किन्तु काफी मात्रा में चैतन्य रहता है। बल्कि बहुत से प्राणियों में समझदारी जानपहिचान, वफादारी, कृतज्ञता, प्रेम आदि गुण पाये जाते है, इन गुणों के कारण उन प्राणियों से एक तरह की सामाजिकता पैदा होजाती है। ऐसी हालत में उनसे प्रेम न करना; उन पशुओं से भी [illegible] को नीचा बनालेना है प्रेम कृतज्ञता [illegible] आदि मनुष्योचित गुणों को नष्ट कर देना है, हां! यह अलग बात है कि कोई पशु मनुष्य जीवन में बाधा डाले, या जीवन के लिये [illegible] और पशु दो में से किसी एक को ही जिन्दा [illegible] सकने की परिस्थिति पैदा होजाय, तो हमें [illegible] को बचाना पड़ेगा क्योंकि विश्वसुखवर्धन [illegible] सम्भव है। फिर भी जिससे जितनी मात्रामें

है उसका हिसाब भुलाया नहीं जासकता। छोटे प्राणी का कम विचार करो, पर विचार अवश्य करो, उसे भुलाओ नहीं। इसप्रकार की नीति से विश्वप्रेम की सीमा में सब प्राणी आजाते हैं और अधिक सुखवर्धन की नीति में बाधा भी नहीं पड़ती, मनुष्य को आत्मरक्षा के आवश्यक और उचित मार्ग भी खुले मिलते हैं।

५-यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि प्रेम, शरीर या वचन की चीज नहीं है, वह मनकी चीज है, इसलिये अवसरपर मीठा बोल-लिया जाय या कुछ शारीरिक शिष्टाचार का पालन करलिया जाय इससे काम नहीं चलसकता। वह मनमें भी हो तभी सफल होसकती है। ऊपर की चीज तो आज नहीं कल उड़जायगी, और ठीक मौकेपर काम न आयगी, वह हमारे अनजान में अपनी निःसारता की घोषणा करती रहेगी, और उससे प्रतिक्रिया भी होगी। इसलिये प्रेम को स्वाभाविक बना देना ही ठीक है। और जब प्रेम स्वाभाविक बनजाता है तब वह एक तरह से असीम होजाता है। वह सूर्य के प्रकाश की तरह चारों ओर फैलता है। यह बात दूसरी है कि जिसमें जितनी योग्यता होती है वह पदार्थ उस प्रकाश से उतना ही चमकता है। पर वह प्रकाश किसी पदार्थपर अपनी तरफसे उपेक्षा नहीं करता। स्वाभाविक प्रेम भी इसी तरह सब के सुखवर्धन का खयाल रखता है।

६-स्वाभाविक प्रेम या विश्वप्रेम में एक बड़ा लाभ यह है कि हम अपने को सदा सर्वत्र सुरक्षित और सहाययुक्त समझते हैं, अर्थात् इस प्रकार की परिस्थिति निर्माण होने की सम्भावना बढ़जाती है। हरएक प्राणी को इसी जीवन में कहां नाना जीवनों में अनेक अच्छी-बुरी परिस्थितियों में से गुजरना पड़ता है। अगर प्राणियों में स्वाभाविक विश्वप्रेम हो तो हरएक परिस्थिति में वह दूसरों का प्रेम पासकेगा। इसप्रकार यह विश्वप्रेम का अद्वैत प्राणिसमाज के कल्याण के लिये—विश्वसुखवर्धन के लिये-सर्वोत्तम औषध होगा।

इसप्रकार प्रेम भी दुःख दूर करने का एक बड़ा उपाय है।

५-दंड (डंडा) कल्याण-विरोधी कार्यों और यथाशक्य उनकी मनोवृत्तियों को बलपूर्वक हटाना दण्ड है। जिन प्राणियोंपर प्रेम का उचित प्रभाव नहीं पड़ता उन्हें दण्ड देकर व्यवस्थित करना पड़ता है। निःसन्देह संयम और प्रेम से जो सुखवर्धन होता है और दुःख दूर होते हैं वह सब दण्ड से नहीं होता फिर भी जब कोई उपाय नहीं रहता है तब दण्ड द्वारा जितने दुःखों को जितनी मात्रा में रोका जासकता है उतना रोकना चाहिये।

समाज-व्यवस्था के मूल में दो बातें हैं—एक संयम, दूसरा भय। संयम प्रेम का अनुशासन मानता है और भय दंड का। प्रायः प्रत्येक समझदार प्राणी में न्यूनाधिक रूप में ये दोनों वृत्तियाँ रहती हैं। जो उत्तम श्रेणी के प्राणी हैं उनमें संयम इतना रहता है कि उसके आगे भय दब जाता है। जो अधम श्रेणी के प्राणी हैं वे भय की ही पर्वाह करते हैं। भय के आगे संयम दबजाता है। मध्यम श्रेणी में दोनों पर्याप्त मात्रा में रहते हैं। उत्तम श्रेणी के लिये दण्ड की आवश्यकता नहीं होती। मध्यम श्रेणी के लिये दण्ड-शक्ति की सत्ता या उसका प्रदर्शन ही काफी है पर अधम श्रेणी के लिये उसका प्रयोग आवश्यक है। पर यह कह सकना कठिन है कि कौन प्राणी कब किस श्रेणी में रहेगा? साधारणतः उत्तम श्रेणी के मालूम होनेवाले मनुष्य किसी अवसरपर या ठीक अवसरपर अधम श्रेणी के निकल पड़ते हैं, वर्षों से जिन्हें ईमानदार समझा वे बेईमानी करने का अवसर पाजानेपर बेईमान निकल पड़ते हैं। इसप्रकार का धोखा शिक्षित कहलानेवालों, त्यागी या विरक्त कहलानेवालों, और अच्छे श्रीमानों से भी होजाता है। इसलिये उचित दंड-व्यवस्था होना जरूरी है। जो वास्तव में उत्तम श्रेणी के होंगे उनकेलिये वह व्यवस्था काम में न आयगी पर बाकी सब के लिये तो आयगी। इसप्रकार जिस पाप को संयम या प्रेम

के द्वारा नहीं रोका जासकता है उसके असर से समाज को बचाने का कार्य दंड द्वारा करना चाहिये।

प्रश्न—दंडनीति तो पशुता का चिन्ह है, क्या उसका समर्थन करना पशुता का समर्थन करना नहीं है?

उत्तर—नि:सन्देह दण्डनीति पशुता का चिन्ह है पर जहां पशुता हो वहां केवल उसका चिन्ह मिटादेने से पशुता नहीं मिट सकती। बैल का सींग निकाल देने से बैल आदमी नहीं बन जाता। इसलिये जब तक मनुष्यों में पशुता है तब तक उसे नियन्त्रित रखने के लिये, उसके दु:ख से दूसरों को बचाये रखने के लिये उचित दंडनीति का होना आवश्यक है। हां! उसका प्रयोग सम्हलकर करना चाहिये और न्याय की हत्या न होने देना चाहिये, इसका भी ध्यान रखना चाहिये कि कानून के शब्दों का उपयोग न्याय के विरुद्ध न जाने पाये। हां! अगर प्रेम-नीति से काम चल सकता हो, और दूसरोंपर उसके बुरे प्रभाव पड़ने की सम्भावना न हो तो प्रेमनीति से काम लेना चाहिये, या दण्ड को प्रायश्चित्त का रूप देने की कोशिश करना चाहिये। फिर भी दंड-व्यवस्था तो रहना ही चाहिये। जब पशुता चली जायगी तब दंडनीति विधान रूपमें रहनेपर भी उपयोग में न आयगी। आवश्यकता न रहने से वह उपयोग में भले ही न आये, पर न जाने कब कैसी जरूरत पड़जाये इसलिये उसका रहना आवश्यक है।

प्रश्न—अपराध भी एक तरह की मानसिक बीमारी है और बीमार आदमी दया का पात्र होता है दंड का नहीं, क्योंकि बीमारी में उसका क्या वश?

उत्तर—खेत में अनाज के पौधों के साथ जो घास-फूस पैदा होता है उसमें घासफूस का कोई अपराध नहीं होता, फिर भी अनाज के पौधों की रक्षा के लिये उसका उखाड़ना जरूरी है। बिच्छू के डंक में और सांप के मुँह में विष होता है इसमें भी बेचारे बिच्छू सांपों का कोई वश नहीं, अपराध भी नहीं, फिर भी रक्षा की दृष्टि से उन्हें दंड देना पड़ता है। पागल कुत्ता भी बीमार ही होता है पर जब वह काटने दौड़ता है तब उसे मारना ही पड़ता है। वश हो या न हो पर जब किसी के जरिये दु:खवर्धन होता है तब उसका निरोध करना जरूरी है।

दूसरी बात यह है कि जगत में जितनी बुराइयाँ हैं वे किसी न किसी कारण परम्परा का फल हैं, एक आदमी चोर बदमाश खूनी विश्वासघाती कृतघ्न आदि है तो उसकी इस मनोवृत्ति का निर्माण उसके मातापिता के, या आसपास की घटनाओं के कारण हुआ है, और उसके मातापिता का और आसपास की घटनाओं का निर्माण भी उससे भी पुराने मातापिता और उससे भी पुरानी घटनाओं के द्वारा हुआ है इस प्रकार प्रत्येक बुराई की कारण परम्परा अनादि में विलीन की जासकती है और उस बुराई को कारण दिखाने से निरपराध कहा जासकता है, ऐसी हालत में उसे दंड देने की जरूरत नहीं रहती। परन्तु यदि इस विचार से समाज ने आज तक दंड-व्यवस्था को न अपनाया होता तो समाज के दु:ख आज हजारों गुणे होते। पर दंड-व्यवस्था के भय ने पुरानी कारण परम्परा को नष्ट करके पाप की परम्परा तोड़ी है। मनुष्य अगर अपने मन के सारे विचारों को डायरी में लिख डाले और फिर उन्हें पढ़े तो उसे ही मालूम होगा कि वह किसी शैतान की डायरी है, पर उसके जीवन में जो वह शैतानियत दिखाई नहीं देती, तो उसका कारण समाज का भय है, अपने स्वार्थों को धक्का लगने का भय है। इसप्रकार हम देखते हैं कि परम्परा से कोई बुराई आ भी जाती है तो समाज के दंड भय के कारण वह दबी रहती है। इसलिये जब तक मन की शैतानियत मरी नहीं है तब तक दंडनीति सभी के लिये हितकारी है।

अपराधी को बीमार समझकर दया ... समय हमें समष्टि की दया न भूलजाना चाहिये। रावण को बीमार कहकर दया दिखाते ...

सीताओंपर दया करना न भूलजाना चाहिये। सीताओं की दया भूलने का परिणाम होगा घर-घर में रावणों का पैदा होना। इसप्रकार की ढील से न अपराध रुकेंगे, न अपराधी का भला होगा, न जगत का भला होगा।

माना कि शैतान के भीतर भी हृदय होता है और वह बदल भी सकता है, यथायोग्य उसके हृदय-परिवर्तन की कोशिश भी करना चाहिये, पर उसके हृदय-परिवर्तन की आशा में जीवनभर या वर्षों उसका आततायीपन सहन नहीं किया जासकता। उसके असर को रोकने के लिये उचित दंड देना ही पड़ेगा।

हां! दंड-व्यवस्था में इतना विचार तो करना ही चाहिये कि किस परिस्थिति में उसने अपराध किया, क्या वह दूर की जासकती है, उसका वास्तविक मनोभाव क्या होना चाहिये उसके ऊपर प्रेम का क्या प्रभाव पड़ सकता है, उसे क्षमा किया जाय तो उसकी नज़ीर बनाकर दूसरे लोग उसका दुरुपयोग तो नहीं करेंगे आदि सब बातों का विचार करके जितनी कोमलता से काम लिया जासके लेना चाहिये।

इन सब बातों का विचार करके इतना मानना ही पड़ता है कि दंड-व्यवस्था जरूरी है उससे व्यक्ति का सुधार होता है और समष्टि का भी और इससे दुःख घटता है।

प्रश्न—जब किसी व्यक्ति को मृत्युदंड दिया जाता है तब उसमें उस व्यक्ति के सुधार की क्या गुंजाइश रहजाती है?

उत्तर—मृत्युदंड का भय आज तक उसे इतने बड़े अपराध से रोके रहा और दूसरे सैकड़ों हजारों आदमियों को रोके हुए है यही समाज-सुधार में उसकी उपयोगिता है। कभी कभी ऐसे अवसर आते हैं जब शरीर के एक भाग—सड़ाद आदि—को शरीर से बाहर निकालकर फेंक देना पड़ता है, इसीप्रकार समाज से भी बड़े-बड़े आततायियों को फेंक देना पड़ता है। स्त्रियों के ऊपर बलात्कार करके उनके प्राण लेनेवाले, मतभेद के कारण साधुपुरुषों का या प्रतिस्पर्द्धियों का खून करनेवाले, अपनी ऐयाशी के लिये दूसरे का घर या देश लूटनेवाले, लूटने में बाधक बननेवालों के प्राण लेनेवाले, मृत्युदंड के पात्र हैं, चाहे वे डाकू कहलाते हों, गुंडा कहलाते हों राजा कहलाते हों।

पर किसी भी तरह का दंड क्यों न हो हमारे मनमें न्यायरक्षा या समाजरक्षा का ही ध्यान रहना चाहिये। अपराधी से स्वार्थवश द्वेष न हो, सिर्फ अपराध को नष्ट करने, उसके असर से समाज की रक्षा करने अपराध के फैलाव को रोकने या निर्मूल करने का विचार हो और इसके लिये अपराधी को कठोर से कठोर दंड या मृत्युदंड देना आवश्यक मालूम हो तो इसे विवशता समझकर करना चाहिये। अधिक दुःख रोकने के लिये कम दुःख का विधान अनुचित नहीं है। दुःख दूर करने का यह भी एक उपाय है।

७ संयम—संयम भी दुःख दूर करने का उपाय है, इसका उपयोग दुर्दुःखों में है। अधिकांश दुर्दुःख पापकी राह से जाने से होते हैं और संयम से ही पाप की राह रोकी जासकती है और दुःख से बचा जासकता है, इसलिये वह भी दुःखोपाय है।

इस प्रकार दुःख दूर करने के सात उपाय हैं और उनसे पहिले बताये गये एक सौ आठ तरह के दुःख यथाशक्य दूर करना चाहिये। किस किस दुःख को दूर करने में किस किस उपाय का उपयोग है इसका संक्षिप्त विवेचन यहां किया जाता है।

सद्दुःखों को साधारणतः दूर करने की जरूरत नहीं है सिर्फ उतने अंशमें कम करने की जरूरत है जिसमें उसकी कल्याणकारकता में बाधा न लगे।

१—सद्दुःखमय प्राकृतिक आघात—ओले बरस रहे हैं, एक बच्चा उनकी मार से गिर पड़ा है, हमने दौड़कर उसे उठाया और मकानमें ले आये। इस प्रयत्न में दोचार ओले हमें भी

लगगये, इससे दुःख भी हुआ पर बच्चे के प्राण बचगये। ओलों का आघात प्राकृतिक आघात था और दुःख से अधिक सुख पैदा करनेवाला हुआ इसलिये सद्दुःख था। इसका सहन करना ही उचित है। पीछे चिकित्सा की जासकती है, हाथमें छतरी हो तो उसका उपयोग करके थोड़ा बहुत प्रतिरोध भी किया जासकता है। इसप्रकार यथाशक्य दुःखसे बचना चाहिये पर दुःखसे बचने के नामपर बच्चे की रक्षा रुकना न चाहिये, न हानिकर ढील होना चाहिये।

२—सद्दुःखमय प्राकृतिक प्रतिविषय भी ऊपर की तरह समझ लेना चाहिये। परोपकार के लिये किसी दुर्गन्धित अस्पृश्य या अतिशीत स्थान में जाना पड़े तो प्रतिविषय होगा। उसे सहन करना चाहिये। नाक पर कपड़ा आदि लगाकर प्रतिरोध भी किया जासकता है। पर जिस कारण से दुर्गन्ध पैदा हुई उस कारण को हटाने का प्रतिरोध और भी अच्छा है। सहिष्णुता की आवश्यकता तो है ही।

३-१२-सद्दुःखमय प्राकृतिक अविषय आदि भी इसी तरह से समझ लेना चाहिये। जहां प्राकृतिक दृष्टि से पानी आदि की कमी हो अन्न की कमी हो, वहां सेवा के लिये जाकर कष्ट उठाना पड़े (अविषय ३) या वहां मच्छर आदि के होने से, जलवायु खराब होने से रोग होजाय (रोग ४) जगह ऐसी हो कि घूमने फिरने की भी गुंजाइश न हो (रोध ५) जमीन ऐसी ऊंची-नीची पहाड़ी हो कि आने जाने में भी अतिश्रम पड़े, (अतिश्रम ६) इच्छानुसार चीजें न मिलती हों (इष्टाप्राप्ति ७) या जलवायु आदि की प्रतिकूलता से कुटुम्बियों को न रक्खा जासकता हो (इष्टवियोग ८) वहां ऐसे जंगली जानवरों की बहुलता हो कि दिनरात अनिष्ट की चिन्ता रहती हो (अनिष्टयोग ९) वह जगह ऐसी साधनहीन हो कि वहां रहने से ही आदमी तुच्छ दृष्टि से देखा जाने लगता हो, (लाघव १०) उस जगह प्रकृति ने इतनी परेशानियाँ पैदा करदी हों कि व्यग्रता से काम लेना पड़ता हो (व्यग्रता ११) वहां के प्राकृतिक कष्टों के सहने से, इसप्रकार के दुखी भाइयों के दुख से सहानुभूति पैदा होती हो (सहवेदन १२) ये सब सद्दुःखमय प्राकृतिक कष्ट हैं, इन्हें सहना चाहिये, और कर्तव्य में हानि न हो इसप्रकार उनका प्रतिरोध आदि करना चाहिये, पीछे चिकित्सा भी करना चाहिये।

सद्दुःख आवश्यक हैं पर जिन सद्दुःखों को हम घटा सकते हैं फिर भी उससे पूरा काम होता रहेगा उन्हें घटाना चाहिये। अधिक से अधिक कष्ट सहने से पुण्यबन्ध होगा, नाम होगा इसलिये कम जरूरत होनेपर भी अधिक दुःख भोगना, अज्ञान है और नाम आदि की इच्छा से कष्टों की मात्रा व्यर्थ बढ़ाई जाती हो या बढ़ने दी जाती हो दम्भ है, छल है। इसे मोघ तप [नक तुपो] या मोघप्रातिकतप [नकुन्ट तुपो] कहते हैं। इससे बचना चाहिये।

१३-२४—सद्दुःखमय प्राकृतिक दुःख जिसप्रकार बारह तरह के हैं उसी प्रकार परकृत भी बारह तरह के हैं। इसमें आघात आदि दूसरे मनुष्य के किये हुए होते हैं। जैसे कोई आदमी देश की स्वतन्त्रता के लिये जेल गया तो जेल का दुःख परकृत सद्दुःख कहलायगा। सम्भव है विरोधी सरकार के कर्मचारी उसके साथ मार-पीट करें (आघात १३) खराब खानापीना दें (प्रतिविषय १४) खाना न दें (अविषय १५) भोजन में खराब चीजें या मन्दविष मिलाकर बीमार करदें (रोग १६) आने-जाने की पराधीनता तो रहती ही है अमुक क्षेत्र में रुककर रहना पड़ता है (रोध १७) सख्त सजा होने से अतिश्रम करना पड़े (अतिश्रम १८) पढ़ने-लिखने को किताबें या जरूरी चीजें न मिलें (इष्टाप्राप्ति १९) प्रियजनों का वियोग तो होता ही है (इष्ट वियोग २०) बहुत ही खराब आदमियों की संगति में रहना पड़े इससे खूब परेशानी हो (अनिष्ट योग २१) अपमान हो (लाघव २२) इतना काम करना पड़े और सम्हलकर रहना पड़े कि बात बात में व्यग्रता हो (व्यग्रता २३) समान का होने से दूसरों से सहानुभूति पैदा हो (सह

वेदन २४) इसप्रकार ये परकृत सद्दुःख कहलाये। यहां सहिष्णुता अत्यधिक आवश्यक है प्रेम का भी काफी उपयोग है। बाकी उपाय गौण हैं। हां, ऐसे भी परकृत सद्दुःख होसकते हैं जहां दंड आदि दूसरे उपाय भी काफी मुख्यता से काम दे सकें।

२५-३६—विश्वसुखवर्धन की दृष्टि से, अपने हाथों आघात आदि बारह तरह के कष्ट सहना स्वकृत सद्दुःख है। वास्तव में इन कष्टों से मनुष्य ऊँचे दर्जे का तपस्वी होता है। ध्यान इतना रखना चाहिये कि नामादि के लोभ से व्यर्थ कष्ट न बढ़ाये जायँ नहीं तो ये तप मोघतप या मोघसात्त्विक तप होजायँगे। किसी महान व्यक्ति को जीवन दान देने के लिये अपना खून देना पड़े, [आघात २५] सेवा में बेस्वाद भोजन करना पड़े [रतिविषय २६] भूखों रहना पड़े, अविषय [२७] सेवा से उसका रोग लगने की पूरी सम्भावना हो [रोग २८] रुककर एक जगह रहना पड़े [रोध २९] काफी मिहनत करना पड़े. [अतिश्रम ३०] सेवा में लगे रहने से इष्ट वस्तुएँ न मिलें [इष्टाप्राप्ति ३१] कुटुम्बियों को छोड़ना पड़े [इष्टवियोग ३२] दुर्जनों में या कष्टकर परिस्थिति में रहना पड़े [अनिष्टयोग ३३] दूसरे लोग तो कम योग्यता रखनेपर भी ऊँचे पदोंपर पहुँच जायँ किन्तु यह तपस्वी पदों की पर्वाह किये बिना छोटा कहलाता हुआ भी सेवा करता रहे [लाघव ३४] सेवा का कार्य इतना विविध और विशाल करले कि उसे पूरा करने के लिये व्यग्र होजाना पड़े [व्यग्रता ३५] सेवा कार्यों के अपने हाथ से बुलाये गये कष्टों से दूसरे के कष्टों में सहानुभूति जाग्रत होना [सहवेदन ३६] इस प्रकार ये बारह स्वकृत सद्दुःख हैं। इन्हें सहना चाहिये। इसमें सहिष्णुता ही अत्यावश्यक है।

३७-७२—जिसप्रकार छत्तीस तरह के सद्दुःख हैं उसी तरह छत्तीस तरह के अनीदुःख या फलदुःख हैं। इनमें जो बारह तरह के प्राकृतिक दुःख हैं उनका उपाय तो प्रतिरोध दूरगमन चिकित्सा और सहिष्णुता ही है। पर जो बारह तरह के परकृत फलदुःख हैं उनमें काफी विचार से काम लेना चाहिये। जहां प्रतिरोध से काम चलसकता है वहां कायरता से दूरगमन न करना चाहिये। हां! वीतरागभाव से दूरगमन किया जासकता है। कोई दुर्जन अन्याय करेगा इसलिये उससे डरकर भागने की जरूरत नहीं है। हां, साधुता वीतरागता आदि के कारण उससे बचकर रहा जासकता है। सहिष्णुता की भी सीमा का ध्यान रखना चाहिये। अगर हमारी सहिष्णुता दूसरों में दुरभिमान पैदा करे अन्याय को उत्तेजन दे तो प्रतिरोध या दण्ड से काम लेना चाहिये। कुछ न हो तो असहयोग तो किया ही जासकता है यह भी एक तरह का दण्ड है। इसीप्रकार जो परकृत लाघव, विनय या शिष्टाचार का रूप न धारण कर सके उससे भी बचना चाहिये। यही बात सहवेदन के बारे में है। जिस सहवेदन से न्याय का, सत्य का, विश्वहित का, कोई सम्बन्ध नहीं वह व्यर्थ है। इसी तरह बारह तरह के स्वकृत फलदुःख हैं। ऐसे निरर्थक कष्टों से बचना चाहिये। जिस तपस्या से जगत का कोई हित नहीं बल्कि दुःख ही अधिक है ऐसे तपरूप फलदुःखों से भी बचना चाहिये, अन्यथा ये एक तरह के आत्मघात कहलायँगे।

७३-१०८—इसीप्रकार छत्तीस तरह के दुर्दुःख हैं। ये हर तरह बुरे हैं। ये दुःख के फल ही नहीं हैं किन्तु दुःख के बीज भी हैं। आगे और भी दुःख पैदा करते हैं। जब हम कोई बुरा काम करना चाहें जिसका फल काफी दुःख हो, उस बुरे कार्य के करने में भी जो कष्ट उठाना पड़े वे कष्ट दुर्दुःख कहे जायँगे। जैसे कोई आदमी वर्षा की अँधेरी रात में चोरी करने जाय, और बीच में वर्षा के कारण या जमीन ऊबड़-खाबड़ होने के कारण अँधेरे में काफी कष्ट उठाय तो यह प्राकृतिक आघात नाम का दुर्दुःख कहा जायगा। इसी तरह पाप की राह में प्राकृतिक रीति से भूखों मरने की, दुर्गन्ध आदि सहने की, बीमार होने की, साथियों के मरने की, नौबत आसकती है, ये सब दुर्दुःख हैं। प्रतिरोध आदि

इसके वास्तविक उपाय नहीं है, इसका एक मात्र उपाय है संयम, जो पाप से निवृत्त करदे और पाप की राह में आनेवाले दुःखों से भी बचादे। इसीप्रकार परकृत और स्वकृत दुर्दुःखों का भी एकमात्र उपाय संयम है। दूसरे उपाय थोड़ी-बहुत मात्रा में सफल भी हो और वर्तमान दुःख कुछ घट भी जायँ, तो भी उसकी बुराई जो जीवन में घुसगई है वह दूर न होगी। इसलिये संयम का उपयोग अवश्य करना चाहिये। इसके साथ चिकित्सा का उपयोग किया जासकता है।

सुखोपाय (शिम्मोरहो)

दुःख करने के साथ सुख पाने की भी कोशिश करना जरूरी है। पहिले जो आठ तरह के सुख बताये गये हैं उनके भी तीन तीन रूप किये गये थे, सत्सुख, अबीजसुख और दुःसुख। ये प्राकृतिक भी होते हैं परकृत भी होते है और स्वकृत भी होते हैं। इसप्रकार सुख के बहत्तर भेद होजाते हैं। जैसे एक नक्शे के द्वारा दुःख के एक सौ आठ भेद ध्यान में रक्खे गये थे उसी प्रकार सुख के बहत्तर भेद भी ध्यान में रखना चाहिये।

दूसरों को दुःखी देखकर जो आनन्द मिलता है वह रौद्रानन्द है। निरपराध को दुःखी देखकर जो सुख होगा वह रौद्रानन्द पापानन्द कहा जायगा पर रावण सरीखे पापी को दुःखी देखकर जो सन्तोष या आनन्द होगा वह सत् रौद्रानन्द कहा जायगा। इसप्रकार रौद्रानन्द यहां व्यापक अर्थ में लेना चाहिये। हा, बोलचाल में जहां रौद्रानन्द के साथ सत् आदि कोई अच्छा विशेषण न लगाया जाय वहां रौद्रानन्द का पापानन्द अर्थ करना चाहिये। पहिले रौद्रानन्द का अर्थ इसी व्यावहारिकता को लेकर किया गया है।

१-सत्सुखमय प्राकृतिक ज्ञानानन्द—प्रकृति एक खुली हुई किताब है। उसे थोड़ी बहुत मात्रा में हरएक पढ़ता है और उसके ज्ञान से आनन्द उठा सकता है। अगर वह ज्ञान भविष्य में सुख-वर्धन के काम आता है तो वह सत्सुख है। इसके लिये जिज्ञासा वृत्ति चाहिये, भविष्य में ज्ञान काम आसके इसकेलिये धारणा शक्ति विवेक और प्रेम चाहिये, आनन्दी मनोवृत्ति चाहिये। यह आनन्द बहुत सुलभ और सस्ता है। प्रकृति बहुत खुले हाथों यह ज्ञानानन्द बिखेरती रहती है।

ज्ञानानन्द	प्रेमानन्द	जीवनानन्द	विनोदानन्द	स्वतंत्रतानंद	विषयानन्द	महत्वानन्द	रौद्रानन्द
१	२	३	४	५	६	७	८

प्राकृतिक	परकृत	स्वकृत
३	८	१६
सत्सुख	**फलसुख**	**दुःसुख**
०	२४	४८

तीनों पंक्तियों की एक एक संख्या जोड़कर सुख का इच्छित भेद निकाल लेना चाहिये।

यहां एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि रौद्रानन्द का अर्थ व्यापक है। रौद्रानन्द का अर्थ यहां पापानन्द ही नहीं है किन्तु सामान्य रूप में

२-सत्सुखमय प्राकृतिक प्रेमानन्द—प्रकृति इतनी शिव और सुन्दर है कि हमारे भीतर एक तरह का प्रेम और आत्मीयता का भाव पैदा कर देती है। इस प्रकृति प्रेम का उपयोग अपना जगत् को और सुन्दर बनाने में सुखमय बनाने

किया जासके तो यह सत्सुखमय प्राकृतिक प्रेमानन्द कहलायगा।

३—दुनिया में जीवित रहने के लिये हवा और पानी तो अपने आप मिलते हैं पर अन्य खाद्य-सामग्री भी अपने आप पैदा होती है इन सब को प्राप्तकर स्वयं आनन्द उठाना और जगत् को सुखी करना सत्सुखमय प्राकृतिक जीवनानन्द है।

४—मनोविनोद की, दिल बहलाने की अटूट सामग्री दुनिया में भरी पड़ी है। दुनिया की एक एक रचना कुतूहलवर्धक है और ऐसी अद्भुत है कि ध्यान देनेपर मनुष्य हँसते-हँसते लोटपोट होजायँ। हाथी घोड़ा ऊँट आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के पशु-पक्षियों की, पर्वत शिखरों वनस्पतियों की रचनापर हम गौर करें तो अद्भुत रस में सराबोर होजायँगे और इच्छानुसार मन बहलाव भी कर सकेंगे। इस मन-बहलाव से स्वयं सुखी होना दूसरों को सुखी करना भी एक सत्सुख है।

५—प्रकृति ने हरएक प्राणी को काफी अंश में स्वतन्त्र पैदा किया है। यह दुर्व्यसनों में फसनेलायक काम न करे तो काफी स्वतन्त्रतानन्द प्राप्त कर सकता है।

६—दुनिया में जो जीवनसामग्री उपलब्ध है उसमें एक तरह का अच्छा स्वाद सुगन्ध आदि भी होती है इसके सिवाय भी जगह जगह इन्द्रियों को तृप्त करनेवाली सामग्री भरी पड़ी है। यह बिना दिया हुआ विषयानन्द है प्राणी को इसका उपयोग करना चाहिये। हां! वह दुर्व्यसन न बन जाये, मर्यादा का उल्लंघन कर अपने को या दूसरों को दुःखदायक न बनजाय, विश्वसुखवर्धन की मर्यादा के भीतर रहे, इसका ध्यान रखना आवश्यक है। इतना ही नहीं वह सत्सुख तभी कहलायगा जब यह विश्वसुखवर्धन के काम में आयगा।

७—महत्व कई तरह के होते हैं। पर कुछ महत्व ऐसे हैं जो किसी ने हमें प्रयत्न करके दिये नहीं हैं न हमने उन्हें प्रयत्न से पैदा किया है वे जन्म से ही मिले हैं। जन्म से ही शरीर सुन्दर स्वस्थ शक्तिशाली हो, प्रतिभा हो, तो उसका महत्व का आनन्द मिलता है। पर इस महत्व का दूसरों को सुखी करने में या विश्वसुखवर्धन में उपयोग होना चाहिये। तो सत्सुख कहलायगा। कई लोग ऐसे असन्तोषी स्वभाव के होते हैं कि उन्हें कितना भी महत्व मिला हो, वे सन्तुष्ट नहीं होते। ईर्ष्या के कारण दुखी बने रहते हैं। यह भूल है। अधिक से अधिक महत्व प्राप्त करने के लिये उचित प्रयत्न भले ही करते रहो पर जो कुछ महत्व प्राप्त है उसका आनन्द नष्ट मत करो। अगर जगत में सैकड़ों हमसे महान् हैं तो कुछ ऐसे भी हैं जिनसे हम महान हैं। इस महत्वानन्द का अनुभव करो। उसमें अभिमानी नहीं आत्मगौरवशाली बनो, जिससे सत्कार्यों में प्रेरणा मिले।

८—यद्यपि प्राकृतिक कार्य सब जगह न्यायअन्याय का विचार नहीं करते फिर भी अनेक स्थानोंपर न्याय-व्यवस्था दिखाई देती है। पाप का पथ अनेक तरह से दुःखद और आत्मघातक होता है। अनेक असंयमी लोग बीमार होकर मरते देखे गये हैं, दुनिया के ऊपर कहर बरसाने वाले प्राकृतिक घटनाओं से नष्ट होते देखे गये हैं। ऐसी हालत में उन्हें जो यह अपने आप पाप का दण्ड मिला है उससे सन्तोष हो तो यह रौद्रानन्द सत्सुख ही कहलायगा। हां! अगर यह रौद्रानन्द सिर्फ इसलिये हुआ है कि कष्ट में पड़नेवाला हमारा विरोधी है, फिर भले ही वह निरपराधी हो, बल्कि शायद हम ही अपराधी हों पर विरोध के कारण हमें आनन्द आया है तो यह रौद्रानन्द घोर दुःसुख या महापाप होजायगा। सत्सुख यह तभी कहा जासकता है जब इसमें पापप्रतीकार की भावना हो।

९-१६—जिसप्रकार ये आठ प्रकार के प्राकृतिक सत्सुख बताये गये हैं उसीप्रकार आठ परकृत भी सत्सुख होते हैं। इसमें अन्तर इतना ही है कि ये सुख दूसरों के सहयोग से मिलते हैं इसलिये इनमें कृतज्ञता आदि आवश्यक है। जैसे ज्ञानानन्द गुरुओं से या शास्त्रों से मिलेगा

इसलिये उनकी आदर-भक्ति होना चाहिये। प्रेमानन्द में प्रेम का बदला प्रेम से देना चाहिये, जीवनानन्द में सेवा आदि से प्रत्युपकार करना चाहिये। इसप्रकार अन्य आनन्द की बात भी है। महत्वानन्द का बदला भी नम्रता सेवा तथा अन्य किसी प्रतिदान से देना उचित है। सत्सुखमय रौद्रानन्द में भी वीर-पूजा आदि आवश्यक है। दुष्ट निग्रह के आनन्द के बदले में दुष्टनिग्रही का गुणगान, पूजा आदि जरूरी है।

१७-२४—सत्सुखमय ज्ञानानन्द आदि जब स्वकृत रहते हैं तब उनमें कृतज्ञता आदि का विचार तो नहीं करना पड़ता पर उन्हें प्राप्त करने के लिये साधना पूरी करना पड़ती है। और उनका दुरुपयोग न हो इसलिये संयम का पालन करना पड़ता है, अहंकार प्रचण्ड न होजाय इसका भी ध्यान रखना पड़ता है।

ये चौबीस प्रकार के सत्सुख जितने अधिक हों उतना ही अच्छा। संसार में अधिक से अधिक सत्सुख बढ़ानेकी कोशिश करना चाहिये।

२५-४८—जिस प्रकार सत्सुख चौबीस तरह के हैं उसी प्रकार फलसुख [अबीज सुख] भी चौबीस तरह के हैं। दोनों का अन्तर इतना है कि फलसुख भोगने के बाद समाप्त होजाता है जब कि सत्सुख भोगने के बाद अन्य सुख के लिये बीज बनजाता है। फिर भी यह असम्भव है कि सारा सुख सत्सुख ही रहे, सत्सुखों की परम्परा के अन्त में ऐसा सुख आही जायगा जो भोगने के बाद समाप्त होजाय। इसलिये सत्सुख के समान फलसुख भी संसार में आवश्यक हैं। इसलिये फलसुख भी अधिक से अधिक बढ़ाना चाहिये।

बहुत से लोग भ्रमवश सुख की निन्दा करते हैं। चाहते तो वे भी सुख ही हैं पर मानते हैं कि दुःखसे सुख पैदा होता है सुखसे सुख नहीं होता। विषयानन्द आदि को तो गाली ही दिया करते हैं। पर ऐसे लोग सत्य के मार्ग से दूर हैं।

यह ठीक है कि कभी कहीं सुख के लिये दुःख की भी जरूरत है इसलिये किसी किसी दुःख को सद्दुःख कहा गया है पर विवेकहीन दुःख सुख का मार्ग नहीं है, और न हरएक सुख दुःख का मार्ग है। चाहे विषयानन्द हो चाहे प्रेमानन्द हो अगर वह सत्सुख रूप है या फलसुखरूप है तो उससे न तो जीवन अपवित्र होता है न उससे दुःख बढ़ता है। इसलिये इसी जीवन में हर तरह का सुख प्राप्त करना चाहिये। हां! दुःसुख से जरूर बचना चाहिये।

४९-७२—दुःसुख भी चौबीस तरह के हैं। ये बुरे हैं। इनका त्याग करना चाहिये। ये किस प्रकार विश्वसुखवर्धन में बाधक हैं इसका पूरा विचार कर इनकी दुःसुखता को दूर हटाना चाहिये।

ज्ञानानन्द चाहे वह प्राकृतिक हो चाहे परकृत या स्वकृत, जब उससे अहंकार आजाय, दूसरों को ठगने का विचार आजाय तो ज्ञानानन्द दुःसुख बनजाता है।

प्रेमानन्द जब विवेकहीन होकर पक्षपात के, स्वार्थ के रंग में रंग जाता है तब वह मोह होजाता है। मोह भविष्य में सब को दुःखी करता है।

जीवनानन्द अगर, अन्याय आदि से प्राप्त किया जाय तो वह भी विश्वसुखमें बाधक होने से दुःसुख होजाता है।

विनोदानन्द भी दुःसुख होजाता है अगर मर्यादा का अतिक्रमण करके किया जाय, या ठीक अवसर पर न किया जाय, या ठीक व्यक्ति के साथ न किया जाय, या किसी निरपराध का दिल दुखाने को किया जाय। विनोद हँसी मजाक आदि का ठीक उपयोग करना [illegible] कठिन कार्य है। यह काफी ऊँचे दर्जेका [illegible] है पर इसमें प्रतिभा संयम प्रेम आदि बड़ी जरूरत है, नहीं तो यह काफी दु[illegible] होजाता है। इसकी चोट काफी गहरी होती है विनोदोंका प्रतीकार करना कठिन होने से [illegible]

वेदना भीतर ही भीतर काफी गहरी होती जाती है और एक असिट शत्रुता की छाप लग जाती है।

स्वतन्त्रतानन्द मे यदि संयम विवेक न हो तो यह उच्छृंखलता कहलाने लगता है। उच्छृंखलता अनेक तरह से स्वपर सुखनाशक होती है इसलिये दु:सुख बनजाती है।

विपयानन्द में विपयलालसा जब तीव्र होजाती है वह दुर्व्यसन बनजाती है तब अन्याय की पर्वाह नहीं करती, अपने अस्वास्थ्य की पर्वाह नहीं करती, चोरी करना, या उधार चोर बनना [उधार के नाम पर धन मागना और न देना] आदि अनीतियों से जीवन कलंकित होजाता है ऐसी हालत में विपयानन्द दु:सुख है।

महत्वानन्द की लालसा हरएक को होती है। और वह असीम होती है। सब तरह के आनन्दों से तृप्त होजाने पर भी महत्वानन्द अतृप्त बना रहता है। पर इसके दु:सुख बनने की बहुत सम्भावना है। इसलिये हर तरह के महत्व से खास तौरपर सम्हलने की जरूरत है। महत्वों की गिनती बताना तो मुश्किल है फिर भी खास खास महत्व यहां बताये जाते हैं—

१–अधिकार, २ विभव, ३–संघ, ४ कुल, ५–यश, ६–तप, ७–कला, ८–शक्ति, ९–ज्ञान, १०–सौन्दर्य, ११–असाधारणता, १२–दान, १३–त्याग, १४–सेवा।

१–अधिकार [रीजो] समाज के द्वारा दीगई या स्वीकृत की हुई निग्रह अनुग्रह शक्ति को अधिकार कहते हैं यह इसलिये दी जाती है या स्वीकृत की जाती है कि जिससे अधिकारी ठीक तरह से व्यवस्था कर सके। इसलिये उसका उपयोग सुव्यवस्था के लिये करना चाहिये अपना या अपने लोगों का स्वार्थ सिद्ध करने के लिये या अधिकारी होने का घमण्ड बताने के लिये नहीं। अधिकार की समस्या सब से अधिक जटिल समस्या है। यह समस्या न सुलझने के कारण शासक बदलना पड़ते हैं और शासन-तन्त्र तक बदलना पड़ते हैं राजतन्त्र, अधिनायक तन्त्र, प्रतिनिधितन्त्र प्रजातन्त्र वर्गतन्त्र आदि अनेक तरह के तन्त्र बनाना पड़ते हैं। फिर भी अधिकार के दुरुपयोग का रोकना बड़ा कठिन होता है। और जब तक यह नहीं रुकता तब तक मनुष्य जाति स्वर्ग की सामग्री में नरक बनाती रहेगी। इसलिये अधिकार के महत्वानन्द को दु:सुख न बनने देना चाहिये।

२–विभव [धूनो]—जीवन के लिये उपयोगी अपने अधिकार की सामग्री का नाम विभव है। इसका आनन्द भी महत्वानन्द है। उस सामग्री के उपभोग से जो आनन्द मिलता है, वह अलग है पर विभव के होने से जो लोक मे महत्व मिलता है वह महत्वानन्द अलग है। यह महत्वानन्द बहुत जल्दी दु:सुख बनजाता है। क्योंकि साधारण जन से अधिक और काफी अधिक विभव होनेपर ही महत्वानन्द का अनुभव होता है, और जनसाधारण से काफी अधिक विभव होने का मतलब है समाज के भीतर एक तरह की आर्थिक विषमता का होना। पर यह बुरी बात है। इसलिये महत्वानन्द प्राय: दु:सुख ही बनता है। हां! एक ही तरह से यह दु:सुख होने से बचसकता है। वह यह कि जो हमारे पास विभव हो वह समाज के लिये उपयोग में लाया जाता हो। जितना अधिक जनहित उस विभव से किया जायगा उतनी ही अधिक निष्पापता बढ़ेगी। ऐसी हालत मे हम विभव के मालिक न रहकर सिर्फ सञ्चालक बनना चाहिये।

३–संघ [कुनो]—अपने समर्थक सहायक या सहयोगी समूह का नाम संघ है। मेरे इतने अनुयायी हैं, इतने मित्र या साथी हैं, हमारी संस्था इतनी विशाल या महान है, अमुक राजा नेता पदाधिकारी श्रीमान या विद्वान से मेरा सम्बन्ध है या परिचय है, मेरे इतने नौकर है, आदि का आनन्द संघ का महत्वानन्द है। साधारणत इसका आनन्द मन में ही लेना चाहिये। बाहर इसका घमण्ड नहीं बताना चाहिये। निरपराधों को साधुजनों को दबाने या उनका अपमान करने में इसका उपयोग न करना चाहिये,

नहीं तो यह दुःसुख होजायगा, पाप होजायगा।

४-कुल [जंजो]-जन्मसे सम्बन्ध रखनेवाले जनसमुदाय का नाम कुल है। मैं अमुक कुटुम्ब में पैदा हुआ हूं, मेरे बाप मा चाचा मामा आदि इतने महान हैं, मेरी जाति गोत्र आदि उच्च हैं आदि कुलका महत्व है। जाति शब्द काफी व्यापक है। देश आदि के अनुसार भी जातिभेद बनजाता है और इसके महत्व का भी आनन्द आता है। मैं अमुक प्रान्त का हूं या अमुक देश का हूं या अमुक रंग की जाति का हूँ आदि का महत्व भी कुल का महत्व है। यह महत्व अच्छा महत्व नहीं है, इसका उपयोग न करना चाहिये। जिस मनुष्य में गुण है योग्यता है वह ऐसे महत्वों की पर्वाह नहीं करता। गुणहीन अयोग्य व्यक्ति ही ऐसे निकम्मे महत्वों का सहारा लिया करते हैं। इसलिये साधारणतः यह दुःसुख है। हां! सत्सुख के रूपमें भी यह महत्व कभी कभी काम आसकता है जब कि इसका उपयोग बुराई को दूर करने के लिये किया जाय। जैसे कोई यह सोचे कि "मैं अमुक का बेटा हूँ अमुक प्रान्त या राष्ट्र का हूं फिर ऐसा पतित काम क्यों करूँ? इस प्रकार महत्वानन्द यदि पाप से, बुराई से बचने में सहायक होजाय तो यह सत्सुख कहलायगा, अन्यथा दुःसुख तो है ही।

५-यश [फिसो]-लोगों के हृदय में अपने विषय में जो आदरभाव है वह यश है। यश का आनन्द बुरा नहीं है पर यश प्राप्ति की कला और उसके लिये आवश्यक संयम कठिन है। साथ ही यश की पहिचान भी कठिन है। चार दिन की वाहवाही का मलिन और क्षणिक यश का महत्व बहुत कम है पर लोग इसी में भूल जाते हैं। ईसा आदि महात्माओं का यश आज हजारों वर्ष बीतजाने पर भी संसारव्यापी है जब कि उनके जीवन में शायद साधारण शासक का यश भी उनसे अधिक रहा हो। पर इसलिये साधारण शासक ईसा आदि महात्माओं से अधिक यशस्वी न कहे जायँगे। जो मनुष्य दूरदर्शी है वह उस यश के आनन्द को अपने जीवन में ही अनुभव कर सकता है जो उसके मरने के बाद या मरने के सैकड़ों वर्षों बाद मिलनेवाला है। इसलिये यश का महत्वानन्द वर्तमान के लोगों से ही सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु असीम भविष्य और असीम क्षेत्र से भी सम्बन्ध रखता है। बल्कि सच्चे यश की कसौटी यही भविष्यकाल या महाकाल है। सच्चा यश तीन बातोंपर निर्भर है। १-अपने द्वारा किया गया लोकहित, २-लोकहित के लिये किया गया त्याग, ३-यशोलाभ की गौणता। असाधारण योग्यता भी आवश्यक है पर इसके द्वारा यश की मात्रा ही बढ़ती है, क्योंकि असाधारण योग्यता से लोकहित विशेष रूप में होता है। अगर अपनी साधारण शक्ति का उपयोग उपर्युक्त तीन बातों के अनुसार किया जाय तो असाधारण योग्यता के बिना भी सच्चा यश मिलसकता है। हां! उसकी मात्रा कम रहेगी क्योंकि योग्यता कम होने से लोकहित कम होपायगा। खैर! यश की मात्रा बढ़ाने के लिये असाधारण योग्यता भले ही आवश्यक हो, पर उसकी सच्चाई के लिये उपर्युक्त तीन बात जरूरी हैं। लोकहित के आधार पर तो यश खड़ा ही होता है पर जब उसके लिये त्याग और जुड़जाता है तब उसमें चमक आजाती है। पर त्याग से भी अधिक जरूरी है यशोलाभ की गौणता। यश मोर की तरह है जो गले में रस्सी बांधकर बन्दर की तरह नचाया नहीं जासकता. वह प्राकृतिक कारण मिलनेपर आपही नाचता है। अगर यह मालूम होजाता है कि तुमने यह काम यश के लिये किया है तो यश का पौधा इससे सलझ जाता है। लोग इसलिये यश देना चाहते हैं कि तुमने जो लोगों की सेवा की, उसका बदला लोग धन-सम्पत्ति आदि किसी भौतिक प्रतिदान के द्वारा नहीं चुका सके या पूरी तरह नहीं चुका सके। इसलिये उनके मन में एक तरह की कृतज्ञता का भाव पैदा होता है। यही यश है। पर अगर यह मालूम होजाय कि सेवा करना तुम्हारा लक्ष्य नहीं था सिर्फ यश मुख्य था, तब लोगों के दिल में सेवा के प्रति कृतज्ञता कम होजाती है। वे यह भी सोचते हैं

के अगर हम इसे पूरा यश न दे पायेंगे तो यह सेवा भी न देगा, तब यह तो एक व्यापारी कहलाया परोपकारी नहीं, लोगों के मन में यह भाव आया कि कृतज्ञता कम हुई, और यही तो यश की कमी है। इसलिये यश की पर्वाह के बिना लोकहित के काम में डटे रहने से सच्चा हित मिलता है। इसके निर्णय की कसौटी यह है कि लोकहित और वर्तमान यश में अगर विरोध हो तो, मनुष्य लोकहित की तरफ चलाजाये। तब समझा जायगा कि यश इसकेलिये गौण था। तब महाकाल के यहां उसके यश का हिसाब लिखा जाने लगेगा। इसलिये यश को गौण रखना आवश्यक है।

अपने मुँह से अपने गीत गाने से यश नहीं मिलता या कम होता है, इसलिये आत्मविज्ञापन अच्छा नहीं समझा जाता। हां! सेवा की भावना में कहीं वह आवश्यक होपड़े. सेवा का क्षेत्र तैयार करने के लिये उपयोगिता मालूम हो तो वह अनिवार्य समझकर मर्यादित रूप में किया जासकता है। जैसे कोई बीमार चिकित्सा कराना चाहता हो, और हम उसकेलिये अपरिचित हों, तो उनना आत्मपरिचय उसे देना पड़ता है जिससे उसमें चिकित्सा कराने लायक और चिकित्सा के लिये उपयोगी अनुशासन मानने लायक विश्वास पैदा होजाय। यही कारण है कि कभी कभी लोकोत्तर व्यक्तियों को भी भोली या अपरिचित जनता के सामने एक प्रकार का आत्मविज्ञापन करना पड़ता है जिसमें जनता उन्हें पहिचान सके, उनके वचनों का ठीक मूल्य कर सके और उसके अनुसार चलकर आत्म-कल्याण कर सके। इसमें यही बात देखी जासकती है कि उनका जो आत्मविज्ञापन किया वह जनहित के लिये अनिवार्य था और उसमें किसी प्रकार का अहंकार और स्वार्थपरता नहीं थी। मतलब यह है कि हमारा मुख्य लक्ष्य जनसेवा होना चाहिये, यश नहीं। जनसेवा करते हुए [illegible] यश के नाम का [illegible] [illegible] लोकहित

का बलिदान न करेंगे तो सच्चा यश पाजायँगे, अगर जीवन में वह दिखाई न देगा तो भविष्य में मिलेगा और उसका दिव्यदर्शन हम आज ही कर सकेंगे और उसका महत्वानन्द लेसकेंगे। हां! जब यह महत्वानन्द घमण्ड पैदा करदे, कृतघ्नता पैदा करदे, सेवा में बाधा डालने लग जाय तो दुःसुख होजाता है, इससे बचना चाहिये।

६–तप [तुपो] स्वपरकल्याण के लिये विशेष साधना को तप कहते हैं। तप से भी महत्व बढ़ता है और उससे आनन्द मिलता है। पर कभी कभी तप का बाहरी प्रदर्शन तो होजाता है पर उसके अनुरूप स्वपरकल्याण की साधना नहीं होपाती, बल्कि उस साधना का लक्ष्य भी नहीं होता, किसी तरह महत्व प्राप्त करना या मुफ्त में खानेपीने के साधन जुटाना ही उसका लक्ष्य रहता है। यह एक तरह का ठगपन है इसलिये दुःसुख है। इससे दूर रहना चाहिये।

७–कला [चर्को] विषयों को इस तरह बनाना कि मन और इन्द्रियों का विशेष आकर्षण होसके, इसे कला कहते हैं। थोड़े खर्च में अधिक आकर्षकता लाना इसकी सफलता की कसौटी है। कला के द्वारा अच्छी अच्छी कल्याणकर चीजें लोगों के पास पहुँचाई जासकती हैं, इसप्रकार यह जनसेवा में बहुत उपयोगी होसकती है। पर विषयानन्द की मात्रा से अधिक करने में इसका काफी दुरुपयोग होता है इससे बचना और बचाना चाहिये। अपनी कला का उपयोग विषयान्धता बढ़ाने के लिये कभी न करना चाहिये। जो लोग कहते हैं कि कला कला के लिये है वे काफी अधूरी बात कहते हैं। वास्तव में कला सत्य के लिये अर्थात् स्वपरकल्याण के लिये है। यह ठीक है कि कला एक प्रकार का आनन्द देती है, पर उसका असली उपयोग यह है कि कला की आनन्ददायकता के जरिये मन और इन्द्रियों को खींचकर स्वपरकल्याण के पथ में लाया जाय। तभी वह सत्सुख कल्याणी। इसमें आनन्द की लालिमा जाय और उसीमें कला की समाप्ति मानी जाय तो यह अतीव सत्य

होगा। यदि कला से विषयान्धता पैदा होजाय, जगत् का अकल्याण होने लगे तो वह दुःसुख कहलायगी, ऐसी कला का और उसके महत्व का त्याग ही करना चाहिये।

८ शक्ति [टुंगो]—इच्छानुसार परिवर्तन करने में या परिवर्तन को रोकने में जो साक्षात और मुख्य कारण है ऐसी योग्यता को शक्ति कहते हैं। शक्ति शरीर की भी होती है वचन की भी होती है मन की भी होती है। इसकी विशेषता यह है कि इसके महत्व को सरलता से अस्वीकार नहीं किया जासकता, क्योंकि इसका परिचय प्रत्यक्ष मिलसकता है। इसके महत्व का अनुभव करना और उसका आनन्द लेना साधारणतः तो बुरा नहीं है किन्तु यह अन्याय का, अविनय का कारण न होजाय इसका ध्यान रखना चाहिये। नहीं तो यह दुःसुख होजायगी, पाप होजायगी।

साथ ही यह भी न भूलना चाहिये कि तन की शक्ति से वचन की शक्ति का और वचन की शक्ति से मन की शक्ति का महत्व अधिक है। तन की शक्ति तो पशुओं में भी पाई जाती है पर वचन शक्ति, उचित मात्रा में मनुष्य में ही है, और वचन शक्ति तो प्रायः हरएक मनुष्य में होती है पर मन शक्ति के लिये प्रतिभा विद्वत्ता चिन्तन धारणा संयम आदि अनेक गुणों की साधना करना पड़ती है। यों अपने अपने अवसर पर सभी शक्तियाँ महान हैं फिर भी असाधारणता, अधिक उपयोगिता और जीवन के विकास की दृष्टि से तन से वचन और वचन से मन की शक्ति अधिक महान है।

९-ज्ञान [इगो]-शास्त्र विचार या अनुभव से पाये हुए ज्ञानको विद्या [दुधो] कहते हैं और समझने या विचार करने की शक्ति का नाम बुद्धि [आनो] है। ये दोनों ही ज्ञान हैं और दोनों से ही महत्व मिलता है। हां। यह कहा जासकता है कि बुद्धि जन्मजात होती है और विद्या प्रयत्न से, साधना से, प्राप्त की जाती है। विद्या के द्वारा बुद्धि भी काफी सुसंस्कृत होसकती है। ज्ञान की साधना करके महत्व प्राप्त करना चाहिये। परन्तु यदि इससे आत्मगौरव नहीं अहंकार आया, बदमाशी करने की योग्यता बढ़ी और उससे पाप बढ़ा, कृतघ्नता आई तो यह दुःसुख होजायगा।

१०-सौंदर्य (हूरो) शरीर की आकर्षक रचना का नाम सौंदर्य है। यद्यपि सौंदर्य शब्द का अर्थ आकार और रंग की अच्छाई है अर्थात् सिर्फ आंख का विषय ही सुन्दर समझा जाता है पर यहां किसी भी इन्द्रिय या सब इन्द्रियों के अच्छे विषय से मतलब है इसलिये सौंदर्य व्यापक अर्थ [लंहूरो] में है। इसका अधिकांश महत्व जन्मजात है फिर भी शरीर की स्वच्छता स्वास्थ्य सुव्यवस्था से सौंदर्य की वास्तविक साधना की जासकती है। शृंगार भी बहुत मर्यादित होना चाहिये। अधिक शृंगार सौंदर्य का प्रदर्शन नहीं करता सिर्फ विभव का प्रदर्शन करता है या किसी गमारू मनोवृत्ति का प्रदर्शन करता है। ऐसे शृंगार से बचना चाहिये। किन्तु सुव्यवस्था सफाई आदि से सम्बन्ध रखने वाले और अपव्यय रूप न बनने वाले शृंगार से कोई बुराई नहीं है। सौंदर्य चाहे कृत्रिम [गेमेक] हो चाहे अकृत्रिम (गेमिक, अगेमिक) इसका महत्वानन्द तब तक बुरा नहीं है जब तक वह समय शक्ति और अर्थ का अपव्यय न करे और जिसके कारण छैलापन का परिचय न मिले।

कुछ लोग अपने को साधु तपस्वी त्यागी आदि बताने के लिये इस व्यापक सौन्दर्य [लंहूरो] की तरफ उपेक्षा बताते हैं। गंदे रहना, अस्तव्यस्त रहना इसको वे वैराग्य आदि की निशानी समझते हैं पर यह या तो दंभ है या मूढ़ता। अस्तव्यस्तता, गंदापन आदि योग्य कारण से क्षन्तव्य कहे जासकते हैं पर ये प्रशंसनीय नहीं कहे जासकते, न त्याग वैराग्य साधुता के निशान माने जासकते हैं। सौन्दर्य का महत्वानन्द वहीं बुरा कहा जासकता है जहां उसका उपयोग दुराचार आदि के बढ़ाने में किया हो। वहां वह दुःसुख है इसलिये त्यागने योग्य है।

११-असाधारणता-[नोपोसो] आवश्यकता अनावश्यकता उचित अनुचित का विचार न करते हुए, बहुतों का ध्यान खींचने लायक अद्‌भुतता या विशेषता को यहां असाधारणता कहा गया है। विद्या बुद्धि सौन्दर्य आदि की असाधारणता का महत्व उनकी उपयोगिता के पीछे है। पर इसमें कोई उपयोगिता का विचार नहीं है सिर्फ कुतूहल के कारण उसके देखनेवालों का जमघट लगता है और इससे वह एक तरह की महत्ता पाजाता है। जैसे किसी ने खूब लम्बे नख बढ़ालिये तो इसमें कोई उपयोगिता का विचार नहीं है फिर भी दर्शनार्थी आजायँगे और महत्व बढ़जायगा। कोई सब से ऊंचा है कोई सब से नीचा है, किसी मनुष्य के पूंछ निकल आई है, किसी बैल के तीन सींग आगये हैं ये सब असाधारणताएँ एक तरह का महत्व पैदा कर देती हैं पर ये सब व्यर्थ हैं। इसप्रकार के महत्व का आनन्द लेना मूर्खता है। ऐसी असाधारणताओं को पैदा करने की कोशिश न करना चाहिये। यदि स्वयं पैदा होगई हों तो उनमें महत्वानन्द का अनुभव न करना चाहिये।

१२-दान (दानो) परोपकार के लिये अपनी सम्पत्ति का खर्च करना दान है।

१३-त्याग (सिचो)-स्वपरकल्याण के लिये प्राप्त या अप्राप्त सम्पत्ति, सुविधाओं या अन्य सुखकर वस्तुओं का छोड़ना त्याग है।

दान की अपेक्षा त्याग व्यापक और श्रेष्ठ है। दान भी एक तरह का त्याग है फिर भी दोनों में काफी अन्तर है—१-दान में अपनी आवश्यक सुविधाएँ बहुत अंशों में सुरक्षित रहती हैं और त्याग में आवश्यक सुविधाएँ अधिक अंशों में छोड़ना पड़ती हैं। २-दानी कहलानेवाला व्यक्ति अपना अर्थोपार्जन करता ही रहता है और अर्थोपार्जन के तरीकों की न्याय्यता-अन्याय्यता की भी पर्वाह नहीं करता, पर त्यागी कहलानेवाले व्यक्तिको अर्थोपार्जन के मार्ग भी छोड़देना या सीमित कर देना पड़ता है, और न्याय्यता का भी पूरा ध्यान रखना पड़ता है। ३—दानी संग्रह शील भी होसकता है अतिसंग्रह भी कर सकता है, त्यागी निरतिग्रही होता है। इस कारणों से दानीसे त्यागी श्रेष्ठ है।

दानी और त्यागी बननेसे महत्व भी मिलता है और उसका आनन्द उठाने में कोई बुराई नहीं है। हां ! प्रदर्शन ऐसा न होजाय कि महत्व के लिये ही दान या त्याग किया है। महत्व के लक्ष्यसे दान और त्याग न करना चाहिये। नहीं तो वह निष्फल होजायगा।

१४ सेवा (सिवो) परोपकार के लिये अपनी शक्ति योग्यता समय आदि का उपयोग करना सेवा है। इससे भी महत्व मिलता है। उसका आनन्द लेना चाहिये। हां ! अहंकार न आने पावे ईर्ष्या न आने पावे दूसरे सेवकों का अपमान न होने पावे। नहीं तो वह दुःसुख होजायगा।

इसप्रकार महत्वानन्दों को प्राप्त करना चाहिये और वे दु:सुख न बनजायँ इसका ध्यान रखना चाहिये।

आठवां आनन्द रौद्रानन्द है। यह जब दु:सुख रूप होता है तब पापानन्द कहलाता है। यह बहुत बुरा आनन्द है। इसलिये पापानन्द से बचते रहना चाहिये। यह एक तरह से शैतानियत की निशानी है।

इस प्रकार आठ या बहत्तर तरह के सुख हैं।

प्रश्न—इन आठ प्रकार के सुखोंमें न तो काम सुख का उल्लेख है न मोक्ष सुख का। अगर ये आठों सुख कामसुख हैं तो मोक्षसुख का अलग उल्लेख क्यों नहीं किया गया ?

उत्तर—काम और मोक्षसुख के अलग उल्लेखकी जरूरत नहीं है क्योंकि आठों प्रकार के सुख कामसुख भी होसकते हैं और मोक्ष सुख भी होसकते हैं। कामसुख परनिमित्तक होते हैं इसलिये पराधीन हैं मोक्षसुख अपनी भावनाओं से पैदा होते हैं इसलिये स्वाधीन हैं। काम सुख बाहरी परिस्थिति के अनुसार होते हैं, मोक्षसुख बाहरी परिस्थिति के प्रतिकूल रहने

पर भी होजाते हैं। दूसरा कोई ज्ञान दे या ज्ञान की कोई बाहरी सामग्री मिले उससे जो ज्ञानानन्द होगा वह कामज्ञानानन्द [चिग ज्ञानोशिम्मो] कहलायगा. पर अपने आप आप में लीन होकर जो दिव्यदर्शन किया जायगा. सत्सुखमय ज्ञान प्राप्त किया जायगा वह मोक्षमयज्ञानानन्द [जिन्नं-ज्ञानोशिम्मो] होगा। प्रेम के आदान-प्रदान से जो आनन्द होगा वह काममय [चिगं] प्रेमानन्द होगा, किन्तु अपने आप लीन रहकर विश्व-प्रेम का जो अनुभव किया जायगा वह मोक्षमय [जिन्नं] प्रेमानन्द होगा। जीवन की सामग्री पाकर जो आनन्द होगा वह काम जीवनानन्द कहलायगा, किन्तु जीवन की अनुकूल सामग्री न मिलनेपर भी जीवनमरण में समभाव के द्वारा जो एक तरह की निराकुलता या सन्तोष होगा वह मोक्षमय जीवनानन्द होगा। विनोद का आदान-प्रदान से काममय विनोदानन्द होगा किन्तु किसी के विनोद न करनेपर भी या गाली देनेपर भी जो भावजगत् में एक तरह का विनोद या मुसकराहट पैदा होगी जिससे बाहर का दुःख असर न करेगा, वह मोक्षमय विनोदानन्द होगा। जेल आदि के बन्धन से छूटनेपर जो स्वतन्त्रता का सुख होगा वह काममय स्वतन्त्रतानन्द कहलायगा पर बन्धन में रहते हुए भी बन्धनों की पर्वाह न करते हुए, मन में दीनता या दुःख का भाव न लाते हुए, आत्मा या मन को कौन बाँध सकता है इसप्रकार स्वतन्त्रता का अनुभव करना मोक्षमय स्वतन्त्रतानन्द है। विषयों के मिलने से जो विषयानन्द मिलेगा वह काममय विषयानन्द कहलायगा, विषयों के न मिलनेपर भी या प्रतिकूल मिलनेपर भी उसमें रस का अनुभव करना, जो मिला उसमें सन्तोष मानना या न मिला तो भी प्रसन्न रहना मोक्षमय विषयानन्द है। महत्व मिलनेपर उसका आनन्द होना काममय महत्वानन्द है पर महत्व न मिलनेपर भी अपनी अन्तरंग योग्यता के अनुसार भीतर ही भीतर महत्व का अनुभव करना, ईश्वर परलोक आदि की आशा से अपने अन्तरंग महत्व की सफलता से प्रसन्न रहना, या जीवन की वास्तविक महत्ता को समझकर बाहर से प्राप्त महत्ताओं की पर्वाह न करना आदि मोक्षमय महत्वानन्द है। रौद्रानन्द जो पापानन्दमय है उसका तो त्याग ही करना है पर पापियों को दंडित होते देखकर जो सन्तोष होता है वह बुरा नहीं है वह काममय रौद्रानन्द है, पर जब पापियों को दण्डित न होते देखा जाय और इस आशा से सन्तोष माना जाय कि आज नहीं तो कल और यहां नहीं तो वहां, प्रकृति या परमात्मा दंड देंगे तो मोक्षमय रौद्रानन्द होगा। इसप्रकार आठों तरह के सुख काममय और मोक्षमय होसकते हैं।

जीवन का अन्तिम ध्येय सुख बताया गया है। पर उस ध्येय को पाने के मार्ग में दुःख-सुख का जमघट लगा रहता है। बहुत से दुःख ऐसे होते हैं जो विश्वसुखवर्धन मे बहुत उपयोगी हैं और बहुत से सुख ऐसे होते है कि उनसे विश्वसुखवर्धन में बाधा पड़ती है इसलिये विवेकपूर्वक उनका विश्लेषण कर ध्येय मार्ग को निरापद और स्पष्ट बनाना चाहिये।

चौथा अध्याय [जीनफ होपंगो]

योग दृष्टि (जिम्मो लंको)

जीवन के ध्येय के साथ मिलने का नाम योग है। ध्येय के मार्ग में जो व्यक्ति काफी आगे बढ़जाता है और पर्याप्तमात्रा मे मोक्ष सुख भी पाजाता है वह योगी है। योगी के मुख्य चिन्ह दो हैं जीवन की पवित्रता और मोक्ष। विवेक तो प्रारम्भ मे ही आजाता है क्योंकि उसके बिना आगे की प्रगति रुक जाती है। अन्य अनेक गुण भी पहिले प्राप्त होजाते हैं पर पवित्रता और मोक्ष दोनों अंतिम विशेषताएँ हैं और सब से बड़ी विशेषता मोक्ष है। क्योंकि अन्य गुण वे लोग भी पाजाते हैं जो योगी नहीं होते हैं। पर मोक्ष पाने पर मनुष्य योगी होजाता है। यों थोडा बहुत मोक्ष हर एक के जीवन में दिखाई देसकता है, पर इतने से कोई योगी नहीं कहलाता है। योगी का जीवन मोक्षप्रधान होता है। काम के सिवाय बाकी सुख की अधिकांश पूर्ति वह मोक्ष के द्वारा करता है। मार्ग की दृष्टि की सफलता योगी बनने में है।

योग चतुष्टय [जिम्मो जीने]

योगी के जीवन की सब से बड़ी विशेषता मोक्ष है। उस मोक्ष के अवलम्बन के भेद से योगी दो तरह के होते हैं। १-ध्यानयोगी (मुक्रोजिम्म) २-कर्मयोगी (कज्जोजिम्म),। ध्यान योगी तीन तरह के होते हैं। १-भक्ति योगी, २-सन्यासयोगी ३-विद्यायोगी। इसप्रकार योगी के जीवन के ये चार सहारे हैं इसलिये चार तरह के योगी हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि एक योगी के जीवन मे एक ही सहारा रहता है, इसका मतलब इतना ही है कि मुख्य सहारा एक ही रहता है। बाकी गौण रहते हैं या मुख्य के पूरक रहते हैं।

इन चारो मे परस्पर कोई विरोध नहीं है। एक ही मनुष्य मे चारों बातें पाई जासकती हैं परन्तु जिसमें जिस बात की मुख्यता है उसका योग उसी नाम से कहा जाता है। भक्त मनुष्य दुनिया के झगड़ों से निवृत्त होकर संन्यासी भी होसकता है विद्याव्यसनी भी होसकता है और अपने जीवन के आर्थिक तथा अन्य दायित्व को पूरा करनेवाला भी होसकता है, परन्तु यदि उसके जीवन मे प्रधानता भक्ति की हो तो वह भक्तियोगी कहलायगा। इसीप्रकार अन्य योगी भी दूसरे योग का सहारा लेते हुए भी अपने योग की मुख्यता से उसी नाम के योगी कहे जायेंगे।

यहां यह बात ध्यान मे रखना चाहिये कि भक्ति में अधिक से अधिक समय लगा देने से कोई भक्तियोगी नहीं होजाता या कर्म में अधिक समय लगा देने से कोई कर्मयोगी नहीं होजाता। अधिकांश आदमियों का अधिकांश समय भक्ति में कर्म में पठन-पाठन में बीतता ही है पर इसलिये वे भक्तियोगी या कर्मयोगी नहीं होजाते। मुख्य बात योगी होने की है। पहिले यह देखना चाहिये कि वह योगी है या नहीं ? योगी हो तो फिर विचार किया जायगा कि वह भक्तियोगी है या कर्मयोगी है या अन्य योगी है। योगी के जीवन मे पर्याप्त मात्रा में विवेक निष्पापता तथा अवस्थासमभाव होता है। उसके होने के बाद ही यह देखा जाना चाहिये कि उसके जीवन मे किसकी मुख्यता है, जिसकी मुख्यता हो उसे उसी नाम का योगी समझना चाहिये। योगी न होकर केवल भक्ति या विद्या आदि होने से कोई भक्तियोगी विद्यायोगी आदि नहीं कहाजासकता।

भक्ति योग [भजो जिम्मो]

किसी आदर्श की, ईश्वर की, या व्यक्ति की भक्ति आराधना उपासना आदि के सहारे से जो योगी-जीवन बिताया जाता है, निष्पाप जीवन बिताते हुए दुःखों पर विजय पाई जाती है वह भक्तियोग है। इस तरह की शरणागति से प्राणी को अनेक लाभ होते हैं। उनमें तीन लाभ उल्लेखनीय हैं।

१—सनाथतानुभव (सरबो इदो)

२—आदर्श दर्शन (चाम दीरो)

३—मर्यादा पालन [रामो रंबो]

१—सनाथतानुभव—जिसकी हम भक्ति करते हैं वह हमारा रक्षक है, सहारा देने वाला है, कद्र करनेवाला है इसप्रकार अनुभव से प्राणी को परमसन्तोष होता है। निराशा पर वह विजय पाता है। अगर इस दुनिया में उसकी कोई कद्र नहीं करता, अपमान करता है तब भी वह अपने इष्ट के सहारे उसे सहन कर जाता है और सत्पथ का त्याग नहीं करता। इसप्रकार का अनुभव ईश्वर की भक्ति से अथवा ईश्वर के स्थानपर माने गये गुरुदेवों की भक्ति से मिलता है।

मानव ने पकड़ा नहीं यदि मानव का हाथ।
फिर भी कौन अनाथ जब ईश त्रिलोकीनाथ॥
सत्यभक्त की जगत ने अगर न की पर्वाह।
ईश्वर के दरबार में रही उसी की चाह॥
सत्यभक्त असहाय बन दर दर फांके धूल।
पर ईश्वर के द्वार पर उस पर बरसे फूल॥
जब कि निराशा घेरले बढ़े जगत का ताप।
देता आश्वासन हमीं ईश्वर माईबाप॥
सत्यभक्त को जगत ने दी गालियाँ हजार।
पर ईश्वर ने प्रेम से लिया उसे पुचकार॥
भक्त अकेला पड़गया रहा न कोई साथ।
तब ईश्वर ने प्यार से पकड़ा उसका हाथ॥
विपदाएँ करने लगी सभी ओर से चोट।
सत्यभक्त ने ली तभी सत्येश्वर की ओट॥
सत्येश्वर की साधना कभी न मारी जाय।
यह हुंडी ऐसी नहीं जो न सिकारी जाय॥

२—आदर्श दर्शन—जिसकी हम भक्ति करते हैं वह हमारा आदर्श होता है इसलिये उसका अनुकरण करने की, उसकी तरफ चलने की, कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय करने की हमें सुविधा और प्रेरणा मिलती है।

यह प्रेरणा व्यक्तिदेवों से अर्थात् देवोपम महामानवों से विशेष रूप में मिलती है। ईश्वर, या ईश्वर के समान माने गये गुरुदेवों से विशेषत: सनाथतानुभव मिलता है और महामानवों से विशेष रूप में आदर्शदर्शन मिलता है। यों ईश्वर सब आदर्शों का आदर्श होने से उससे आदर्शदर्शन भी मिल सकता है, पर वह बहुत उच्च होने से उसका अनुकरण करने में मनुष्य ढीला पड़जाता है। फिर भी महामानवता में उसीका अंश माना जाता है इसलिये एक तरह से उसके द्वारा आदर्शदर्शन भी होता है।

इस आदर्शदर्शन से मनुष्य का जीवन पवित्र और सत्पथगामी बनता है।

३—मर्यादा पालन—भक्ति से मनुष्य मर्यादा का पालन भी करने लगता है। ईश्वर या देवपर श्रद्धा होने से वह पाप से डरता है। कर्मफल का विश्वास होता है इसलिये अँधेरे में भी पाप नहीं करता। पाप की भावना पैदा होनेपर उसमें अन्तर्दाह होता है इसलिये पाप से घबराता है। इसप्रकार वह कर्तव्य की मर्यादा के बाहर जाने से रुकता है।

प्रलोभनों का जाल ले जब आया शैतान।
तब ईश्वर ने भक्त के खींचे दोनों कान॥
सारा लालच उड़गया हुआ भक्त का भान।
वह चौकन्ना होगया हार गया शैतान॥
पापों का अवसर मिला खूब मिला एकान्त।
पर ईश्वर था देखता पाप रहे सब शान्त॥

इसप्रकार भक्ति से ये तीन लाभ होते हैं। परन्तु ये लाभ होते हैं तभी, जब भक्ति ज्ञानमक्ति हो। स्वार्थभक्ति या अन्धभक्ति न हो।

यों तो भक्ति निमित्तभेद से अनेक तरह की होती है परन्तु उसके मुख्य भेद तीन हैं। १ ज्ञानभक्ति २—स्वार्थभक्ति. ३—अन्धभक्ति।

१-ज्ञानभक्ति (अंकं भजो) ज्ञान का अर्थ यहां विवेक है इसलिये मानवभाषा में इसे विवेकभक्ति [अंकंभजो] कहा गया है। जो भक्ति, गुणानुराग, या विश्वकल्याण की भावना से सच्ची समझदारी के साथ की जाती है वह ज्ञानभक्ति है। इसमें अविवेक नहीं होता दुःस्वार्थ भी नहीं होता। जो विश्वकल्याण का मूल है या अंग है, विश्वकल्याण में सहायक है, या प्रेरक है, कल्याणपथ में अपने से आगे बढ़ा है, उसकी गुणानुराग और कृतज्ञता से जो भक्ति की जाती है वह ज्ञानभक्ति है।

ज्ञानभक्ति में भी स्वार्थ रहता है या होसकता है पर वह विश्वकल्याण का अंग बनकर रहता है। विश्वकल्याण के विरुद्ध जाकर या उसकी उपेक्षा करके नहीं होता। जैसे-एक शिष्य किसी सद्गुरु की भक्ति करता है क्योंकि सद्गुरु से उसे ज्ञान मिला, सदाचार आदि के संस्कार मिले, मनुष्यता का पाठ पढ़ागया तो इस भक्ति में स्वार्थ होनेपर भी ज्ञानभक्ति है क्योंकि गुरु का यह उपकार विश्वकल्याण के अनुकूल है, इसमें गुरुको, सर्वोपकारी या परोपकारी माना जाता है। परन्तु एक व्यक्ति ने चोरी करने में मदद की, इसलिये चोर उसका भक्त होगया तो यह स्वार्थभक्ति होगी, क्योंकि इसमें विश्वकल्याण के विरुद्ध दुःस्वार्थपरता है। ज्ञानभक्ति में ऐसी दुःस्वार्थपरता नहीं होती। वह जगत्कल्याण के अनुकूल होती है।

स्वार्थभक्ति [लुमं भजो]-विश्वकल्याण की पर्वाह न करके अपनी स्वार्थपरता के कारण जो भक्ति की जाती है वह स्वार्थभक्ति है। इस भक्ति में भक्तिपात्र के गुण दोषों का, पुण्य पाप का विचार नहीं होता सिर्फ अपने स्वार्थ का विचार होता है। स्वार्थ की मुख्यता के कारण यह स्वार्थभक्ति कहलाती है।

प्रश्न—एक सद्गुरु के यहां कोई नौकर हो और वह उनका भक्त हो तो उसे स्वार्थभक्त कहेंगे या ज्ञानभक्त।

उत्तर-नौकर आदि प्रायः स्वार्थभक्त होते है, पर ऐसे भी समझदार नौकर होसकते हैं जो गुण आदि के पारखी हों। ऐसे नौकर ज्ञानभक्त होसकते हैं। वे नौकरी छूटजाने पर भी भक्ति न छोड़ेंगे, कृतघ्न न बनेंगे, अगर अपना कोई पाप-दोष हुआ हो और इस कारण मालिक ने दुर्व्यवहार किया हो उपेक्षा की हो तो भी भक्ति न छोड़ेंगे।

प्रश्न—विद्यार्थीके द्वारा अध्यापककी भक्ति, या शिष्य द्वारा गुरु की भक्ति ज्ञानभक्ति है या स्वार्थभक्ति ?

उत्तर-होना तो चाहिये ज्ञान भक्ति, परन्तु होसकती है स्वार्थभक्ति भी। जहां कृतघ्नता हो, अन्याय का समर्थन करालेने की लालसा हो, अपने ऊपर उचित अंकुश रखने के कारण द्वेष हो वहां समझना चाहिये कि स्वार्थ भक्ति है। यदि गुणानुराग, और कृतज्ञता हो, अनुशासन से द्वेष न हो तो समझना चाहिये ज्ञानभक्ति है। धोखा देकर झूठ बोलकर अपना काम निकाललेने की वृत्ति हो वहां किसी प्रकार की भक्ति नहीं है। वहां सिर्फ छल है मायाचार है ठगपन है।

प्रश्न—भक्तिमात्र स्वार्थमूलक है। मनुष्य यों ही किसी की भक्ति नहीं करता, कुछ मतलब से ही करता है। ईश्वर की भी भक्ति हम इसलिये करते हैं कि उसकी दया से हमारा कोई न कोई स्वार्थ सिद्ध होता है। ऐसे ही स्वार्थ से ज्ञानी, परोपकारी, समाज सेवकों साधुओं की भी भक्ति की जाती है। संकट से कोई हमारा उद्धार करे और हम उसकी भक्ति करें तो ऐसे उद्धारक की भक्ति को स्वार्थभक्ति क्यों कहना चाहिये ? यह तो ज्ञानभक्ति है।

उत्तर-स्वार्थ रहने पर भी ज्ञानभक्ति होसकती है, यह इस बातपर निर्भर है कि भक्ति करनेवाले का मन कैसा है। स्वार्थ अगर विश्वकल्याण का अंग है तो ज्ञानभक्ति है अन्यथा स्वार्थभक्ति है। संकट में से किसी ने हमारा

उद्धार किया, इससे हमारे मन मे यह विचार आया, कि यह आदमी बहुत परोपकारी है, इसने बिना किसी स्वार्थ या जान-पहिचान के मेरा उद्धार किया यह पूज्य है। इसप्रकार परोपकारी मानकर अगर हम भक्ति करेंगे तो वह भक्ति स्थिर रहेगी और वह कोई अनर्थ पैदा न करेगी। अब कल्पना करो वह उद्धारक आदमी हमारा निरीक्षक या न्यायाधीश बना और उसने अपराध का उचित दंड दिया, तो उससे दंड पाकर भी हम उसको भक्ति करेंगे, और उसकी उद्धारकता या उपकार की मात्रा को न तो भूलेंगे न कम करेंगे। तब हम ज्ञानभक्त कहलायेंगे, अन्यथा जितने अंशों में भक्ति कम होगा उतने अंशों में वह स्वार्थभक्ति साबित होगी। स्वार्थभक्ति थोड़े से ही अप्रिय प्रसंग से या आगे स्वार्थ की आशा न रहनेपर नष्ट होजाती है या कम होजाती है, वह न्याय-अन्याय की पर्वाह नहीं करती, सिर्फ स्वार्थ की पर्वाह करती है। किसी ने आज स्वार्थसिद्ध कर दिया, भले ही वह अन्याय से कर दिया हो, तो भक्ति होगई, कल स्वार्थ सिद्ध न हुआ, भले ही न्याय या औचित्य के कारण उसने स्वार्थसिद्ध करने से इनकार किया हो तो भक्ति नष्ट होगई। ऐसी भक्ति स्वार्थभक्ति है। ज्ञानभक्ति ऐसी चंचल नहीं होती न उससे अन्याय को उत्तेजन मिलता है। ज्ञानभक्ति उस व्यक्ति की भी होती जिसने हमारा भले ही उपकार न किया हो पर जगत का उपकार किया हो। स्वार्थभक्ति ऐसे व्यक्ति की उपेक्षा करेगी।

ईश्वर की भक्ति भी ज्ञानभक्ति स्वार्थभक्ति या अन्धभक्ति होसकती है। ईश्वर को आदर्श मानकर उस आदर्श की ओर बढ़ने के लिये भक्ति कीजाय, उसे नियन्ता मानकर पाप से बचने के लिये भक्ति की जाय, उसे हितोपदेष्टा मानकर उसकी आज्ञा का पालन करके पवित्र जीवन बनाने के लिये भक्ति की जाय, अपने को पाप और प्रलोभनों से हटाने के लिये आत्मसमर्पण के उद्देश से भक्ति की जाय तो यह ज्ञानभक्ति है। दिनरात पाप करके उसपर माफी की मुहर लगाने के लिये भक्ति की जाय तो स्वार्थभक्ति है बिना समझे रूढ़िवश भक्ति की जाय तो अन्धभक्ति है।

प्रश्न—जैसे स्वार्थ से भक्ति होती है उसी प्रकार भय से भी होती है। साधारण जनता बड़े-बड़े अफसरों से जो भक्ति करती है वह इसलिये नहीं कि अफसरों से वह किसी भलाई की आशा करती है, किन्तु इसलिये कि नाराज होकर कुछ बुराई न करदे। इसप्रकार धर्म के नामपर भी शनैश्चर आदि की पूजा की जाती है यह सब भयभक्ति है। भयभक्ति को स्वार्थभक्ति के समान अलग भेद क्यों नहीं बताया?

उत्तर—भक्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय तो भयभक्ति के अनेक भेद बताये जायँगे। जैसे कि आगे भक्तजीवन प्रकरण में बताये गये हैं। पर यहां तो भलाई-बुराई के नापतौल की दृष्टि से सब भक्तियों को तीन भागों में या तीन जातियों में बाँट दिया गया है। यहां भयभक्ति स्वार्थभक्ति में शामिल है। स्वार्थवासना दो तरह की होती है एक आशापूरक (आशोबेर) दूसरी हानिरोधक (मुग्गोरोक) आशापूरक में कुछ पाने की इच्छा रहती है और हानिरोधक में हानि से बचने की। दोनों ही स्वार्थ है। भयभक्ति में यही हानिरोधक स्वार्थवासना रहती है इसलिये इसे स्वार्थभक्ति के प्रकरण में डालना चाहिये।

प्रश्न—भयभक्ति या स्वार्थभक्ति को भक्ति क्यों कहना चाहिये यह तो एक तरह का छल कपट या मायाचार है। अच्छे शब्दों में इसे शिष्टाचार भी कह सकते हैं पर यह भक्ति तो नहीं है।

उत्तर—स्वार्थभक्ति [लुभभक्तो] शिष्टाचार [तुमो] और चापलूसी [रंलूगो] के बहुत पास है, फिर भी उनमें अन्तर है। जहां भक्ति है वहां विनय अनुराग का प्रवेश मन में है, शिष्टाचार और चापलूसी में मन के विनय का विचार नहीं किया जाता। बल्कि इस में वञ्चना भी होसकती है स्वार्थभक्ति या भयभक्ति में यह बात नहीं है।

है। उसमें मन रंग जाता है। एक ईमानदार नौकर अपने गुणहीन मालिक का भी भक्त बन जाता है, स्वार्थ से उसके मनपर मालिक की महत्ता की छाप बैठजाती है, और उसमें अनुराग भीतर से आजाता है। जहां मनपर महत्ता की छाप हो और प्रेम हो वहां भक्ति समझना चाहिये। जहां ये दोनों या दो में से कोई एक न हो वहां सिर्फ शिष्टाचार रह सकेगा, भक्ति नहीं।

अन्धभक्ति (उर्फ आशो) बिना समझे, हिताहित का विचार किये बिना कुसंस्कार आदि के कारण जो भक्ति होती है वह अन्धभक्ति है। इसमें विवेक नहीं होता और दृढ़ता अक्सर से अधिक होती है। बुद्धि को कोई नई बात जच जाय और पुरानी बात ठीक न मालूम हो तो भी वह पुरानी की भक्ति करता रहेगा। मतलब यह कि अन्धभक्त किसी युक्ति तक अनुभव की पर्वाह नहीं करता।

प्रश्न—ज्ञानभक्त भी अपने विचारों पर इतना दृढ़ रहता है कि वह किसी की पर्वाह नहीं करता तब क्या उसे भी अन्धभक्त कहेंगे।

उत्तर—अन्धभक्त और ज्ञानभक्तकी लापर्वाही में अन्तर है। अन्धभक्त बिना विचारे लापर्वाही करता है पर ज्ञानभक्त निष्पक्ष हृदयसे मान समझकर किसी सत्यपर श्रद्धा कर अन्यपर लापर्वाह रहता है। ज्ञानभक्त जब युक्ति अनुभव से निष्पक्षता पूर्वक गम्भीर विचार कर लेता है और उसका विचार जब श्रद्धा का रूप धारण कर लेता है तब यदि कोई उसकी दुहाई देकर या युक्ति अनुभवशून्य बातें करके उसके विश्वास को हिलाना चाहता है, तब ज्ञानभक्त उसकी पर्वाह नहीं करता है। अथवा एक दो बार विचार करता है किंतु जब वे या देखता है कि विचार करते समय [illegible] जिनमें बार बार के परीक्षण के भी सार नहीं दिखाई देता तब वह लापर्वाही करने लगता है। इस लापर्वाही के मूल में अज्ञान का पक्षपात नहीं किन्तु ज्ञान की गम्भीरता है। इसप्रकार अन्धभक्त की लापर्वाही में और ज्ञानभक्त की लापर्वाही में बड़ा अन्तर है।

प्रश्न—भक्ति योगी ज्ञानभक्त भले ही रहे परन्तु भक्ति से किसी को योगी मानना क्या उचित है? भक्ति तो एक तरह का मोह है मोही को योगी कहना कहां तक ठीक है? भक्ति और योग का एक तरह से विरोध है?

उत्तर—भक्ति से कोई योगी नहीं कहलाता, योगी तो निष्पाप जीवन और जीवनमें मोक्ष प्राप्त करलेने से कहलाता है पर उस जीवन के लिये जो योगी भक्ति का सहारा लेता है वह भक्ति योगी कहलाता है। भक्ति उसके लिये अवलम्बन मात्र है। भक्ति के द्वारा उसने आत्मसमर्पण किया है इसलिये उसका अहंकार नष्ट होगया है, दुर्वासनाएँ दब गई हैं, इष्टभक्ति में लीन होने से दुनिया की चोट उसके मनपर असर पैदा नहीं करपाती जिससे वह निराश होजाय इष्ट प्राप्ति की आशा से वह अपने को इतना असफल नहीं मानता कि सफलता के लिए वह पाप में प्रवृत्त होजाय, इसप्रकार उसकी भक्ति भीतरी दृष्टि में सफल और शुद्ध होनेपर योग को सहारा देती है। केवल भजन करने से कोई भक्ति योगी नहीं होजाता।

भक्ति को मोह कहना अनुचित है। स्वार्थभक्ति और अन्धभक्ति मोह कहलाती है ज्ञानभक्ति नहीं। ज्ञानभक्ति में विवेक रहता है। जहां विवेक है वहां मोह कहां?

प्रश्न—योगी किसी का भक्त नहीं होसकता। योगी तो संसार का सर्वोत्कृष्ट प्राणी है उससे उत्तम कौन है? जिसकी वह भक्ति करेगा।

उत्तर—योगी अगर ईश्वरवादी है तो वह ईश्वर की भक्ति करेगा, अगर ईशानीश समन्वयवादी अर्थात् मनुष्येश्वरवादी है तो वह सत्य की, तथा अनेक गुरुदेवों की भक्ति करेगा। प्राणियों में वह सर्वोत्कृष्ट होसकता है किन्तु ईश्वर या सत्येश्वर के सामने वह लघु है और अपनी लघुता का उसे ठीक ठीक ज्ञान भी है। इसलिए अनीश्वरवाद में वह गुरुभक्त या सिद्धान्तभक्त होगा। भावना को सन्तुष्ट करने के लिये भी

वह गुरु को या सिद्धान्त को ईश्वर का रूप न देगा, फिर भी उसकी दृढ़ भक्ति करेगा।

प्रश्न—क्या व्यक्ति की भक्ति नहीं की जासकती अथवा क्या व्यक्ति की भक्ति करने से योगी नहीं बनाजासकता ?

उत्तर—व्यक्ति की भक्ति दो कारणों से की जासकती है एक तो कृतज्ञता के कारण, दूसरे गुणाधिकता के कारण। योगी मनुष्य स्वयंबुद्ध भी होसकता है और दूसरों के दिये हुए ज्ञान को पाकर भी योगी होसकता है। स्वयंबुद्ध तो सैकड़ों में एकाध होते हैं बाकी दूसरों के द्वारा दिये हुए ज्ञान से होते हैं वे योगी होजाने पर भी ज्ञानदाता या पथप्रदर्शक गुरु की भक्ति सेवा आदर आदि करते हैं। दूसरा कारण यह है कि योगी होजाने पर भी गुणों की दृष्टि से तरतमता होती है। जनसेवा के लिये उपयोगी बाहरी गुणों में तथा व्यवहारकुशलता में एक योगी दूसरे योगी से न्यूनाधिक हो ही सकता है किन्तु जीवन की निष्पापता और मोक्ष में भी थोड़ा बहुत अन्तर होसकता है। भावावेगों की तरतमता कषायवासनाओं की तरतमता आदि अनेक तरह की पारस्परिक तरतमता योगियों में होती है। हां ! वे सब के सब जनसाधारण की अपेक्षा भी ज्ञानदाता या पथप्रदर्शक गुरु की भक्ति सेवा आदर आदि करते हैं। दूसरा कारण यह है कि योगी होजाने पर भी गुणों की दृष्टि से तरतमता होती है। जनसेवा के लिये उपयोगी बाहरी गुणों में तथा व्यवहार कुशलतामें एक योगी दूसरे योगी से न्यूनाधिक होही सकता है, किन्तु जीवन की निष्पापता, और मोक्षमें भी थोड़ा बहुत अन्तर होसकता है। भावावेगों की तरतमता, कषायवासनाओं की तरतमता आदि अनेक तरह की पारस्परिक तरतमता योगियों में होती है। हां ! वे सबके सब जनसाधारण की अपेक्षा काफी पवित्र और विकसित होते हैं। उन्हें पर्याप्त मात्रा में मोक्ष भी प्राप्त रहता है इसलिये उन सब को योगी तो कहना चाहिये फिर भी उनमें तरतमता होसकती है इसलिये गुणाधिक की भक्ति अन्धभक्ति न बनजाय इसका ध्यान रखना चाहिये। व्यक्ति का अवलम्बन लेकर अगर कोई मनुष्य जीवन की पवित्रता और मोक्ष को पासकता है और सुरक्षित रख सकता है, तो उसे भक्ति योगी कहेंगे। सच तो यह है कि ऐसा भक्ति योगी व्यक्ति की ओट में ईश्वर की या गुणों की भक्ति करता है।

सन्यास-योग [मेमिंचो जिम्मो]

वृद्धता आदि शारीरिक अशक्ति अथवा मानसिक थकावट या समाज-सेवा के कार्य में अपनी विशेष उपयोगिता न रहने के कारण समाज संघर्ष का क्षेत्र छोड़ कर ऐहिक दुःखों की पर्वाह किये बिना निष्पाप जीवन व्यतीत करना सन्यास-योग है। संक्षेप में निवृत्ति-प्रधान निष्पाप जीवन संन्यास-योग है।

यह योग युवावस्था के व्यतीत हो जाने पर ही धारण करना चाहिये। इसमें भी योगकी दोनों विशेषताएँ पाई जाती हैं, निष्पाप जीवन और दुःखविजय। इनसे दुःख-नाश और सुख-प्राप्ति होती है।

भक्तियोग की तरह यह भी आपवादिक मार्ग है जीवन में कभी कभी इसकी भी आवश्यकता पड़ जाती है। उचित अवसर पर यह अच्छा है। पर जो लोग सिर्फ भिक्षा मांगने के लिये, आलसी जीवन बिताने के लिये या अपनी पूजा कराने के लिये संन्यास का ढोंग करते हैं अपने आवश्यक कर्तव्य से मुँह मोड़ कर समाज के बोझ बन जाते हैं वे अवश्य ही निंद्य हैं, वे योगी नहीं हैं। संन्यास-योगी अपने आपमें मस्त रहता है वह दुनिया को नहीं सताता और दुनिया उसे सताये तो पर्वाह नहीं करता शिष्टानुग्रह (भलों की भलाई) दुष्टनिग्रह [बुरों की बुराई] उसके जीवन में गौण है सदाचारी होने के साथ वह स्वावलंबी, शान्तिप्रिय, तपस्वी और सहिष्णु होता है।

प्रश्न—भक्ति-योग और संन्यास-योग क्या अन्तर है ?

उत्तर—दोनों ध्यान योग हैं इसलिये दोनों में बहुत कुछ समानता है। अन्तर इतना ही है कि भक्तियोगी का मन, वचन, शरीर किसी कल्पित या अकल्पित देव की उपासना गुणगान आदि में लगा रहता है और संन्यास योगी के जीवन में ऐसी भक्ति या तो होती नहीं है या नाममात्र को होती है, इसकी मुख्यता नहीं होती। सम्भव है उस देव को पाना या उस में लीन होजाना उस संन्यास-योगी का ध्येय हो, परन्तु यह ध्येय अमुक दिशा का संकेत-मात्र करता है वह दिनचर्या में भर नहीं जाता जब कि भक्तियोगी की दिनचर्या में भक्ति भरी रहती है।

प्रश्न—संन्यास अगर युवावस्था में लिया जाय तो क्या बुराई है? म. महावीर म. बुद्ध आदि ने युवावस्था में ही संन्यास लिया था।

उत्तर—ये लोग संन्यास-योगी नहीं थे कर्मयोगी थे। ये तीर्थंकर थे, तीर्थ की रचना कर्मशीलता के बिना कैसे हो सकती है? इनका जीवन समाज सेवक का जीवन था, समाज के साथ संघर्ष इन्हें करना पड़ा, सामाजिक और धार्मिक क्रान्ति इनने की। प्रचारक बनकर गांव गांव सत्य का प्रचार किया। ये तो कर्मशीलता की मूर्ति थे इन्हें संन्यास-योगी न समझना चाहिये।

प्रश्न—गृहत्याग के बाद इन लोगों का जीवन सन्यासी जीवन ही था। ये सुख दुःख की पर्वाह नहीं करते थे, समाज की पर्वाह नहीं करते थे, तपस्या में लीन रहते थे, एकान्त-प्रिय थे इस प्रकार सन्यास के सारे चिह्न इनमें मौजूद थे फिर ये कर्मयोगी कैसे?

उत्तर—साधकावस्था में अवश्य ये लोग सन्यासी थे, पर उनका संन्यास कर्मयोगी बनने की साधना मात्र था। जिस तरह की समाज सेवा ये करना चाहते थे उसके लिये कुछ वर्षों तक वैसा संन्यासी जीवन बिताना जरूरी था। इसलिये इनका संन्यास कर्म की भूमिका होने से कर्मयोग में ही शामिल समझना चाहिये।

प्रश्न—पर से तो ये लोग आत्मशांति के लिये निकले थे, जगत्सेवा करना या तीर्थ रचना करना उस समय इनका ध्येय नहीं था। यह बात तो इन्हें तपस्या करते करते सूझ पड़ी।

उत्तर—ये लोग किस ध्येय से निकले थे इस बात की ऐतिहासिक मीमांसा करने की यहां जरूरत नहीं है। अगर ये जनसेवा के लक्ष्य से नहीं निकले थे तो तीर्थ-रचना के प्रयत्न के पहिले तक संन्यासी थे। अगर जन सेवा के ध्येय से इनने गृहत्याग किया था तो गृह-त्याग के बाद से ही ये कर्मयोग के पथिक थे। जैसे युद्ध करना और युद्ध की सामग्री एकत्रित करना एक ही कार्यधारा है उसी प्रकार कर्म करना और कर्म-साधना करना दोनों की एक धारा है।

प्रश्न—म. महावीर और म. बुद्ध ने तो तीर्थ रचना की इसलिये उन्हें कर्मयोगी कहा जाय तो ठीक है। पर उनके सैकड़ों शिष्य, जो गृह-त्याग करते थे, उन्हें संन्यास-योगी कहा जाय या कर्मयोगी।

उत्तर—उन में योगी कितने थे यह कहना कठिन है पर उन में जितने योगी थे उन योगियों में अधिकांश कर्मयोगी थे। म. महावीर के शिष्य एक सत्य तीर्थ के प्रचार के लिये स्वयंसेवक बने थे। शांति और क्रांति का संगठन करने के लिये वे दीक्षित हुए थे, दुनिया से हटकर एकान्त सेवन के लिये नहीं, इसलिये वे सन्यासयोगी नहीं कहे जा सकते, कर्मयोगी ही कहे जा सकते हैं। हां, उन में ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं जो सिर्फ आत्मशांति के लिये म. महावीर के संघ में आये थे, जनसेवा जिनके लिये गौण बात थी वे संन्यास योगी कहे जा सकते हैं।

प्रश्न—जिस व्यक्ति ने कुल कुटुम्ब या धन पैसे का त्याग कर दिया ऐसा त्यागी वास्तव में संन्यासी ही है वह जनसेवा करे तो भी उसे कर्मयोगी कैसे कह सकते हैं, कर्मयोगी तो गृहस्थ ही हो सकता है।

उत्तर—कर्मयोग ऐसा संकुचित नहीं है कि वह किसी आश्रम की सीमा में रुक जाय,

जहां जीवन की जिम्मेदारियों को पूरा किया जाता हो और समाज के प्रति अपने दायित्व पर उपेक्षा नहीं की जाती हो वहां कर्मयोग ही है। फिर वह व्यक्ति चाहे गृहस्थ हो या सन्यासी। जो गृह-कुटुम्ब का त्याग विश्व-सेवा के लिये करते हैं वे गृहस्थ कहलायें या न कहलायें वे कर्मयोगी हैं। गृह-कुटुम्ब के त्याग से तो उनने सिर्फ इतना ही साबित किया है कि उनके कौटुम्बिक स्वार्थ अब संकुचित नहीं है। उनकी कुटुम्ब सेवा की शक्ति भी अब विश्वसेवा में लगेगी। इस प्रकार कर्म करने के रंग ढंग बदल लेने से किसी की कर्मयोगिता घट नहीं जाती।

प्रश्न–कर्मयोगियों की नामावलि में महात्मा कृष्ण राजर्षि जनक आदि गृहस्थों के नाम ही क्यों आते हैं?

उत्तर– इसलिये कि कर्मयोग की कठिन परीक्षा यहीं होती है और उसका व्यापक रूप भी यहीं दिखाई देता है। कर्मयोगी बनने में सन्यासी को जितनी सुविधा है उतनी गृहस्थ को नहीं। संन्यासी का स्थान साधारण समाज की दृष्टि में स्वभाव से ऊँचा रहता है इसलिये मान अपमान और लाभालाभ में उसका गौरव नष्ट नहीं होता। कुछ शारीरिक असुविधाएँ ही उसे उठाना पड़ती हैं पर समाज की दृष्टि में वे भी उसके लिये भूषण होती हैं। लेकिन गृहस्थ को यह सुविधा नहीं होती। गृहस्थ-योगी को योगी की सारी जिम्मेदारियाँ तो उठाना ही पड़ती है साथ ही समाज के द्वारा उस योगी को मिलनेवाली जितनी विपत्तियाँ हैं वे सब भी सहना पड़ती हैं इसलिये संन्यासी की अपेक्षा गृहस्थ को योगी बनने में अधिक कठिनाई हैं। फिर संन्यासी समाज के लिये कुछ न कुछ बोझल होता है इसलिये भी सब के अनुकरणीय नहीं है। अगर गृहस्थ-रूप में सारा जगत कर्मयोगी होजाय तो जगत स्वर्ग की कल्पना से भी अच्छा बन जाय परन्तु अगर सब सन्यासी हो जायँ तो जगत तीन दिन भी न चले इसलिये संन्यासी समाज के लिये अनुकरणीय भी नहीं हैं। संन्यासी की सेवाएँ इकरंगी होती हैं जब कि गृहस्थ की सेवाएँ नाना तरह की होती हैं इसलिये कर्मयोग का व्यापक और उच्च रूप गृहस्थ में दिखाई देता है, संन्यास में नहीं।

आदर्श कर्मयोगी गृहस्थ होगा संन्यासी नहीं। इन सब कारणों से कर्मयोगियों की नाममाला में गृहस्थ योगी ही मुख्य-रूप में बताये जाते हैं। खैर, प्रसिद्धि, व्यापकता, आदि की दृष्टि से किसी का भी नाम लिया जाय परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि सन्यासी, कर्मयोगी नहीं होते हैं। कभी कभी असाधारण जनसेवा के लिये संन्यास लेना अनिवार्य हो जाता है उस समय संन्यासी-कर्मयोगी बनना ही उचित है। जैसे म. महावीर, म. बुद्ध, म. ईसा आदि बने थे।

प्रश्न—गृहस्थ से साधु उच्च है और साधु से योगी उच्च। गृहस्थ जब साधु ही नहीं है तब वह योगी क्या होगा? यदि होगा तो गृहस्थ और साधु में अन्तर क्या रहेगा?

उत्तर—साधु की उच्चता और योगी की उच्चता अलग अलग तरह की है। साधु इसलिये उच्च है कि वह कम से कम लेकर समाज के लिये अधिक से अधिक या सर्वस्व तक देता है जब कि गृहस्थ लेन देन का हिसाब रखता है, इसलिये गृहस्थ से साधु उच्च है। पर ऐसा भी साधु होसकता है जो योगी न हो। योगी जीवन्मुक्त होता है, उसने मोक्ष प्राप्त कर लिया होता है, उसका जीवन पवित्र अर्थात् निर्दोष होता है. फिर भी होसकता है कि साधु न हो कम लेकर अधिक देने की नीति के अनुसार उसका जीवन न बना हो। ऐसी हालत में वह योगी कहा जासकता है साधु नहीं! बहुत से ध्यानयोगी योगी होनेपर भी साधु नहीं होते। इसप्रकार साधु और योगी दोनों महान होनेपर भी और एक दृष्टि से योगी साधु से महान होनेपर भी ऐसा होसकता है कि एक आदमी योगी हो पर साधु न हो. या साधु हो पर योगी न हो। इस दृष्टि से चार श्रेणियाँ बनती हैं।

१ योगी साधु
२ योगी गृहस्थ
३ अयोगी साधु
४ अयोगी गृहस्थ

इसप्रकार अयोगी गृहस्थ से अयोगी साधु उच्च है, किन्तु अयोगी साधु से योगी गृहस्थ उच्च है। सब से उच्च योगीसाधु है।

हां! यहां यह बात भी ध्यान मे रखना चाहिये कि साधु होना एक बात है, साधुसस्था का सदस्य होना दूसरी बात और साधुवेष लेना तीसरी बात। समाज से कम लेकर उसे अधिक सेवा देना और पवित्र जीवन बिताना साधुता है। यह साधुता गृहस्थ मे भी होसकती है और साधु संस्था के सदस्य मे और साधुवेषी में भी नहीं होसकती है। साधुता रखनेपर गृहस्थ साधु ही है। साधुता न रखने पर साधुसस्था का सदस्य या साधुवेषी भी असाधु है, या गृहस्थ है या गृहस्थ से भी गयाबीता है।

प्रश्न—ध्यानयोगी या संन्यास योगी को साधु कहा जाय या नहीं?

उत्तर—ध्यानयोगी या संन्यास योगी में साधुता की मुख्यता तो नहीं रहती, फिर भी वे साधु होसकते हैं, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में कुछ न कुछ जनसेवा उनसे होजाती है। अगर वे साधुसस्था के सदस्य हैं या साधुवेषी हैं साथ ही योगी हैं तब उनकी गिनती साधुओं मे करना चाहिये। क्योंकि मुक्ति प्राप्त कर लेने से उनमें इतनी विशेषता आही जाती है कि वे वञ्चकता न करें, मुफ्तखोरी उनका ध्येय न हो। फिर भी अच्छा तो यह है कि संन्यासयोगियों को न गृहस्थ कहा जाय न साधु, किन्तु उन्हें विरक्त या निवृत्त कहा जाय। इसप्रकार मानव जीवन को गृहस्थ और साधु इसप्रकार दो भागों में नहीं, किन्तु गृहस्थ, विरक्त और साधु इसप्रकार तीन भागों में विभक्त किया जाय। विरक्त से साधु का स्थान उच्च है, क्योंकि विरक्त में सिर्फ संयम और सदाचार ही है जब कि साधु मे संयम सदाचार के साथ जगत्सेवा भी है। विरक्त यदि योगी (मोक्षप्राप्त) है तो वह योगी की दृष्टि से उच्च है, पर विरक्त की दृष्टि से साधु से उच्च नहीं है। सच पूछा जाय तो विरक्त या निवृत्त साधु की भूमिकामात्र है। विरक्तयोगी से साधु-योगी उच्च हैं। विरक्तता आपवादिक है। क्योंवृद्ध हुए बिना विरक्तता उचित भी नहीं है। साधुता सब समय उचित है। सन्यासी मे साधुता उचित मात्रा में नहीं पाई जाती, इसलिये उसे अपवाद कहागया अगर संन्यासी का वेष हो और साधुता भरपूर हो तब उसे कर्मयोगी कहेंगे। जैसा कि म. महावीर, म बुद्ध आदि के विषय मे कहा जाचुका है।

विद्यायोग (वुधो जिम्मो)

विद्या या सरस्वती की उपासना में लीन होकर, आत्मसन्तोष की मुख्यता से निष्पाप जीवन बनाना विद्यायोग या सारस्वतयोग है। यह भी व्यक्ति की तरह ध्यानयोग है क्योंकि इसमें कर्म की प्रधानता नहीं है। जो लोग पुस्तकें पढ़ने मे, तथा अनेक तरह के अनुभव एकत्रित करने में जो सेवाहीन निष्पाप जीवन बिताते हैं वे विद्यायोगी हैं। यह योग भी वृद्धावस्था में ही होना चाहिये। जवानी में सरस्वती की उपासना लोकहित का अंग बनाकर ही की जानी चाहिये।

प्रश्न-सरस्वती की उपासना तो एक प्रकार की भक्ति कहलाई इसलिये इसे भक्तियोग ही क्यों न कहाजाय?

उत्तर—सरस्वती की मूर्ति चित्र या पुस्तक आदि कोई स्मारक रखकर, अथवा बिना किसी स्मारक के सरस्वती का गुणगान किया जाय तो वह भक्ति कही जासकेगी, परन्तु सारस्वतयोगी इस प्रकार की भक्ति में जीवन नहीं बिताता, वहा सरस्वती की उपासना का मतलब है ज्ञान का उपार्जन करना और ज्ञान तृप्ति मे ही आनन्दित रहना। इसप्रकार पवित्र जीवन बिताने वाला जीवन्मुक्त व्यक्ति विद्यायोगी या सारस्वतयोगी है।

प्रश्न—विद्योपार्जन करना, ग्रन्थ निर्माण करना कविता वगैरह बनाना भी एक बड़ी

समाजसेवा है इसलिये विद्यायोगी को कर्मयोगी क्यों न कहा जाय ?

उत्तर—सरस्वती की उपासना अगर जगत की सेवा के लिये है तब तो वह कर्मयोग ही है अगर वह निवृत्तिमय जीवन बिताने का एक तरीका ही है तो वह कर्मयोग नहीं है इसलिये उसे अलग नाम देना उचित है।

प्रश्न—विद्याव्यसन के समान और भी निर्दोष व्यसन हैं इसलिये उनका अवलम्बन लेकर योग साधन करनेवाले योगियों का भी अलग उल्लेख होना चाहिये। एक आदमी प्राचीन स्थानों के दर्शनों में पवित्र जीवन बिताता है कोई पुरानी खोज में लगा रहता है इनको किसमें शामिल किया जायगा ?

उत्तर—देशाटन यदि जनसेवा के लिये है तो कर्मयोग है, अगर सिर्फ नये नये अनुभवों का आनन्द लेने को है तो सारस्वत योग है। प्राचीन चीजों की खोज जनहित के लिये है तो कर्मयोग है सिर्फ आत्म-सन्तुष्टि के लिये है तो सारस्वत-योग है। कविता आदि के विषय में भी यही बात समझना चाहिये।

प्रश्न—सारस्वत योग को संन्यास-योग क्यों न कहा जाय ? दुनियादारी को भूलकर अध्ययन आदि में लीन हो जाना एक तरह का संन्यास ही है।

उत्तर—एक तरह का संन्यास तो भक्तियोग भी है। सभी ध्यानयोग एक तरह के संन्यास हैं फिर भी ध्यानयोग के जो तीन भेद किये गये हैं वे ऐसे निमित्तों के भेद से किये गये हैं जो कि पवित्र और निर्द्वन्द्व जीवन में सहायक हैं। भक्ति और तप के समान विद्या भी निर्दोष जीवन में सहायक है इसलिये उसका अलग योग बतलाया गया।

प्रश्न—ध्यानयोग में काम-योग क्यों नहीं माना गया ?

उत्तर—योग के साथ कोई नाम तभी लगाया जासकता है जब जीवन-चर्या का प्रधान अंग बन जाय। काम यदि जीवनचर्या का प्रधान अंग बनजाय तो जीवन इतना पवित्र न रह जायगा कि उसे योगी जीवन कहा जा सके।

प्रश्न—काम भी तो एक जीवार्थ है अगर वह जीवन चर्या का मुख्य अंग बन जाय तो पवित्रता क्यों नष्ट हो जायगी ?

उत्तर—काम, मोक्ष की तरह अपने में पूर्ण नहीं है उसका असर दूसरों पर अधिक पड़ता है। बल्कि अधिकांशतः अपना काम दूसरों के काम में बाधक हो जाता है ऐसी हालत में काम-प्रधान जीवन पर-विघातक हुए बिना नहीं रह सकता। काम को पवित्र जीवन में स्थान है पर धर्म अर्थ और मोक्ष के साथ। अकेला काम हिंसक और पापमय हो जायगा। इसलिये कामयोग नाम का भेद नहीं बनाया जा सकता। योगी के पास काम रहता है और पर्याप्त मात्रा में रहता है पर वह भक्ति तप विद्या आदि की तरह प्रधानता नहीं पाने पाता। जीवार्थों के साथ रहता है ऐसी हालत में योगी कामयोगी नहीं किन्तु कर्मयोगी बन जाता है।

प्रश्न—चित्र संगीत आदि काम के किसी ऐसे रूप को जो विघातक नहीं है अपनाकर पवित्र जीवन बितानेवाला योगी किस नाम से पुकारा जाय ?

उत्तर—कलाओं की शुद्ध उपासना में ईश्वर के साथ, और ईश्वर न मानते हो तो प्रकृति के साथ तन्मयता होती है इसलिये साधारणतः कलोपासक योगी, भक्ति-योगी है। अगर कलोपासना में नये नये विचार और अनुभवों का आनन्द मिलता है तो वह सरस्वती की उपासना हो जाती है जैसे कविता कला। ऐसा आदमी अगर योगी हो तो सारस्वत योगी होगा। यदि उसका कलाप्रेम लोकहित के काम में आता होगा तो वह कर्मयोगी बन जायगा।

प्रश्न—यदि विद्या, कला आदि आराम के कामोंसे मनुष्य कर्मयोगी कहला सकता है तो समाजसेवा के लिये सर्वस्व देने वाले, उसके कल्याण के लिये दिनरात चोटें खाने वाले क्या कहलायेंगे ? और जो लोग समाजहित की पर्वाह

नहीं करते उनको भी आप योगी कहें-तो यह भी अंधेर ही है ?

उत्तर—योगी के जो चार भेद बताये गये हैं वे रूप-भेद हैं, श्रेणी-भेद नहीं, प्रत्येक योग के पालन में तरतमता होती है। कर्मयोगी हजारों हो सकते हैं पर वे सब बराबर होंगे यह बात नहीं है। इसलिये विद्या, कला आदि के साथ कर्मयोगी बननेवाले और सर्वस्व देकर क्रांति करके कर्मयोगी बननेवाले समान नहीं हैं। उनका मूल्य तो योग्यता त्याग और फलपर निर्भर है। इसलिये अधिक सेवा का महत्व नष्ट नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी न भूल जाना चाहिये कि भक्ति करने से ही कोई भक्ति-योगी नहीं हो जाता, न विद्या कला से सारस्वत-योगी, न गृह-त्याग से सन्यास-योगी और न कर्म करने से कर्मयोगी। ये काम तो हर एक आदमी करता ही रहता है पर इन कामों के करते हुए योगी होना बात दूसरी है। योगी होने के लिये निष्पाप जीवन तत्वदर्शीपन और सम-भाव आवश्यक है। रही समाजहित की बात, सो समाजहित अपनी भीतरी और बाहिरी परि-स्थिति पर निर्भर है। कभी कभी इच्छा रहते हुए भी समाजहित नहीं हो पाता ऐसी हालत में समाज का अहित न किया जाय यही काफी है। ध्यान-योगी कम से कम इतना तो करते ही हैं। अगर किसी कारण वे समाजहित नहीं कर पाते तो उनका स्थान समाजहितकारियों कर्मयोगियों से नीचा रहेगा पर वे अपनी आत्मशुद्धि और जीवन्मुक्ति के कारण योगी अवश्य कहलाँयगे।

इन तीनों प्रकार के योगों में कर्म की प्रधानता नहीं है किंतु एकाग्र मनोवृत्ति की प्रधा-नता है इसलिये ये तीनों ध्यान योग हैं।

कर्मयोग (कज्जोजिम्मो)

समाज के प्रति शक्त्यनुसार उचित कर्तव्य करते हुए भीतर से पूर्ण समभावी रहकर निष्पाप जीवन बिताना कर्मयोग है। चारों योगों में कर्म-योग श्रेष्ठ और व्यापक है। ध्यानयोग तो एक तरह से अपवाद है पर कर्मयोग सब के लिये है। ध्यानयोगी अगर बहुत अधिक हो जावें तो समाज उनके बोझ से परेशान हो जाय पर कर्मयोगी सारा संसार हो जाय तो भी परेशानी नहीं होगी।

प्रश्न—म. महावीर म. बुद्ध आदि गृहत्या-गियों और भिक्षाजीवियों को भी आप कर्मयोगी कहते हैं अगर ऐसे कर्मयोगी अधिक हो जाँय तो समाज के ऊपर उनका भी बोझ हो जायगा फिर ध्यानयोग में ही बोझ होने की सम्भावना क्यों ?

उत्तर—गृह त्यागी कर्मयोगी अगर मर्यादा से अर्थात् आवश्यकता से अधिक हो जायँगे तो कर्मयोगी तो उचित और आवश्यक कर्म करता है। अब अगर किसी कर्म की समाज को आव-श्यकता नहीं है अथवा आवश्यकता जितनी है उसकी पूर्ति अधिक हो रही है इसलिये अधिक पूर्ति करने वाले बोझ हो रहे हैं तो ऐसी अवस्था में वे बोझ बनने वाले कर्म करते हुए भी कर्म-योगी न कहलायेंगे। इसलिये म. महावीर म. बुद्ध आदि के श्रमण संघ में उतने ही श्रमण कर्मयोगी रह सकते हैं जितने समाज के लिये जरूरी हों, और उस आवश्यकता के कारण समाज पर बोझ न बन सकें।

प्रश्न—उस आवश्यकता का निर्णय कौन करेगा ?

उत्तर—आवश्यकता का निर्णय कर्मयोगी की सम्यग्विवेक बुद्धि करेगी क्योंकि क्रांतिकारी कर्मयोगियों की सेवा का मूल्य समाज समझ नहीं पाता। उनके जीवन काल में वह उन्हें सताता ही रहता है और उनके जाने के बाद वह उनकी पूजा करता है। क्या धर्म क्या समाज क्या राजनीति सब में प्रायः सब महापुरुषों के जीवन ऐसी परिस्थिति में से गुजरे हैं। इसलिये बहुत सी आवश्यकताओं का निर्णय उस समाज-सेवी को ही करना पड़ता है।

प्रश्न—ऐसी हालत में हरएक निकम्मा कर्म-योगी बन जायगा। दुनिया माने या न माने, आवश्यकता हो या न हो, पर वह अपनी सेवा की उपयोगिता के गीत गाता ही रहेगा। व्यर्थ

गाल बजाने को या कागज काला करने को सेवा कहेगा कदाचित् अपना वेष दिखाने को भी वह सेवा कहे। नाटक के पात्र अगर नाना वेष दिखा कर समाज का मनोरंजन आदि करते हैं तो वह साधु-वेष से कुछ न कुछ रंजन करेगा और उसको महान सेवा कहेगा। इस प्रकार कर्मयोग की तो दुर्दशा हो जावेगी।

उत्तर—सेवा की आवश्यकता का निर्णय विवेक से होगा इसलिये हरएक निकम्मा कर्मयोगी न बन जायगा। हां, वह कह सकेगा। सो कहा करे उसके कहने से हम उसे कर्मयोगी मानलें ऐसी विवशता तो है नहीं। किसी भी तरह के योगी का बोझ उठाने के लिये हम बँधे नहीं हैं फिर कर्मयोगी के लिये तो हम और भी अधिक निश्चिंत हैं। कर्मयोगी तो अपना मार्ग आप बना लेता है। समाज उसका अपमान करे उपेक्षा करे तो भी वह भीतर मुसकराता ही रहता है वह अपनी पूजा कराने के लिये आतुर नहीं होता। निकम्मे और दम्भी अपने को कर्मयोगी भले ही कहें पर विपत्तियों के सामने भीतर की मुसकराहट उनमें न होगी और वे उस परमानन्द से वंचित ही रहेंगे। इस प्रकार चाहे वे कागज काला करें, चाहे गाल बजायें चाहे रूप दिखावें अगर वे कर्मयोगी नहीं हैं तो उसका आनन्द उन्हें न मिलेगा। और दुनिया तो सच्चे कर्मयोगियों को भी नहीं मानती रही है फिर इन्हें मानने के लिये उसे कौन विवश कर सकता है? मतलब यह है कि अपनी समाज-सेवा की आवश्यकता का निर्णय करने का अधिकार तो कर्मयोगी को ही है, इससे वह कर्मयोगी बन जायगा उसका आनन्द उसे मिलेगा और समय आने पर उसका फल भी होगा कदाचित् न हुआ तो इस की वह पर्वाह न करेगा, परन्तु उसे कर्मयोगी मानने न मानने, कहने न कहने का अधिकार समाज को है। दोनों अपने अपने अधिकार का उपयोग करें इसमें कोई बाधा नहीं है।

प्रश्न—कर्मयोगी गृह-त्यागी भी होसकता है और गृही भी हो सकता है, पर दोनों में अच्छा कौन?

उत्तर—अच्छे तो दोनों हैं पर किसी एक से अधिक अच्छेपन का निर्णय देश काल की परिस्थिति पर निर्भर है थोड़ी बहुत आवश्यकता तो हर समय दोनों तरह के कर्मयोगियों की रहती है पर जिस समय जिसकी अधिक आवश्यकता हो उस समय वही अधिक अच्छा। इस प्रकार दोनों प्रकार के कर्मयोगी अपनी अपनी जगह पर अच्छे होने पर भी गृहत्यागी की अपेक्षा गृही कर्मयोगी श्रेष्ठ है। इसके निम्न लिखित कारण हैं।

१—गृहत्यागी का बोझ समाज पर पड़ता है अथवा गृही की अपेक्षा अधिक पड़ता है। गृहत्यागी के बंधन अधिक होने से उसकी आवश्यकतापूर्ति की नैतिक जिम्मेदारी समाज पर आ पड़ती है।

२—गृहत्यागी के वेष की ओट में जितने दंभ छिप सकते हैं उतने गृही की ओट में नहीं छिप सकते।

३—गृहत्यागी की सेवा का क्षेत्र सीमित रहता है उसको बाहिरी नियम कुछ ऐसे बनाने पड़ते हैं कि उस में बद्ध होने के कारण बहुत-सा सेवा-क्षेत्र उसकी गति के बाहर हो जाता है। गृही को यह अड़चन नहीं है।

४—गृहत्यागी समाज को उतना अनुकरणीय नहीं बन पाता जितना गृही बनपाता है। गृहत्यागी की शान्ति क्षमा उदारता आदि देख कर समाज सोचलेता है कि "इनको क्या? इन को क्या करना धरना पड़ता है कि इनका मन अशान्त बने, घर का बोझ इनके सिर पर होता तब जानते। आसमान में बैठ कर सफाई दिखाने से क्या? जमीन में रहकर सफाई दिखाई जाय तब बात। संकोचवश लोग ये शब्द मुँह से भले ही न निकालें पर उनके मन में ये भाव लहराते रहते हैं इसलिये गृहत्यागी उनके लिये अनुकरणीय नहीं बन पाता पर गृही के लिये यह बात नहीं है। वह तो साधारण जनता में मिल जाता है उसके विषय में समाज ऐसे भाव नहीं ला सकता या कमसे कम उतने तो नहीं ला

सकता जितना गृहत्यागी के विषय में हो सकता है। समाज जब उसे अपनी परिस्थिति में देख कर शान्त सदाचारी और सेवामय देखता है तब समाज पर उसके जीवन का अधिक प्रभाव पड़ता है।

५—गृहत्यागी को जीवन की झंझटें कम हो जाती हैं इसलिये उसको अनुभव भी कम मिलने लगते हैं। इन्हीं अनुभवों के आधार पर तो समाज को कुछ ठीक ठीक सीख दी जा सकती है। शान्ति शान्ति चिल्लाने से समाज संगीत का मजा ले सकती है पर प्रेरणा नहीं ले सकती। प्रेरणा उसे तभी मिलेगी जब उसकी परिस्थिति और योग्यता के अनुसार उसे आचार का पाठ्यक्रम दिया जावेगा और परिस्थिति के अनुसार अपना उदाहरण पेश किया जावेगा। गृहत्यागी गृही की अपेक्षा इस विषय में साधारणतः पीछे ही रहेगा। वैयक्तिक योग्यता की बात दूसरी है और उसकी संभावना दोनों तरफ है।

६—गृह त्याग अस्वाभाविक है क्योंकि सब गृहत्यागी होजायँ तो समाज का नाश हो जाय। पर गृही के विषय में यह बात नहीं है। फिर गृह-त्यागी को किसी न किसी रूप में गृही के आश्रित तो रहना ही पड़ता है। इससे भी उस की अस्वाभाविकता मालूम होती है।

इस का यह मतलब नहीं है कि गृह-त्यागी से गृही श्रेष्ठ है। साधारणतः समाज-सेवा के लिये घर द्वार छोड़कर जो सच्चे साधु बन जाते हैं वे गृहियों के द्वारा पूजनीय और वन्दनीय हैं। विश्वसेवा के अनुसार मूल्य भी उनका अधिक है। परन्तु यहाँ तो इतनी बात कही जा रही है कि गृह-त्यागी योगी की अपेक्षा गृही-योगी श्रेष्ठ और अधिक आवश्यक है।

प्रश्न—गृह-वास में योग हो ही कैसे सकता है? घर की झंझटों में किसी गृही का मन ऐसा स्थिर नहीं हो सकता जैसा गृहत्यागी का रहता है। इसलिये जो मन की दृढ़ता, निर्लिप्तता, शुद्धि गृहत्यागी की हो सकती है वह गृही की नहीं हो सकती।

उत्तर—मनः-शुद्धि दोनों जगह हो सकती है पर उसकी ठीक ठीक परीक्षा गृह में ही सम्भव है। झंझटों के छूट जाने से जो स्थिरता रहना आदि दिखाई देती है वह वास्तविक नहीं है विकार के कारण मिलने पर भी जहां विकार न हो वहीं शुद्धि समझना चाहिये यों तो शेर भी गुफा में योगी की तरह शान्त पड़ा रहता है पर इससे उसकी अहिंसकता सिद्ध नहीं हो सकती। अहिंसकता सिद्ध हो सकती है तब, जब भूख लगने पर और जानवरों के बीच में स्वतन्त्रता में रहने पर भी वह शिकार न करे। चोरी करने का अवसर न मिलने से हम ईमानदार हैं इस बात का कोई मूल्य नहीं। झंझटों के बीच में रहते हुए जो मनुष्य अपने मनको चार आना भी शान्त रखता है वह झंझटों से बचे हुए सोलह आना शान्त मन से श्रेष्ठ है। धूल में पड़े होने के कारण धूसरित होनेवाले हीरे की अपेक्षा वह मिट्टी या पत्थर का टुकड़ा अधिक शुद्ध नहीं है जो स्वच्छ स्थान पर रक्खा हुआ है। शुद्धि की परीक्षा के लिये दोनों को एक परिस्थिति में रखना आवश्यक है।

प्रश्न—कर्मयोगी-फिर वह गृही हो या गृह-त्यागी-झंझटों में रहता है। समाज का व्यवहार बिलकुल शान्ति से नहीं चल सकता, वहाँ निग्रह अनुग्रह करना ही पड़ता है और क्षोभ भी प्रगट करना पड़ता है। दुनिया के बहुत से प्राणी ऐसे हैं जो क्षोभ से ही किसी बात को समझते हैं, जानवर से यह कहना फिजूल है कि 'आप वहाँ चले जाइये या यों कीजिये' उसे तो लकड़ी या हाथ के द्वारा मारने का डौल करना पड़ेगा या मारना पड़ेगा तब वह आपका भाव समझेगा। ऐसी हालत में योगी का अक्षोभ कहां रहेगा? बहुत से मनुष्य भी ऐसे होते हैं जिन्हें सीधी तरह रोको तो वे रोकने का महत्व ही नहीं समझते, क्रोध प्रगट करने पर ही वे आप का मतलब समझते हैं। गृहवास में जानवरों से या इस तरह का थोड़ा बहुत जानवरपन रखनेवाले मनुष्यों से काम पड़ता ही है, समाज में तो क्षोभ भी भाषा का अंग बना हुआ है ऐसी हालत में

योगी अक्षुब्ध या शान्त कैसे रहे ? और शान्त न रहे तो वह योगी कैसे ?

उत्तर—जहां क्षोभ भापा का अंग है वहां योगी क्षोभ प्रगट करे तो इसमें बुराई नहीं है। पर क्षोभ के प्रवाह में वह बह न जाय और परा मनोवृत्ति क्षुब्ध न हो जाय। अपरा मनोवृत्ति के क्षुब्ध होने से योगीपन नष्ट नहीं होता। वह निग्रह अनुग्रह करेगा, क्रोध प्रगट करेगा फिर भी परामनोवृत्ति निर्लिप्त रहेगी।

प्रश्न—यह परा और अपरामनोवृत्ति क्या है और इसमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—इसे ठीक समझने लिये तो अनुभव ही साधन है। चिन्हों से या दृष्टान्तों से उसका कुछ अंदाज लगा सकते हैं। त्रैकालिक या स्थिर मनोवृत्ति को परा मनोवृत्ति कहते हैं और क्षणिक या सामयिक मनोवृत्ति को अपरा मनोवृत्ति कहते हैं। जब हम स्मशान में जाते हैं तो एक तरह का वैराग्य हमारे मन पर छा जाता है जो कि घर आने पर कुछ समय बाद दूर हो जाता है यह वैराग्य अपरामनोवृत्ति का है और जब बुढ़ापे में किसी का जवान बेटा मर जाता है जिसके शोक में वह दिनरात रोया करता है तो यह शोक परा मनोवृत्ति का है। हमारे मन में क्रोध आया परन्तु थोड़ी देर बाद क्रोध की निःसारता का विचार भी आया, जिस पर क्रोध हुआ था उस पर द्वेष न रहा तो कहा जा सकता है कि यहां अपरामनोवृत्ति क्षुब्ध हुई परा नहीं। जैसे नाटक का खिलाड़ी रोते हँसते हुए भी भीतर से न रोता है न हँसता है उसी प्रकार योगी की परा मनोवृत्ति न रोती है न हँसती है। नाटक के खिलाड़ी दो तरह के होते हैं एक तो वे जो सिर्फ गाल बजाते हैं, हाथ मटकाते हैं पर जिनके मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता उनकी अपरामनोवृत्ति भी नहीं भीगती, वे सफल खिलाड़ी नहीं हैं। सफल खिलाड़ी वही हो सकता है जिसकी अपरामनोवृत्ति भीगती है। वह सचमुच रोता है, हँसता है फिर भी इस रोने हँसने के भीतर भी एक स्थायीभाव है जो न रोता है न हँसता है वह सिर्फ इतना विचार करता है कि मेरा खेल अच्छा हो रहा है या नहीं। यही परामनोवृत्ति है।

प्रश्न—इस प्रकार अपनी परावृत्ति और अपरावृत्ति का भेद समझा जा सकता है पर दूसरे की परावृत्ति और अपरावृत्ति का भेद कैसे समझ में आवे ? यों तो हरएक आदमी कहने लगेगा कि मैं परमशांत हूं, योगी हूं और जो अशांति या कषाय दिख रही है वह अपरावृत्ति की है इस प्रकार योगी-अयोगी में बड़ी गड़बड़ी हो जायगी।

उत्तर—ऐसी गड़बड़ी होना सम्भव है पर इस गड़बड़ी की परेशानी से बचने के दो उपाय हैं पहिली बात तो यह कि परामनोवृत्ति के विषय में शाब्दिक दुहाई का कोई मूल्य न किया जाय। समाज के प्रति मनुष्य अपनी अपरा मनोवृत्ति के लिये जिम्मेदार है। परामनोवृत्ति का मजा उसे लेना है तो लेता रहे, समाज को इससे कोई मतलब नहीं। एक लम्बा समय बीत जाने पर अगर उसकी परावृत्ति की निर्दोषता के सूचक प्रमाण मिलेंगे तब देखा जायगा। दूसरी बात यह कि परा-मनोवृत्ति के सूचक तीन चिन्ह हैं उनसे उसकी पहिचान की जा सकती है।

१—न्याय-विनय, २—विस्मृत वत् व्यवहार—३ पापी-पाप-भेद।

न्याय-विनय (उंको नायो) योगी तभी क्रोधादि प्रगट करेगा जब किसी अन्याय का विरोध करना पड़े इसलिये उसमें निष्पक्ष विचारकता तो होना ही चाहिये। वह अपनी गलती समझने और सुधारने को हर समय तैयार रहेगा और पश्चाताप भी करेगा। अगर न्याय के सामने वह झुक नहीं सकता तब समझना चाहिये कि उसकी परा-मनोवृत्ति भी दूषित है।

२—विस्मृत-वत्-व्यवहार (भूसूर हाजो) घटना के हो जाने पर या उसके फलाफल का कार्य हो जाने पर इस तरह व्यवहार करना मानो वह घटना हुई ही नहीं है, हम वह घटना बिलकुल भूल गये हैं। इस प्रकार का व्यवहार अकषाय

वृत्तिका सूचक है। इससे भी परामनोवृत्ति का अक्षोभ मालूम होता है।

प्रश्न—किसी दुर्जन की दुर्जनता के बाद भी हम उसकी दुर्जनता कैसे भूल सकते हैं ? अगर भूल जायँ तो हमारी और दूसरों की परेशानी बढ़ जायगा। इसलिये कम से कम उसकी दुर्जनता का स्मरण करके हमें उससे बचते रहने की कोशिश तो करते ही रहना चाहिये और अगर समाज व्यवस्था के लिये दंड देना अनिवार्य हो तो दंड भी देना चाहिये, विस्मृत-वत्-व्यवहार करने से कैसे चलेगा।

उत्तर—विस्मृत-वत् व्यवहार के लिये घटना का होजाना ही आवश्यक नहीं है किन्तु उसका फलाफल-कार्य होजाना भी आवश्यक है। एक चोर ने चोरी की है तो जब तक उसका दंड वह न भोगले तब तक हम उसकी बात नहीं भूल सकते। दंड देने का कार्य हम करेंगे। फिर भी उस पर दया रक्खेंगे, उसको सहज वैरी न बनायेंगे, तथा जब और जहाँ चोरी की बात नहीं है वहाँ उससे प्रेमल व्यवहार रक्खेंगे। मतलब यह है कि सुव्यवस्था रखने के लिये जितना दंड अनिवार्य है उतना तो देंगे, लेकिन उस प्रकरण के बाहर उस घटना को भूले हुए के समान व्यवहार करेंगे।

३—पापी-पाप-भेद-जिसकी परावृत्ति अक्षुब्ध है वह पाप से घृणा करता है पापी से नहीं। पापी पर वह दया करता है उसे एक तरह का रोगी समझता है। पाप को रोग समझ कर उसे पाप से छुड़ाने की चेष्टा करता है। उसका ध्येय दंड नहीं होता सुधार होता है और दंड भी सुधार का अंग बन जाता है।

प्रश्न—ऐसे पाप या बुराई के लिये, जिसका असर दूसरों पर नहीं पड़ता अर्थात् दूसरों के नैतिक अधिकार को बाधा नहीं पहुँचती अगर अपराधी को दंड न दिया जाय, सिर्फ सुधार की दृष्टि से उसकी चिकित्सा ही की जाय तो ठीक है परन्तु उस पर दया करने के लिये दूसरों की क्षति-पूर्ति (मानसिक आर्थिक आदि) न करें तो समाज में बड़ी अव्यवस्था पैदा होगी। सताये हुए लोग न्याय न मिलने के कारण कानून को अपने हाथ मे ले लेंगे। एक खूनी को आप प्राण दंड न देकर सुधार करने के लिये छोड़ दें तो खून करने की भीषणता लोगों के दिल से निकल जायगी इसलिये अपराध बढ़ जायँगे। दूसरे वे लोग कानून को हाथ में लेकर खूनी का या उसके सम्बन्धी का खून करेंगे जिनके आदमी का पहिले खून किया गया है। कानून से निराश होकर जब मनुष्य खुद बदला लेने लगता है तब वह बदले की मात्रा भूल जाता है। जितनी ताकत होती है उतना लेता है। इस प्रकार समाज में अंधाधुन्धी मच जायगी। परन्तु अगर खूनी को प्राण दंड दे दिया जाय तो उसका सुधार कब और कैसे होगा, उस पर हमारी दया कैसे होगी? इस प्रकार पापी और पाप के भेद को जीवन में उतारना योगी को भी असंभव है।

उत्तर—पापी और पाप के भेद का मतलब यह है कि पापी से व्यक्तिगत द्वेष न रखना और उससे बदला लेने की अपेक्षा निष्पाप बनाने का प्रयत्न करना। मूल में तो सभी एक से हैं। परिस्थितियों ने या भीतरी मलने अगर किसी व्यक्ति का पतन कर दिया है तो हमें उसके पतन पर दयापूर्ण दुःख होना चाहिये न कि द्वेष। पर अधिक सुख की नीति के अनुसार जब व्यक्ति और समाज का प्रश्न आता है तब समाज का अधिकार-रक्षण पहली बात है व्यक्ति का इलाज अगर समाज का नाइलाज बन रहा हो तो हमें व्यक्ति के इलाज पर उपेक्षा करना पड़ेगी। इसीलिये खूनी आदि को प्राणदंड की जरूरत है क्योंकि इससे उस व्यक्ति का इलाज भले ही न हो पर समाज का इलाज होता है। जैसे कभी कभी हमे रोगी को भी प्राणदंड देना पड़ता है वैसे कभी कभी पापी को भी प्राण दंड देना पड़ता है। पागल कुत्ता काटता है और उसके काटने से आदमी मर जाता है, इसमें उस कुत्ते का क्या अपराध है ? फिर भी समाज-रक्षण के

लिये उसे प्राणदंड देना पडता है। संक्रामक रोगियों से द्वेष न होने पर भी अमुक अंश में बच रहा जाता है। इस प्रकार व्यक्ति-द्वेष न होने पर भी दण्डादि व्यवस्था चल सकती है।

इन तीन चिन्हों से परा-मनोवृत्ति की पहिचान हो सकती है। जिसकी यह परा-मनोवृत्ति क्षुब्ध न हो उसे योगी समझना चाहिये।

प्रश्न—योगी का द्वेष जैसे भीतर से नहीं रहता उसी प्रकार राग भी भीतर से नहीं रहता। ऐसी हालत में योगी किसी से प्रेम भी सच्चा न करेगा। इस प्रकार उसका प्रेम एक प्रकार की वंचना हो जायगा। भक्ति आदि भी इसी प्रकार वंचना बन जायगी तब भक्तियोग असम्भव हो जायगा। भक्ति से होनेवाला क्षोभ योगी के भीतरी मन तक कैसे जायगी और जब भक्ति परामनोवृत्ति में है ही नहीं तब उससे योग क्या होगा?

उत्तर—परामनोवृत्ति अगर प्रेम से न भी भींगी हो तो भी वंचना न होगी। वंचना के लिये तीन बातें जरूरी हैं। एक तो यह कि अपरा मनोवृत्ति भी न भींगी हो दूसरी यह कि जो विचार प्रगट किये जायँ उनके पालन करने का विचार न हो। तीसरी बात यह कि दूसरे के हिताहित की पर्वाह न करके अपना स्वार्थ सिद्ध करने की इच्छा हो। योगी का प्रेम ऐसा नहीं होता। म. राम कर्मयोगी थे उनकी परा मनोवृत्ति शांत थी, अपरा मनोवृत्ति क्षुब्ध होती थी। उनका सीता-प्रेम और रावण-द्वेष ऐसा ही था। फिर भी उनका सीता-प्रेम वंचना नहीं था क्योंकि सीता के लिये जान जोखम में डालकर वे रावण से लड़े। यद्यपि यह प्रेम प्रजासेवा में बाधा न डाल सका, प्रजा के लिये उनने सीता का त्याग भी किया, फिर भी उनका सीता प्रेम फीका न पड़ा, रिवाज के अनुसार आवश्यक होने पर भी उनने दूसरी शादी नहीं की, विश्वासघात नहीं किया। इस प्रकार परा मनोवृत्ति शान्त थी इसलिये वे सीता का त्याग कर सके पर उनका प्रेम. वंचना नहीं था इसीलिये वे रावण से लड सके और जीवन भर सीता के विषय में विश्वासी रहे। परा और अपरा मनोवृत्ति का यह सुन्दर दृष्टांत है। हां, प्रेम परामनोवृत्ति में भी पहुँच कर मनुष्य को योगी बना सकता है। इस का कारण यह है कि द्वेष के समान प्रेम अधर्म नहीं है। द्वेष विभाव है प्रेम स्वभाव है क्योंकि यह विश्वसुख-वर्धक है। हां, प्रेम जहां पर अज्ञान या स्वार्थ के साथ मिल कर मोह बन जाता है-विश्व-सुख-वर्धन रूप कर्तव्य में बाधक बन जाता है वहां पाप है। भक्तियोगी की भक्ति परा मनोवृत्ति तक जाती है फिर भी उसकी परामनोवृत्ति दूषित नहीं होती क्योंकि उसकी भक्ति ज्ञान-भक्ति है, स्वार्थभक्ति या अन्धभक्ति नहीं। ज्ञान-भक्ति स्वपर कल्याण की बाधक नहीं है बल्कि साधक है इससे वह दोष नहीं है जिससे परामनोवृत्ति दूषित हो जाय।

प्रश्न—बहुत से लोगों ने तो वीतरागता को ध्येय माना है प्रेम भक्ति आदि को राग माना है। हां, इन्हें शुभराग माना है फिर भी योगी जीवन के लिये तो यह शुभराग भी बाधक है।

उत्तर—प्रेम और भक्ति भी शुद्ध न्याय आदि में बाधक हो जाते हैं इसलिये वे भी अशुद्ध रूप में हेय है। पर शुद्ध प्रेम और शुद्ध भक्ति न्याय या कर्तव्य में बाधक नहीं होते इसलिये वे उपादेय हैं। वीतरागता सिर्फ कषायों का अभाव नहीं है, क्योंकि अगर वह अभावरूप ही हो तो वस्तु ही क्या रहे, इस प्रकार की अभावात्मक वीतरागता या अरागता तो मिट्टी पत्थर आदि में भी होती है। मनुष्य की वीतरागता इस प्रकार जडता रूप नहीं है वह चैतन्य रूप है, प्रेम रूप है, विश्व प्रेम रूप है इसलिये वह भाव रूप है। प्रेम वहां निंदनीय है जहाँ अपने साथ द्वेष की छाया लगाये रहे। कहा जाता है कि देवों के छाया नहीं होती, यह कल्पना इस रूप में सत्य कही जा सकती है कि योगी अर्थात् दिव्यात्माओं का प्रेम छाया-हीन होता है अर्थात् उनके प्रेम में काली बाजू नहीं होती। अगर योगी लोग प्रेम-हीन हों तो अकर्मण्य हो जायँ। म. महावीर

म बुद्ध यदि प्रेम-हीन होते तो जगत् को सुधारने का प्रयत्न ही क्यों करते ? वास्तव में ये महान प्रेमी या विश्वप्रेमी थे इसीलिये परम वीतराग थे। वीतरागता प्रेम के विरुद्ध नहीं है। वह मोह, लोभ, लालच, तृष्णा आदि के विरुद्ध है। भक्ति में भी स्वार्थ-भक्ति और अन्ध भक्ति वीतरागता के विरुद्ध है ज्ञान-भक्ति नहीं। भक्ति-योगी तो ज्ञान भक्त होता है।

प्रश्न—कहा आता है कि म महावीर के मुख्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम म महावीर के अत्यधिक भक्त थे इसलिये प्रारम्भ में इस भक्तिवश उनका उत्थान तो हुआ परन्तु आगे इस भक्तिने उनका विकास रोक दिया। जब तक वे भक्त बने रहे तब तक उनने केवलज्ञान न पाया अर्थात् योगी न हुए। इससे मालूम होता है कि भक्ति भी एक तरह का राग है जो वीतरागता में बाधक है।

उत्तर—गौतम कर्म-योगी थे फिर भी जीवन भर म महावीर के भक्त रहे। केवलज्ञान हो जाने पर भी वह भक्ति नष्ट न हो गई, सिर्फ म महावीर के विषय में जो उनका मोह या आसक्ति थी वह नष्ट हो गई। इस आसक्ति के कारण गौतम में आत्मनिर्भरता का अभाव था, म महावीर के वियोग में वे दुःखी और निर्बल हो जाते थे केवलज्ञान हो जाने पर यह बात न रही। म. महावीर ने जो जगत् का उपकार किया था, उनका उपकार किया था, उसे इन्द्रभूति न भूले, जीवन भर उनका गुणगान करते रहे उनके विषय में इन्द्रभूति का आचरण विनय-युक्त रहा इस प्रकार वे योगी होकर भी उनके भक्त बने रहे।

भक्ति में जब विवेक की काफी कमी होजाती है तब वह हानिकर होजाती है, स्वपर कल्याण में बाधक होजाती है। कृतज्ञता विनय विश्वास आदि उचित हैं और आवश्यक भी हैं। परन्तु कभी कभी भक्ति का ऐसा अतिरेक होजाता है कि वह स्वपर कल्याण में बाधक होजाती है। जिसकी भक्ति की जाती है उसके मार्ग में भी बाधक बनजाती है। किस अवसर पर भक्ति किस तरह प्रगट करना चाहिये इसका भी ध्यान नहीं रहता। योगी या अर्हत् होने के लिये यह अतिरेक बाधक है। भक्ति नहीं भक्ति की दृढ़ता भी नहीं, सिर्फ भक्ति का अतिरेक बाधक है, या अवसरज्ञता का अभाव बाधक है। अगर यह अतिरेक या अविवेक न हो तो भक्ति योगी अर्हत् आदि बनने में बाधक नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु आवश्यक है। अगर योगी में उपकारक गुरुजन आदि के विषय में भक्ति विनय आदि न हो तो योगी कृतघ्न होजाय, कृतघ्न मनुष्य एक तरह का चोर या डाकू के समान है वह योगी अर्हत् आदि क्या होगा ? इन्द्रभूति जब अर्हत् होगये तब भी वे म महावीर के भक्त रहे, सिर्फ अतिरेक दूर हुआ विवेक बढ़ा भक्ति शुद्ध होगई।

मतलब यह है कि भक्ति हो, गुणानुराग हो, कृतज्ञता हो या प्रेम का कोई दूसरा रूप हो जो दूसरों के अधिकार में बाधा नहीं डालता, और न उचित कर्तव्य का विरोधी बनाता है वह आत्मशुद्धि या योग का नाशक नहीं है। अपने सम्पर्क में आये हुए लोगों से उचित मात्रा में कुछ विशेष प्रेम योगी को भी होता है। गुणानुराग दीनवात्सल्य कृतज्ञता आदि गुण योगी के लिये भी आवश्यक हैं।

प्रश्न—योग के भेदों में हठयोग आदि का वर्णन क्यों नहीं किया ? इन्हें ध्यानयोग कहा-जाय या कर्मयोग ? ध्यानयोग कहा जाय तो भक्ति सन्यास या सारस्वत ?

उत्तर—इस योगदृष्टि से हठयोग आदि को कोई स्थान नहीं है। हठयोग तो एक तरह की कसरतें हैं जो अपनी शारीरिक अवस्थाओं पर विशेष प्रभाव डालती हैं। ऐसा योगी एक तरह का वैद्य है। जीवन शुद्धि संयम आदि से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं है पर योगदृष्टिमें जो योग है वह तो संयम का एक विशाल उत्कर्ष है जिसे पाकर मनुष्य अर्हत बुद्ध वीतराग या समभावी बनता है। हठयोग से ऐसा उत्कर्ष नहीं होसकता।

प्रश्न—ध्यानयोगी जैसे नाना अवलम्बन लेते हैं, जिनके तीनभेद किये गये हैं, भक्ति

संन्यास और सारस्वत। उसी प्रकार हठयोग आदि में भी मन एक तरफ लगाया जाता है इसलिये ध्यानयोग के भेदों में इसका भी एक स्थान होना चाहिये। जैसे सिर्फ भक्ति से कोई भक्ति योगी नहीं होता उसी प्रकार सिर्फ हठयोग से उसे योगी न मानाजाय पर संयम की सीमा पर पहुंचा हुआ कोइ योगी भक्ति आदि की तरह हठयोग आदि का अवलम्बन ले तो ध्यानयोग में एक भेद और क्यों न होजाय?

उत्तर—योगी चार तरह के अवलम्बन लेता है इसलिये योगी जीवन के चार भेद हैं। कोई अवलम्बन मन प्रधान है कोई बुद्धिप्रधान, किसीमें दोनो शिथिल हैं किसी में दोनों प्रबल।

१—भक्तियोग—मनप्रधान

२—विद्यायोग — बुद्धिप्रधान

३—संन्यासयोग-बुद्धिमन शिथिल होकर-समन्वित

४—कर्मयोग —बुद्धमन प्रबल होकर-समन्वित।

हठयोग में बुद्धिमन शिथिल होकर समन्वित होते हैं इसलिये हठयोग के कार्यक्रम को लेकर अगर कोई ध्यानयोगी बनेगा तो वह संन्यासयोगी समझा जायगा।

हां! यह भी होसकता है कि हठयोगी की एकाग्र चित्तवृत्ति किसी देव की भक्ति के कारण हो। उसकी परासनोवृत्ति भक्तिमय हो, भले ही बाहर से भक्ति की कोई क्रिया न दिखाई देती हो, ऐसी हालत में वह भक्तियोगी कहलायगा। अगर उसकी एकाग्रता तत्वविचार अन्वेषण आदि के लिये है तो वह विद्यायोगी अर्थात् सारस्वतयोगी है। इसप्रकार उसका अलग भेद बनाने की जरूरत नहीं है।

यों तो दुनिया में सैकड़ों तरह के निमित्त होसकते हैं जो योगी की दिनचर्या में रमजायें, पर वे सब मन और बुद्धि की वृत्ति की समानता से चार भागों में विभक्त होजाते हैं इसलिये चार तरह के योग बताये गये हैं।

प्रत्येक प्राणी को योगी बनना चाहिये। वृद्धावस्था या अन्य किसी विशेष कारण से मनुष्य ध्यानयोगी बने, पर साधारणतः कर्मयोगी बनना चाहिये। विश्व में जितने अधिक कर्मयोगी होंगे विश्व उतना ही अधिक विकसित और सुखमय होगा।

पाँचवाँ अध्याय (हुक्क होपंगो)

लक्षण दृष्टि [भिम्पो लंको]

जो योगी बनगया है वही पूर्ण सुखी है। पूर्ण सुखी बनने के लिये हरएक व्यक्ति के लिये योगी बनने का प्रयत्न करना चाहिये। जो चार तरह के योगी बताये गये हैं उनमें से किसी भी तरह का योगी हो उसमें ये पाच गुण अवश्य होना चाहिये। अथवा योगी के ये अवश्य होते हैं— १ विवेक (अमूढ़ता) २—धर्मसमभाव, ३—जाति समभाव, ४—व्यक्ति समभाव ५—अवस्था समभाव।

साधारणत मनुष्य इकदम योगी नहीं बनसकता। उसे साधना करना पडती है। पहिले वह अंश साधक होता है फिर अर्ध साधक होता है फिर वह साधक होता है।

अंश साधक (अंशसाधक) मे विवेक होता है और विवेक होजाने से कुछ अंश में समभाव भी आजाता है।

अर्ध साधक [शिक साधक] मे विवेक, धर्मसमभाव तथा जातिसमभाव होता है, और अमुक अंश मे व्यक्तिसमभाव भी होता है।

बहुसाधक (डुम साधक) वह है जो पाचों गुणों की साधना करता है और अमुक अंश मे अवस्थासमभावी भी होता है। फिर भी इसमे कुछ कमी रहती है उसके दूर होते ही वह योगी होजाता है।

प्रत्येक मनुष्य को कम से कम अंश साधक तो होना चाहिये इतना भी न हो तो एक तरह से उसकी मनुष्यता निष्फल समझना चाहिये।

प्रश्न—विवेक के बिना भी धर्म—समभाव और जाति समभाव हो सकता है। कोई कोई समाज ऐसे हैं जिन मे जाति-पाँति का विचार होता ही नहीं है, वे किसी भी जाति के हाथ का खाते है, कहीं भी शादी करते है. पर विवेकी बिलकुल नहीं होते। रिवाज के कारण या अच्छे बुरे की अक्ल न होने के कारण वे जाति-समभावी या धर्मसमभावी बन गये हैं। वंश—परम्परा से सत्यसमाजी बननेवाला विवेकहीन होकर भी धर्म जाति-समभावी होगा। ऐसे व्यक्तियों को अंश साधक कहा जाय या अर्ध-साधक?

उत्तर—विवेकहीन व्यक्ति न तो अंश साधक होता है न अर्धसाधक। वह साधक ही नहीं है। वंशपरम्परा से कोई प्रमाणित सत्यसमाजी नहीं बनसकता। प्रमाणित वह तभी होगा जब समझदार होने पर समझपूर्वक सत्यसमाज के तत्वों को स्वीकार करेगा। रूढ़ि-वश जो समभावी बनते हैं उनके समभाव का व्यावहारिक मूल्य तो है पर आध्यात्मिक मूल्य नहीं है, वे कोई भी समाजी हों साधक की पहिली श्रेणी में भी नहीं आ सकते। दूसरी बात यह है कि विवेकहीन अवस्था मे उनके भीतर जाति-समभाव या धर्म-समभाव आ भी नहीं सकता। अधिक से अधिक इतना ही होगा कि विषमभाव को प्रगट करनेवाले कुछ कार्य न हों। सब के साथ रोटी बेटी व्यवहार करने पर भी विषमभाव रह सकता है विषमभाव के चिन्ह घृणा और अभिमान हैं। रोटी-बेटी-व्यवहार का बन्धन न होने पर भी राष्ट्र, प्रान्त, रंग आदि के नामपर जातिभेद आ सकता है। धार्मिक सम्प्रदायों मे समभाव रहने पर भी सामाजिक सम्प्रदायों में रीति रिवाजों से विषमभाव आ सकता है। इसलिये जहां विवेक

नहीं है वह। वास्तविक समभाव नहीं आ सकता, हां ! समभाव के प्रदर्शन की अति होसकती है। धर्म-समभाव में धर्म के नाम पर चलते हुए बुरेसे बुरे क्रियाकांड आदि भी वह मानने लगेगा मनुष्य और पशु के बीच जो उचित भेद है वह भी नष्ट हो जायगा इस प्रकार के अतिवादी समभाव से कोई साधक योगी नहीं बन सकता। योगी होने के लिये निरतिवादी समभाव चाहिये जो कि विवेक के बिना नहीं हो सकता। योगी होने के लिये विवेक पहिली शर्त है।

विवेक (अंको)

अच्छे बुरे का कल्याण अकल्याण का ठीक ठीक निर्णय करना विवेक है। एक तरह से पहिले सत्यदृष्टि अध्याय में इसका विवेचन हो गया है। विवेकी में तीन बातें होना चाहिये नि:पक्षता, परीक्षकता, और समन्वय-शीलता।

भगवान सत्य के दर्शन करने के लिये इन तीन गुणों की आवश्यकता है। भगवान सत्य के दर्शन हो जाने का अर्थ है विवेकी हो जाना। इसलिये उक्त तीन गुण विवेकी होने के लिये जरूरी हैं।

उक्त तीन गुणों के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य अंश-साधक योगी हो जाता है और किसी भी तरह की मूढ़ता कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में बाधक नहीं रहती। फिर भी चार तरह की मूढ़ताओं का कुछ स्पष्ट विवेचन करना जरूरी है। क्योंकि योगी बनने के लिये इस प्रकार की मूढ़ताओं का त्याग आवश्यक है।

चार मूढ़ताएं निम्न लिखित हैं—१ गुरु-मूढ़ता २—शास्त्र मूढ़ता, ३—देव-मूढ़ता ४—लोक मूढ़ता।

गुरुमूढ़ता (ताहुनो)

जो पूर्ण योगी बनगया है उसका काम तो गुरु के बिना चल ही सकता है तथा और भी बहुत लोगों का काम गुरु के बिना चल सकता है। विवेक ही उनका गुरु है, या युगानुरूप पैग-म्बर के वचन उनके लिये गुरु का काम देसकते हैं। फिर भी सद्गुरु मिलजाय तो अच्छा। योगी के भी गुरु होसकता है। शिष्टाचार और कृतज्ञता के कारण वह पूर्वअवस्था के गुरु को गुरु मानता है, हां, नये गुरु की उसे आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि योगियों में भी तरतमता होती है, विवेक, धर्म, जाति, व्यक्ति, अवस्थासम-भाव सब योगियों में पर्याप्त मात्रा में होने पर भी उनसे अमुक अंश से न्यूनाधिकता होती है. फिर भी कल्याण पथमें वे इतने बढ़गये होते हैं कि उन्हें नया गुरु नहीं बनाना पड़ता। कदाचित जनसेवा की दृष्टि से किये गये संगठन के लिये नेता की आवश्यकता होसकती है। जनसेवा की दृष्टि से पूर्व गुरुको वह गुरु भी मानता है। इस विषयको स्पष्ट रूप से समझने के लिये निम्न-लिखित सूचनाएँ ध्यान में रखना चाहिये।

१—योगी को गुरु की आवश्यकता नहीं है।

२—पूर्व गुरु को वह कृतज्ञता की दृष्टि से गुरु मानता है, अनुभव और विशेष प्रतिभा की दृष्टिसे भी गुरु मानता है, जनसेवा में विशेष उपयोगी या प्रभाव शाली होने से भी गुरु मानता है।

३—योगी अन्य लोगों को जनसेवा में उपयोगी होने से नेता मानसकता है।

४—योगी न होने पर भी विवेकी मनुष्य गुरु के बिना काम चलासकता है।

५—साधारणतः मनुष्य को गुरु मिलजाय तो सौभाग्यकी बात है।

६—अगर योग्य गुरु न मिले तो गुरुशून्य जीवन ही अच्छा। कुगुरु या अगुरु को गुरु बनाना ठीक नहीं। गुरु रहित होना अपमान या बद-नामी की बात नहीं है।

इन बातों का विचार कर गुरु मानना चाहिये।

गुरु (तार) कल्याण के मार्ग में जो अपने से आगे है और अपने को आगे बढ़ा

का प्रयत्न करता है वह गुरु है। साधारणतः साधुता के बिना कोई सच्चा गुरु नहीं होसकता। क्योंकि सच्चा गुरु होने से एक तरह की नि:स्वार्थता जरूरी है, और वही साधुता है। नि:स्वार्थ परोपकार या स्वार्थ से अधिक परोपकार साधुता का लक्षण है।

गुरु की तीन श्रेणियाँ हैं। स्वगुरु सघगुरु और विश्वगुरु। दुनिया के लिये वह कैसा भी हो परन्तु जो हमारा उद्धारक है वह स्वगुरु (फीतार) है। परोपकार आदि तो उसमें भी होना चाहिये इतना ही है कि उसका उपकार एक व्यक्ति तक ही सीमित् रहता है।

जिसका उपकार किसी एक वर्ग दल या समाज पर है वह सघ-गुरु (जिपतार) है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायों की सेवा करनेवाले गुरु भी संघ गुरु हैं। इसी प्रकार राष्ट्र, प्रान्त आदि की सेवा करने वाले भी संघ-गुरु हैं।

प्रश्न -मनुष्य कितना भी शक्तिशाली हो पर वह सारे जगत के प्रत्येक व्यक्ति की सेवा नहीं कर सकता इसलिये बड़ा से बड़ा गुरु भी संघ-गुरु कहलायगा फिर विश्वगुरु भेद किसलिये किया?

उत्तर—विश्व-गुरु होने के लिये प्रत्येक व्यक्ति की सेवा करने की जरूरत नहीं है किन्तु उस उदारता की जरूरत है जिस में प्रत्येक व्यक्ति समा सके जिसकी सेवा-नीति मनुष्यमात्र या प्राणिमात्र के कल्याण की हो। फैलने के विशाल साधन न होने से वह थोड़े क्षेत्र में भले ही काम करे पर जिसका मन सकुचित न हो वह विश्व-गुरु है।

प्रश्न—राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महात्माओं ने किसी एक जाति या सम्प्रदाय के लिये काम कियाथा तो इन्हे सघ-गुरु माना जाय या विश्वगुरु?

उत्तर—विश्वगुरु (जीवसतार) क्योंकि इनकी नीति मनुष्यमात्र की सेवा करने की थी। इनने जो सम्प्रदाय भी बनाये वे मनुष्यमात्र की सेवा करने के लिये स्वयंसेवकों के संगठन के समान थे वे जगत्कल्याण की प्रत्येक बात ग्रहण करने को तैयार थे इन्हें कोई पुरानी परम्परा का या अमुक मानव-समूह का कोई पक्षपात न था। विश्वहित के नियमों को जीवन में उतारकर बताना इनका ध्येय था इसलिये ये विश्वगुरु थे।

पर इनके बाद जो साम्प्रदायिक लोग इनके अनुयायी कहलाये उनके लिये विश्वहित गौण था अमुक परम्परा या अमुक नाम मुख्य था जिनको अपना मान लिया था उनके लिये वे दूसरों की पर्वाह नहीं करते थे इसलिये वे नेता अधिक से अधिक संघगुरु कहे जा सकते है, विश्वगुरु नहीं।

प्रश्न—क्या कोई हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध या ईसाई आदि रहकर विश्वगुरु नहीं हो सकता?

उत्तर—हो सकता है पर वह हिन्दू या मुसलमान आदि अपने वर्ग के लिये दूसरों का नुकसान न करेगा। नाम की छाप रहेगी पर काम व्यापक होगा। इसलिये वह विश्वमात्र की सेवा करने की नीति के कारण विश्वगुरु कहलायगा।

प्रश्न—इस प्रकार उदारता रखने से ही अगर कोई विश्वगुरु कहलाने लगे तब जिसको पड़ोसी भी नहीं जानता वह भी अपने को विश्व-गुरु कहेगा। विश्वगुरुत्व बड़ी सस्ती चीज हो जायगी।

उत्तर—विश्वगुरु को पहिले गुरु होना ही चाहिये, वह सिर्फ उदार नीति रखता है पर उस नीति पर दूसरों को चलाने की शक्ति नहीं रखता तो वह गुरु ही नहीं है विश्वगुरु क्या होगा? इस प्रकार उदार और गुरु होने के साथ उसका प्रभाव इतना व्यापक होना चाहिये जो उसको देखते हुए विश्वव्यापी कहा जा सके। जब जाने आने के साधन थोड़े थे, छापाखाना, समाचार पत्र, तार आदि न होने से मनुष्य अपना

प्रभाव बहुत नहीं फैला पाता था तब अरब या मगध में ही प्रभाव फैला सकना विश्वगुरुत्व होने के लिये पर्याप्त प्रभाव था। आज उतने से काम नहीं चलसकता। आज विश्वगुरु होने के लिये कई राष्ट्रों की जनता पर थोड़ा बहुत प्रभाव चाहिये। कल ग्रह नक्षत्र आदि में मनुष्य की गति हो जाय तो केवल पृथ्वीपर प्रभाव होने से ही कोई विश्वगुरु न कहलायगा। उसे उससे भी अधिक प्रभावफैलाना पड़ेगा इसलिये विश्वगुरु होने के लिये उदारनीति, गुरुत्व और व्यापक प्रभाव चाहिये।

प्रश्न—ऐसा भी देखा गया है कि गुरुत्व और उदारता होने पर भी जीवन में किसी का प्रभाव नहीं फैला और मरने के बाद वह अपेक्षाकृत विश्वव्यापी हो गया। जैसे म. ईसा को लीजिये, उनके जीवन में उनके अनुयायी इनेगिने थे पर आज करोड़ों की संख्या में हैं तो उनका गुरुत्व उनके जीवन-काल की दृष्टि से लगाया जाय या आज की दृष्टि से।

उत्तर—ऐसे व्यक्ति मरने के बाद गुरु नहीं रहते, वे देव व्यक्तिदेव, बन जाते हैं। यह स्थान विश्वगुरु से भी ऊँचा है। पर मानलो कोई देव नहीं बन सका, वह मनुष्यमात्र का सेवक या गुरु था पर अपने जीवन में नहीं फैला तो भी वह विश्वगुरु कहा जायगा। क्योंकि विश्वगुरु होने का बीज उसके जीवन में था जो कि समय पाकर फल गया। जीवन में फले या जीवन के बाद फले वह विश्वगुरु कहलाया। जो लोग बीज से ही फल का अनुमान कर सकते हैं उस की दृष्टि में वह पहिले ही विश्वगुरु था-बाकी जगत की दृष्टि में फलने पर हो गया।

प्रश्न—इस प्रकार स्वर्गीय लोगों को विश्वगुरु ठहराने से उन्हें क्या लाभ? और अपने को क्या लाभ?

उत्तर-उनको तो कोई लाभ नहीं पर पीछे के लोगोंको बहुत लाभ है। उनके पद-चिन्हों से उन्हें कल्याणमार्ग पर चलने में सुभीता होता है

प्रश्न—विश्वगुरु तो हर हालत में आवश्यक मालूम होता है पर संघ-गुरु तो कुगुरु है क्योंकि वह अपने संघ की जितनी भलाई करता है उससे अधिक दूसरे संघों की बुराई करता है।

उत्तर—जैसे स्वगुरु का यह अर्थ नहीं है कि पर की बुराई करे उसी प्रकार संघगुरु का भी यह अर्थ नहीं है कि वह सब की बुराई करे। भलाई का सेवा क्षेत्र परिमित है और बाकी क्षेत्र पर काफी उपेक्षा है यही उसका संघ-गुरुत्व है, पर अगर विश्वका अहित करे तो वह एक प्रकार का कुगुरु हो जायगा। एक आदमी धर्ममद के वश में होकर जगत की निन्दा करता है या सब को मिथ्यात्वी या नास्तिक बताता है तो वह कुगुरु है।

प्रश्न—पर निन्दा से अगर गुरु कुगुरु बन जाय तो सत्य-असत्य की परीक्षा करना कठिन हो जायगा क्योंकि असत्य की निन्दा करने से आप उसका गुरुत्व छीनते हैं।

उत्तर—असत्य की निन्दा करना बुरा नहीं है, निष्पक्ष आलोचना आवश्यक है और कल्याणकर की कल्याणकर और अकल्याणकर को अकल्याणकर भी कहना ही पड़ता है पर यह कार्य निष्पक्ष आलोचक बन कर करना चाहिये और धर्ममद आदि मद के कारण पर-निन्दा कभी न करना चाहिये।

प्रश्न—निष्पक्षता से क्या मतलब है? हरएक मनुष्य कुछ न कुछ अपने विचार रखता ही है-आलोचना करते समय वह उन्हें कहाँ फेंक देगा?

उत्तर—अपने विचार होना ही चाहिये पर उनके अनुसार सिर्फ मन को ही बनाकर रक्खो जिससे उनके अनुसार काम कर सको। दृढ़ निश्चय होना भी अच्छा है पर मनके समान बुद्धि को भी उनका गुलाम बनाकर मत रक्खो आलोचना करते समय बुद्धिको बिलकुल स्वतंत्र रक्खो-अनुभव और तर्कका निर्णय माननेको तैयार रहो।

प्रश्न—घटना-विशेष पर कभी कभी ऐसा अनुभव होता है कि वह पुराने अनुभवों को नष्ट सा कर देता है। जो जीवनभर हितैषी होने से प्रिय रहा है वह अप्रिय सा मालूम होने लगता है, चिकित्सा के कष्ट से घबरा कर रोगी वैद्य को भी बुरा समझने लगता है इसी प्रकार कोई कोई विद्वान अपने बुद्धि वैभव से सत्य को भी असत्य सिद्ध कर देता है, अगर ऐसे समय में बुद्धि को स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो वैद्यको शत्रु मानना पड़ेगा और सत्य को असत्य मानना पड़ेगा।

उत्तर—यह बुद्धि का नहीं मनका दोष है। जिस समय मन क्षुब्ध हो उस समय मनुष्य सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर सकता, कम से कम जिस विषय में क्षोभ है उस विषय में नहीं कर सकता या कदाचित् ही कर सकता है। इसलिये रोगी के क्षुब्ध मन के निर्णय का कुछ मूल्य नहीं, रही बुद्धि के विमोहित होने की बात सो विचारणीय विषय जैसा गम्भीर हो उसके लिये उतना समय देना चाहिये और निष्पक्ष विचारक के नाम पर इतना कहना चाहिये कि अभी तो इस बात का उत्तर नहीं सूझा है पर कुछ समय बाद भी अगर न समझूंगा, दूसरे से चर्चा करने पर भी अगर न मिलेगा तो अवश्य विचार बदल दूंगा। काफी समय लगाने पर भी अगर अपने विचार परीक्षा में न ठहरें तो मोहवश या मद-वश उनसे चिपके न रहना चाहिये। अगर कोई गुरु ऐसा पक्षपाती है तो वह कुगुरु है। जो स्वयं सत्य को नहीं पा सकता वह दूसरों को कैसे सत्य प्राप्त करायगा और सत्पथ पर चलायगा?

प्रश्न—कुगुरु किसे कहना चाहिये?

उत्तर—जो गुरु नहीं है किन्तु शब्द-भाषा या मौन भाषा द्वारा गुरु होने का दावा करता है वह कुगुरु है।

प्रश्न—शब्द भाषा और मौन-भाषा का क्या मतलब?

उत्तर—शब्दों से बोलकर या किसी प्रकार लिख कर विचार प्रगट करना शब्द-भाषा (ईगो इका) है। तार आदि में जो स्वर-व्यञ्जन संकेत होते हैं वह भी शब्द भाषा है पर वेष से या किसी तरह के व्यवहार से अभिप्राय प्रगट करना मौन-भाषा [चुम्पो इको] है।

किसी भी तरह से जो गुरु होने का दावा करे किन्तु गुरु न हो वह कुगुरु है।

प्रश्न—जो गुरु नहीं है उसे अगुरु कहना चाहिये कुगुरु क्यों?

उत्तर—अगुरु तो प्राय सभी हैं। पर जो गुरु न होने पर भी गुरु होने का दावा करे वह वंचक है इसलिये कुगुरु है।

प्रश्न—हो सकता है कि कोई गुरु न हो पर अपने से अच्छा हो तो उसे गुरु मानने में क्या बुराई है?

उत्तर—अपने से अच्छा हो तो इतना ही मानना चाहिये कि वह अपने से अच्छा है। अगर वह अच्छापन हमें भी अच्छा बनाने के काम आता हो तो स्वगुरु मानना भी ठीक है पर अमुक आदमी से अच्छा होने के कारण कोई गुरुत्व का दावा करे तब वह कुगुरु ही है। वह अपने से जितना अच्छा है उतना उसका आदर आदि होना चाहिये पर गुरु मान कर नहीं। खोटा रुपया पैसे की अपेक्षा अधिक कीमती होने पर भी बाजार में नहीं चलता क्योंकि वह रुपया बन कर चलना चाहता है। इसी प्रकार अगर हमसे सिर्फ कुछ अच्छा होने पर ही जब गुरु बन कर चलना चाहता है तब खोटे रुपये की तरह निन्दनीय है

परन्तु यह भी ख्याल चाहिये कि अच्छेपन की निशानी १ वेष (तुंजो) २ पद [पम्मो] ३ व्यर्थ क्रिया [नकातो] और ४ व्यर्थ विद्या (नकबुयो) नहीं है। बहुत से लोग इनको गुरुत्व का चिन्ह समझते हैं पर यह गुरु मूढ़ता का परिणाम है।

नग्नता, पीले वस्त्र, सफेद वस्त्र, भगवाँ वस्त्र, जटा, मुँहपत्ति आदि अनेक तरह के जो साधुवेष हैं उन्हें गुरुता का या साधुता का चिन्ह न समझना चाहिये। वेष तो सिर्फ अमुक संस्था के प्रमाणित सदस्य होने की निशानी है पर किसी

संस्था के सदस्य हो जाने से गुरुत्व या साधुता नहीं आती।

प्रश्न—दुनिया के बहुत से काम वेष से ही चलते हैं। खास कर अपरिचित जगह में कौन मनुष्य कितना आदरणीय है इसका निर्णय उसके वेष से ही करना पड़ता है।

उत्तर—वेष के ऊपर पूर्ण उपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु उसकी उपयोगिता मामूली शिष्टाचार तक ही रहना चाहिये। विनय के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। शिष्टाचार में भी साधुता या अन्य गुणों की अवहेलना न होना चाहिये। उदाहरणार्थ एक समाजसेवी विद्वान या श्रीमान है, इतने में एक साधुवेषी जैनमुनि, बौद्ध श्रमण, हिन्दू संन्यासी, पादरी या फकीर आया तो जबतक उसके विशेष गुणों का परिचय नहीं मिला है तबतक वह एक सभ्य गृहस्थ के समान आदर पायगा। बाद में परिचय होने पर उस समाजसेवी की अपेक्षा साधुवेषी की सेवा आदि जैसी कम-ज्यादा होगी उसके अनुसार आदर पायगा।

प्रश्न—वेष की उपयोगिता कहाँ तक है? नियत वेष रखना चाहिये या नहीं? सब को कैसा वेष रखना चाहिये?

उत्तर—वेष भी एक तरह की भाषा है इस लिये अपने व्यक्तित्व का परिचय इस मौन भाषा से दिया जाता है। पर भाषा तो यही बता सकती है कि यह आदमी यह बात प्रगट करना चाहता है। यह बात इसमें है ही, ऐसा नियम तो है नहीं, इसलिये जैसे कहने मात्र से हम किसी को साधु या महापुरुष नहीं मान लेते-उसके अन्य कार्यों का विचार करते हैं उसी प्रकार वेष-मात्र से किसी को साधु न मान लेना चाहिये। किसी संस्था की सदस्यता बताने के लिये नियत-वेष भी उचित है फिर भी वेष ऐसा रखना चाहिये जो बीभत्स या भयंकर न हो। नग्न वेष लेकर नगर में घूमना, खोपड़ियाँ पहिनना आदि अनुचित है। साथ ही वेष अपनी सुविधा, जलवायु तथा आर्थिक स्थिति के अनुसार होना चाहिये। वेष के द्वारा जनता में भ्रम पैदा न करना चाहिये और न अपने से भिन्न वेष देखकर घृणा। वेष को लेकर साधुता में काफी भ्रम पैदा किया जाता है क्योंकि साधुता सब से अधिक पूज्य और वन्दनीय है और गुरुता तो उससे भी अधिक। गुरुता का तो हमारे जीवन की उन्नति-अवनति से बहुतसा सम्बन्ध है, इसलिये इस विषय में बहुत सतर्क रहने की जरूरत है। सिर्फ वेष देख कर किसी को गुरु या साधु न मानना चाहिये।

प्रश्न—जो साधु-संस्था जगत का कल्याण करती हो उसमें अगर धोखे से कोई निर्बल या चालाक आदमी घुस जाय और अपने दोष से उस साधु-संस्था की बदनामी करे तो साधु-संस्था की बदनामी रोकने के लिये उस साधुवेषी के दोष छिपाये रखना और साधु-संस्था के सन्मान करने के लिये उस साधु का सन्मान करना क्या अनुचित है?

उत्तर—अनुचित है। साधु-संस्था को बदनामी से बचाने के लिये दोषी के दोष दूर करने की या उसे अलग कर देने की जरूरत है न कि छिपाने की। छिपाने की नीति से साधु-संस्था बदमाशों का अड्डा बन जाती है और सबसे पवित्र संस्था सबसे अधिक अपवित्र होकर जनता का नाश करती है और साधु-संस्था की बदनामी सदा के लिये हो जाती है। दुराचारी और बदमाश लोगों को उससे अलग कर दिया जाय तो जनतापर इस का अच्छा प्रभाव पड़ता है। जनता समझने लगती है कि इस साधु-संस्था में खराब आदमीकी गुजर नहीं है, खराब आदमी यहां से निकाल दिया जाता है। वेष की इज्जत रखना हो तो वेषका दुरुपयोग न करनेदेना चाहिये। फिर भी यह तो हर हालत में आवश्यक है कि वेष की इज्जत साधुता आदि से अधिक न हो।

वेष के समान पद भी गुरुता की निशानी नहीं है। पद का सम्बन्ध किसी संस्था की व्यवस्था से है-गुरुता से नहीं। आचार्य, पोप

खलीफा आदि पद समय समय पर लोगों ने धर्म संस्था की व्यवस्था के लिये बनाये थे। हरएक चीज का दुरुपयोग होता है—पद का तो कुछ विशेष मात्रा में फिर भी जो उस संस्था के अंग हैं उन्हें पद का सम्मान रखना चाहिये। उसका दुरुपयोग हो रहा हो या अनावश्यक हो तो भले ही वह नष्ट कर दिया जाय पर व्यवस्था के लिये पद का सम्मान करना उचित है। इतना होनेपर भी पद गुरुता की निशानी नहीं है और पद का दुरुपयोग होरहा हो तो उसको निभाते जाना भी उचित नहीं है। साधक किसी पद के कारण किसी को गुरु नहीं बनाता।

क्रियाकाण्ड भी गुरुता की निशानी नहीं है। एक आदमी अनेक तरह के आसन लगाता है, अनेक बार स्नान करता है या बिल्कुल स्नान नहीं करता, धूप में तपता है या अग्नि तपता है, सिर के बाल हाथ से उखाड़ लेता है, घंटों पूजा करता है, जाप जपता है, एकान्त में बैठता है, मौन रखता या दिनभर नाम आदि जपता रहता है, उपवास करता है या एक ही बार खाता है, अनेक घरों से माँगकर खाता है या एक ही घर से खाता है इत्यादि बहुतसा क्रियाकाण्ड भी गुरुता की निशानी नहीं है। उनमें बहुतसा निरर्थक है. बहुतसा सिर्फ व्यायाम के समान उपयोगी है वह भी किसी खास समय के लिये—पर गुरुता की निशानी कोई नहीं है।

क्रियाकाण्ड वही उपयोगी है जिससे जगत की सेवा होती हो, जगत का कुछ लाभ होता हो। किसी तरह से असाधारणता बतलाकर लोगों को चमकाना, उनका ध्यान अपनी तरफ खींचना और इस प्रकार अपनी पूजा कराना एक प्रकार का दम्भ है। इसका गुरुता से कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिये गुरुता के लिये ये व्यर्थ क्रियाकाण्ड हैं।

कष्ट-सहन भी पर-सेवा में उपयोगी होना चाहिये निरर्थक कष्ट सहन का कोई मूल्य नहीं। नारकी नरक में कितना कष्ट सहते हैं उतना तो इतना नहीं सह सकते ऐसा समझकर निरर्थक कष्ट-सहन के विषय में नहीं रहना चाहिये।

कोई कोई सार्थक क्रियाएँ भी होती हैं, जैसे सेवा, विनय आदि। ये साधुता के चिन्ह हैं अपने से अधिक मात्रा में हों तो गुरुता के चिन्ह बन सकते हैं।

विद्वत्ता भी गुरुता का चिन्ह नहीं है। अनेक भाषाओं का ज्ञान, वक्तृत्व, लेखन, कवित्व, धर्म, दर्शन, इतिहास, पदार्थ, विज्ञान, गणित, ज्योतिष आदि का पाण्डित्य यश और सन्मान की चीज है पर इसका गुरुत्व से सम्बन्ध नहीं है। इससे मनुष्य शिक्षक हो सकेगा गुरु नहीं। गुरुता का सम्बन्ध ज्ञान के साथ सदाचार और सेवा से है। ज्ञान आवश्यक है, पर सिर्फ ज्ञान से कोई गुरु नहीं कहलाता। हां, हो सकता है कि उनका ज्ञान किताबें पढ़कर नहीं, किन्तु प्रकृति को पढ़कर आया हो, नाममात्र की किताबें पढ़कर चिन्तन मनन से आया हो।

अपना असली गुरु तो मनुष्य स्वयं है पर हरएक को कल्याण मार्ग का पूरा परिचय नहीं होता कभी कभी जटिल समस्याएँ आकर किंकर्तव्यविमूढ़ बना देती हैं, कभी कभी समझते हुए भी खुद पर अंकुश रखना कठिन होता है इसके लिये अधिकांश मनुष्यों को गुरु की आवश्यकता होती है पर गुरु बनाना ही चाहिये-ऐसा कोई नियम नहीं है। जिनमें सदसद्विवेक काफी है और मनकी अशुभ वृत्तियों पर भी अंकुश है उन्हें गुरु की कोई जरूरत नहीं। गुरु मिल जाय तो अच्छा, न मिले तो गुरुहीन जीवन अच्छा, पर कुगुरु-सेवा अच्छी नहीं। भूख से आदमी इतनी जल्दी नहीं मरता जितनी जल्दी विष खाकर मरता है। गुरुहीन से कुगुरु-सेवक की हानि कई गुणी है।

प्रश्न—गुरु का तो नाश ही करना चाहिये। गुरु के होने से गुरुडम फैलता है धर्म के नाम पर अत्याचार शुरू होते हैं, समाज का बोझ बढ़ता है। आखिर गुरु की जरूरत ही क्या है?

उत्तर—वैयक्तिक आवश्यकता नहीं है। अमुक आदमी को गुरु मानना ही चाहिये या गुरु का पद होना ही चाहिये यह नियम भी नहीं

है। गुरुडम फैला है वेष और पद को अधिक महत्व देने से। सो देना चाहिये जब गुरु के योग्य गुण दिखे तभी गुरु मानना चाहिये। हमारे सम्प्रदाय का आचार्य है, मुनि है, अमुक वेष मे रहता है इसलिये हमारा गुरु है जब यह नियम टूट जायगा तब गुरुडम न फैल पायगा। गुरुडम शब्द ऐसे गुरुवाद के लिये प्रचलित है जिस मे गुरु पद-वेष आदि के कारण मक्तोपर अनुचित अधिकार रखता है या उस अधिकार का दुरुपयोग करता है, साधुताहीन जीवन बिताता है. छलकर लोगों की सम्पत्ति लूटता है और उससे मौज करता है, उन्हें अंधश्रद्धालु बनाता है। ऐसे गुरुडम का नाश अवश्य करना चाहिये। पर जहाँ ज्ञान, त्याग, सेवा, विवेक है वहाँ गुरुत्व माना जाय तो कोई हानि नहीं है बल्कि लाभ है।

प्रश्न—लाभ क्या है ?

उत्तर—अज्ञान के कारण कोई अच्छी बात हमारी समझमे नहीं आती तो वह समझाता है, कुमार्ग में जाने से रोकता है, प्रमाद दूर करता है, साहस देता है, धैर्य की रक्षा करता है विपत्ति में सहायक होता है और भी जो उचित सेवाएँ हो सकती हैं करता है।

प्रश्न—गुरु और शिष्य मे अंतिम निर्णय कौन करे ? अगर शिष्य की चलती है तो गुरु गुलाम बन जाता है फिर वह उद्धार क्या करेगा और गुरु की चलती है तो गुरुडम फैलता है।

उत्तर—यह तो राजी राजी का सौदा है। दोनों अपनी अपनी जगह स्वतन्त्र हैं, शिष्य को गुरु की परीक्षा करने का पूर्ण अधिकार है इसलिये गुरुडम फैलने की बहुत कम सम्भावना है और सच्चा गुरु शिष्य की पर्वाह नहीं करता वह उसके हित की पर्वाह करता है। इसलिये गुरु के गुलाम होने की सम्भावना नहीं है।

प्रश्न—गुरु की परीक्षा कैसे होगी ? जो दोष अपने में हैं उन्हें दूसरे में निकालना कहाँ तक उचित है ?

उत्तर—ईर्षा द्वेष आदि के वश होकर किसी के दोष न निकालना चाहिये पर किसी पर कोई जिम्मेदारी डालना है तो उसमे उस जिम्मेदारी को सँभालने की योग्यता है या नहीं इसकी जाँच तो करना ही चाहिये। हो सकता है कि जो दोष उसमे है वह दोष अपने मे उससे अधिक हो और अपने दोषों की संख्या भी अधिक हो फिर भी हम उसके दोष निकालेंगे क्योंकि उससे हमे अमुक योग्यताका काम लेना है, अध्यापक अगर अध्यापक क योग्य नहीं है तो इतने से ही वह सन्तोष नहीं हो सकता कि विद्यार्थी तो और कम जानता है। गुरु को गुरु के योग्य बनना चाहिये। जो जिस पद पर है उसे उस पद के योग्य बनना जरूरी है। इस प्रकार गुरु की पूर्ण परीक्षा कर गुरु-मूढता का हर प्रकार त्याग करना चाहिये। साधक गुरु-मूढतासे सदा दूर रहता है।

शास्त्र मूढता (इनू तो) साधक मे शास्त्र-मूढता भी नहीं होती। परम गुरुओं या गुरुओं के वचन शास्त्र हैं। जब हम गुरुओं की परीक्षा करते हैं तो शास्त्र की भी परीक्षा करना आवश्यक है।

प्रश्न—गुरुओं की परीक्षा करने से काम चल जाता है फिर शास्त्रों की परीक्षा करने की क्या जरूरत है ? खासकर परम गुरुओं के वचनों की परीक्षा करना तो और भी अनावश्यक है।

उत्तर—इसके पांच कारण हैं। १ गुरुपरोक्षता (तार नोइन्दो) २ परिस्थिति-परिवर्तन (लजिज्जो मुरो) ३ शब्द-परिवर्तन, (इकोमुरो) ४ अर्थ-परिवर्तन, (आगोमुरो) ५ अतिक्राम। (नो ततीमो)

शास्त्र के उपयोग के समय गुरु या तो स्वर्गीय हो जाते हैं या बहुत दूर हो जाते हैं। जब गुरु नहीं मिलते तब हम उनके वचनों से काम चलाते हैं। ऐसी हालत में गुरु की परीक्षा [illegible] का ठीक ठीक अवसर ही नहीं मिल पाता [illegible] सत्यासत्य की जाँच करने के लिये उनके वचन की परीक्षा करना आवश्यक है। परमगुरु [illegible]

मतलब है ऐसा महान विश्वगुरु जो देव कोटि में जा पहुँचा है अर्थात् व्यक्तिदेव। व्यक्तिदेव की भी परीक्षा करना जरूरी है क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि अयोग्य व्यक्ति भी कारणवश व्यक्तिदेव मान लिया गया हो। इस प्रकार किसी के भी वचन हो उनकी यथासम्भव जाँच तो होना ही चाहिये। परोक्ष होने के कारण गुरु की जाँच नहीं हो सकती तो उसके वचन की जाँच आवश्यक है।

परिस्थिति के बदलने से भी शास्त्र की बहुत सी बातें अग्राह्य होजाती हैं। जो बात एक समय के लिये जनकल्याणकर होती है वही दूसरे समय के लिये हानिकर या अनावश्यक हो जाती है। इसमें शास्त्र का दोष नहीं है यह प्रकृति का ही परिणाम है। इस परिस्थिति के विचार से भी शास्त्र की परीक्षा आवश्यक है।

याद रखने में या कागज आदि पर नकल करने या छापने में शास्त्र के शब्द बदल जाते हैं इस प्रकार शास्त्र ज्यों के त्यों नहीं रह पाते इसलिये शास्त्र की परीक्षा आवश्यक है।

कभी कभी शब्द तो नहीं बदलते पर अर्थ बदल जाता है। कुछ तो बहुत समय बीत जाने से शब्दों का वास्तविक अर्थ मालूम नहीं रहता जैसा कि वेद के विषय में है। और कुछ लक्षणा व्यञ्जना आदि से अर्थ बदल दिया जाता है। यही कारण है कि एक ही पाठ के नाना अर्थ हो जाते हैं और उन अर्थों के सम्प्रदाय भी चल जाते हैं इसलिये भी शास्त्र की परीक्षा आवश्यक है।

शास्त्रकार-फिर वे गुरु या परम गुरु कोई भी हों—ऐसे सर्वज्ञ नहीं हो सकते जिनके ज्ञान को ज्ञान की सीमा कहा जा सके। ऐसा सर्वज्ञ कोई भी नहीं हो सकता। वह अपने जमाने के अनुरूप महान ज्ञानी हो सकता है। पर उसके बाद जगत में ज्ञान की वृद्धि स्वाभाविक है। मनुष्य का विकास भले हो न हो पर ज्ञान का विकास सहज ही होता है और होरहा है। इसलिये शास्त्रों में ऐसी बहुत सी बातें आ जाती हैं जो आज तथ्यशून्य कही जा सकती हैं। इसमें शास्त्रकारों का अपराध नहीं होता क्योंकि उनने तो अपने जमाने में जितना तथ्य मिल सकता था उतना तथ्य लिख दिया। अब आज अगर ज्ञान का विकास हो जाने से पुरानी मान्यताएं अतथ्य होगई हैं तो उन्हें बदल देना चाहिये। शास्त्रकार जितना कर सकते थे किया, अब हमें कुछ आगे बढ़ना चाहिये और शास्त्रकारों ने जितनी सामग्री दी उसके लिये उनका कृतज्ञ होना चाहिये और कृतज्ञतापूर्वक उनके वचनों की परीक्षा करना चाहिये।

जहाँ परीक्षकता है वहां शास्त्र-मूढ़ता नहीं रहती परीक्षकता के विषय में और शास्त्र के उपयोग के विषय में पहिले अध्याय में जो कुछ लिखा गया है उसपर ध्यान देने से और उसे जीवन में उतारने से शास्त्र-मूढ़ता दूर होजाती है फिर भी स्पष्टता के लिये कुछ कहना जरूरी है।

शास्त्र मूढ़ता के कारण नाना तरह के मोह हैं। १ स्वत्वमोह, २ प्राचीनता-मोह, ३ भाषा-मोह, ४ वेपमोह आदि।

अपने सम्प्रदाय के, जाति के, प्रान्त के और देश के आदमी की बनाई यह पुस्तक है इसलिये सत्य है यह स्वत्व-मोह है। स्वर्गीय विद्वान की बनाई यह पुस्तक है इसलिये सत्य है यह प्राचीनता-मोह है। यह पुस्तक संस्कृत प्राकृत अरबी फारसी लैटिन भाषा की है इसलिये सत्य है यह भाषा-मोह है। यह पुस्तक जिसने बनाई है वह संन्यासी था मुनि था फकीर था इसलिये सत्य है यह वेप मोह है। ये सब मोह शास्त्र-मूढ़ता के चिन्ह हैं। बहुत से लोग किसी पुस्तक को इसीलिये शास्त्र कह देते हैं कि वह पुस्तक संस्कृत आदि किसी प्राचीन भाषा में बनी है, अपने सम्प्रदाय की है और बनानेवाला मर गया है यह मान्यता शास्त्र-मूढ़ता का परिणाम है। इस प्रकार शास्त्रमूढ़ता के और भी रूप हैं उन सब का त्याग करना चाहिये और शास्त्र की यथा-साध्य परीक्षा करके उसका उपयोग करना चाहिये।

प्रश्न—परीक्षा करके ही अगर शास्त्र माने जाँयँ तो शास्त्र की उपयोगिता ही नष्ट हो जायगी शास्त्र की परीक्षा का अर्थ है उसमे लिखे हुए विषयों की परीक्षा। जिज्ञासु उनकी परीक्षा कैसे करे? जाने तो परीक्षा करे, परीक्षा करे तो जाने, फिर पहिले क्या हो?

उत्तर—यहां एक तीसरी चीज भी है-मानना। पहिले जाने, फिर अपने अनुभव तथा अन्य ज्ञान के आधार से परीक्षा करे, फिर माने। परीक्षा करके मानने की जरूरत है—जानने की नहीं। जानना तो पहिले भी हो सकता है।

प्रश्न—जो शास्त्र की परीक्षा कर सकता है उसे शास्त्र की जरूरत क्या है? जिस बुद्धि वैभव से वह शास्त्र की परीक्षा कर सकता है उसी से वह शास्त्र में वर्णित विषय क्यों न जाने?

उत्तर—यहां गुरु-परीक्षा नहीं आलोचन-परीक्षा है, इस परीक्षा में उतने बुद्धि-विभव की जरूरत नहीं होती जितनी शास्त्र के निर्माण में। निर्माता को अप्राप्त वस्तु प्राप्त करना पड़ती है, आलोचक को प्राप्त वस्तुकी सिर्फ जांच करनापड़ती है। प्राप्त वस्तु को जाचना सरल है पर उसका निर्माण या अर्जन कठिन है इसलिये हर एक आदमी शास्त्र-निर्माता नहीं हो सकता पर परीक्षक हो सकता है।

प्रश्न—परीक्षक बनने के लिये कुछ विशेष ज्ञान की आवश्यकता है पर बिना परीक्षा किये किसी की कोई बात मानना ही न चाहिये ऐसी हालत मे विशेष ज्ञान कैसे मिलेगा? बालक का भी कर्तव्य होगा कि वह माँ बाप की बात परीक्षा करके माने, इतना ही नहीं-किन्तु माँ बाप की भी परीक्षा करे? जब सरस्वती माता की परीक्षा की जाती है, गुरु की परीक्षा की जाती है तब माँ बाप की परीक्षा क्यों नहीं? पर इस प्रकार परीक्षकताके अद्वैत से क्या जगत का काम चल सकता है?

उत्तर—दुनिया दुरंगी है, भीतर कुछ और बाहर कुछ, इसलिये परीक्षक बने बिना मनुष्य की गुजर नहीं हो सकती? पर मनुष्य जन्म से विश्वासी होता है, दूसरों से वञ्चित होने पर वह परीक्षक बनना सीखता है। इस प्रकार के अनुभव ज्यो ज्यो बढ़ते जाते हैं त्यों त्यो मनुष्य परीक्षक बनता जाता है और जहा परीक्षक नहीं बन पाता वहा विश्वास से काम लेता है। मनुष्य का जीवन-व्यवहार विश्वास और परीक्षा के समन्वय से चलता है। जहा अपनी गति हो वहां परीक्षा करना चाहिये, बालक माँ बाप की बात की परीक्षा करते हैं और मा बाप की भी परीक्षा करते हैं। जब बालक मा बाप की बात का भी विश्वास नहीं करता है तब समझना चाहिये कि उसमें परीक्षकता है। हरएक आदमी को मा बाप नहीं कहता, विशेष आकृति स्वर आदि से मा बाप को पहिचानता है—यह मा बाप की परीक्षा है। जैसी उसकी योग्यता है वैसी परीक्षकता है। प्रारम्भिक शिक्षण में विश्वास से काम लेना ही पड़ता है और परीक्षकता का उपयोग भी कुछ नियमों के अनुसार करना पड़ता है। परीक्षा करने में तीन बातों का विचार करना चाहिये:—

१ वस्तु का मूल्य २ परीक्षा की सुसम्भावना की मात्रा. ३ परीक्षा न करने से लाभ हानि की मर्यादा।

१ सोना चाँदी आदि की जितनी परीक्षा की जाती है उतनी साधारण पत्थरों की नहीं। उसी प्रकार गुरु शास्त्र देव आदि की जितनी परीक्षा की जाती है उतनी अन्य सम्बंधियों की नहीं, क्योंकि गुरु शास्त्र आदि पर लोक-परलोक का कल्याण निर्भर है।

२ शास्त्र गुरु आदि की परीक्षा जितनी सुसम्भव है उतनी माता पिता आदि की नहीं। सम्भव है, माता पिता कहलानेवाले माता पिता न हो कुछ संकरता हो, शैशव मे उनने अपना लिया हो, तो हमारे पास ऐसे चिह्न नहीं हैं कि उनकी ठीक ठीक जाँच कर सकें। इसलिये माता पिता की असलियत की जाँच कम की जाती है।

१ माता पिता अगर असली न हों तो भी उसमें कोई विशेष हानि नहीं है पर गुरु शास्त्र आदि के विषय में ऐसी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उनके असत्य होने से जीवन नष्ट हो सकता है।

शास्त्र की परीक्षा में सरस्वती माता का अपमान न समझना चाहिये। सरस्वती तो सत्य-मयी है और शास्त्र के नाम पर तो सत्य-असत्य सभी चलता है, उसकी परीक्षा करके सत्य की खोज निकालना सरस्वती की खोज करना है उसकी परीक्षा करके उसका अपमान नहीं। सत्य की खोज करना भगवान सत्य का अपमान नहीं सन्मान है। परीक्षा को अपमान नहीं समझना चाहिये। इसलिये शास्त्र परीक्षा अवश्य करना चाहिये। हां, जहां अपना बुद्धि-वैभव काम न दे वहां विश्वास से काम लें फिर भी इतना तो समझ ही लेना चाहिये कि वह प्रमाण-विरुद्ध तो नहीं है, देशकाल को देखते हुए सम्भव है या नहीं? जब विरोध समझ में आ जाय तब मोहवश असत्य को अपनायें न रहें।

इस प्रकार शास्त्रों की परीक्षा करके शास्त्र-मूढ़ता का त्याग करना चाहिये।

देवमूढ़ता-(जीमूतो) जीवन का आदर्श देव है। जीवन के आदर्शरूप में जब हम किसी तत्व को अपनाते हैं तब वह गुणदेव कहलाता है, जब किसी व्यक्ति को अपनाते हैं तब उसे व्यक्तिदेव कहते हैं। सत्य अहिंसा आदि गुणदेव हैं, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध ईसा मुहम्मद, जरथुस्त्र मार्क्स आदि व्यक्तिदेव हैं। गुणदेवों को जीवन में उतारना व्यक्ति देवों के जीवन से शिक्षा लेकर उनका उचित अनुकरण करना, उनके विषय में अपनी भक्ति बताने के लिये आदर, पूजा, सत्कार स्तुति करना यह सब देवों की उपासना है। साधक ऐसी देवोपासना तो करता है पर वह देवमूढ़ता का परिचय नहीं देता।

देव-मूढ़ता पाँच तरह की है १ देव-भ्रम (जीम-मूहो) अदेव को देव मानना, २ रूप-भ्रम (रूम्पो मूहो) देव का स्वरूप विकृत या असत्य कल्पित करना ३ कुयाचना (नियाचो) अनुचित मांग पेश करना ४-दुरुपासना (रुपूजो) बुरी तरह पूजा करना ५ परनिंदा (चुमधुपो) एक देव की पूजा के लिये दूसरे देव की निन्दा करना।

१—भय से, मोह से और अन्ध-श्रद्धा से किसी को देव मानना देवभ्रम है। जैसे भूत पिशाच शीतला आदि को देव मानना उनकी पूजा करना। पहिले तो भूत पिशाच आदि कल्पनारूप हैं। एक तरह के शारीरिक विकारों को लोग भूतावेश कहने लगते हैं पर अगर ये हों भी, तो भी इन्हें देव मानना देवभ्रम है। क्योंकि ये आततायी हैं-आदर्श नहीं अगर ये उपद्रव करें तो इन्हें दंड देना चाहिये। दंड नहीं दे सकते तो उसका यह मतलब नहीं है कि इन्हें देव माना जाय। शनैश्चर आदि ग्रहों को देव मानना भी देवभ्रम है। अनन्त आकाश में घूमनेवाले ये भौतिक पिंड कोई प्राणी नहीं हैं कि उन्हें देव माना जाय। इनकी गतिका जीवन पर ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता जैसा कि लोग समझते हैं। वायुमण्डल आदि पर कोई प्रभाव पड़ता भी हो, तो भी इन्हें देव मानने की जरूरत नहीं है। अगर इनका कोई दुष्प्रभाव होता हो तो उससे बचने के लिये हमें कोई चिकित्सा करना चाहिये, इनकी पूजा करना और इन्हें खुश करने की कल्पना से इनके दुष्प्र-भाव से बचने की आशा करना मूढ़ता है। इस मूढ़ता से बड़ी भारी हानि यह है कि मनुष्य योग्य चिकित्सा से वञ्चित हो जाता है और अयोग्य चिकित्सा में अपव्यय करता है इस प्रकार दुहरी हानि उठाता है।

प्रश्न—ईश्वर भी एक कल्पना है तो क्या उसे मानना भी देवभ्रम समझा जाय?

उत्तर—भय से, मोह से और अन्ध श्रद्धा से ईश्वर मानना देवभ्रम है पर विचारपूर्वक ईश्वर मानना और किसी तरह की अनुचित आशा नहीं रखना देवभ्रम नहीं है। जगत्कर्ता

ईश्वर कल्पित भी हो तो भी यदि उसका दुरुपयोग न किया जाय तो देवभ्रम नहीं है। जैसे पाप करना और ईश्वर की पूजा करके पाप के फल से छुटकारा मानना यह ईश्वर का दुरुपयोग है। पर उसे पूर्ण न्यायी मान कर पाप से बचते रहना ईश्वर का सदुपयोग है। इससे मनुष्य का कल्याण है। इसलिये अगर ईश्वर कल्पित भी हो तो भी उसकी मान्यता सिर्फ अतथ्य होगी, असत्य नहीं।

दूसरी बात यह है कि गुणमय ईश्वर कल्पित भी नहीं है। सत्य अहिंसा आदि गुणों का पिंड ईश्वर विश्वव्यापी है, घट घट वासी है, अनुभव में आता है, बुद्धि-सिद्ध भी है उसे मानना तथ्य भी है और सत्य भी है इसलिये ईश्वर की मान्यता देव-मूढ़ता नहीं है।

प्रश्न—मूर्ति को देव मानना तो देवभ्रम अवश्य है। क्योंकि मूर्ति तो पत्थर आदि का पिंड है। वह देव कैसे हो सकता है?

उत्तर—मूर्ति को देव मानना देवभ्रम है पर मूर्ति से देव की स्थापना करना देवभ्रम नहीं है। अपनी भावना को व्यक्त करने के लिये कोई न कोई प्रतीक रखना उचित है। जैसे कागज और स्याही को (पुस्तकों को) ज्ञान समझना भ्रम है पर उसमें ज्ञान की स्थापना करके उसके द्वारा ज्ञानोपार्जन करना भ्रम नहीं है। हाँ, जब हम कला आदि का विचार न करके अन्ध-श्रद्धावश किसी मूर्तिविशेष में अतिशय मानते हैं, उसे देव की पढ़ने की पुस्तक न समझ कर देव ही समझने लगते हैं तब यह देवभ्रम हो जाता है। कोई मूर्ति सुन्दर और कलापूर्ण है तो उस दृष्टि से उसका महत्व समझो, अगर उसका कोई अच्छा इतिहास है तो ऐतिहासिक दृष्टि से उसे महत्व दो, पर उसमें दिव्यता की कल्पना मत करो. उसे देव मत समझो, देवमूर्त्ति समझो।

प्रश्न—मूर्ति द्वारा देव की उपासना करते समय अगर हम मूर्ति को न भुला सकें तो देव की उपासना ही न हो सकेगी। मूर्ति को भुला देने पर देवत्व ही देवत्व रह जायगा, पर मूर्ति की जगह देवत्व को आप भ्रम कहते हैं।

उत्तर—मूर्ति द्वारा देव की उपासना करते समय मूर्ति को भुला देना ही ठीक उपासना है मूर्ति को याद रखना उपासना की कमी है। देव की उपासना में देव ही याद रखना चाहिये उसका आधार नहीं। जितने अंश में अवलम्बन (मूर्ति वगैरह) याद आता है उतने अंश में वह देवोपासना नहीं है। जिस प्रकार अक्षरों की आड़ी टेढ़ी आकृतियों को देखते हुए और उनका उपयोग करते हुए भी उन्हें भुलाकर अर्थ पर विचार करना पड़ता है उसी प्रकार मूर्ति के सामने मूर्ति के रूप को भुलाकर देव का रूप याद करना पड़ता है। इस में अदेव को देव नहीं माना गया है जिससे देवभ्रम कहा जा सके।

२—देव के वास्तविक और मुख्य गुणों को भुलाकर कल्पित निरुपयोगी गुणों को मुख्यता देना, उनका रूप बदल कर उसका वास्तविक उपयोग न होने देना आदि रूपभ्रम है। जैसे अमुक महात्मा के शरीर में दूध सरीखा खून था, ब्रह्मा विष्णु महेश उसका धात्रीकर्म करने आये थे, वह बैठे बैठे अधर चला जाता था, वह समुद्र को हुक्म देकर शान्त करता था, वह उंगलीपर पहाड़ उठाता था, उसके चार मुँह दिखते थे, ये एक प्रकार के सब रूप-भ्रम हैं। दूसरे प्रकार के रूपभ्रम वे हैं जिनमें सम्भव किन्तु [illegible] बातों को महत्व दिया जाता है। जैसे महात्मा की लोकोपकारता आदि को गौण करके उन असाधारण सौन्दर्य आदि को महत्व देना हो सकता है कि वे सुन्दर हों पर वे महा[illegible] होने के कारण सुन्दर थे यह बात नहीं है। [illegible] के आवेश में ऐसी बातों को इतना महत्व न देना चाहिये कि उनके महात्मापन के चिन्ह दब जायँ तीसरे प्रकार का रूपभ्रम वह है जिस में महात्माओं को उनके जीवन से विलक्षण [illegible] चित्रित किया जाता है जैसे किसी [illegible]

साधु की मूर्ति को—जो नग्न तक रहा हो—गहने पहिनाना आदि। ये सब रूपभ्रम देव-मूढ़ता के ही एक रूप हैं।

प्रश्न—आलंकारिक वर्णन में थोड़ी अतिशयोक्ति हो ही जाती है। अगर उन्हें देव-मूढ़ता कहा जायगा तब तो काव्य की इतिश्री ही हो जायगी।

उत्तर—अलंकार अलंकाररूप में काम में आवें तो कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि उससे अर्थ में कोई कमी नहीं होती बल्कि अर्थ स्पष्ट होता है। मुख को चन्द्रमा कहने से सुन्दरता ही मालूम होती है उसे प्रकाश समझकर रात में दीपक नहीं बुझाये जाते। दुःख का पहाड़ उठा लिया, विपत्ति के समुद्र को पी गया या पार कर गया आदि अलंकार वाक्य के अर्थ को सुन्दर और साफ बनाते हैं इसलिये अलकार के उपयोग में मूढ़ता नहीं है। मूढ़ता है अलकार को इतिहास या विज्ञान समझने में। पुराणों में आये हुए बहुत से वर्णन इसी प्रकार के आलकारिक हैं उनका वास्तविक अर्थ पहिचान लेनेपर मूढ़ता नहीं रहती।

३ तीसरी देव-मूढ़ता है कुयाचना। देवोपासना का मतलब उनके गुणों को या आज्ञाओं को अपने जीवन में उतारना है जिससे हमारा उद्धार हो। भक्ति-मय भाषा में हम यह भी कह सकते हैं कि तुम हमारा उद्धार करो, जगत में शान्ति करो, हमारे पापों को दूर करो आदि। इसका मतलब यही कि हम आपका अनुसरण करें जिससे हमारा उद्धार हो आदि। यह कुयाचना नहीं है। पर जहां अपने कर्तव्य की भावना तो है नहीं, सिर्फ देव को खुश करके धन की स्वास्थ्य की, सन्तान की, विजय की, शत्रु-नाश की याचना है वह कुयाचना है। देव-पूजा अपने कर्तव्य को समझने और उसका पालन करने और उसपर दृढ़ रहने के लिये होना चाहिये मुफ्तखोरी के लिये नहीं। कुयाचना करने से वह पूरी नहा होती सिर्फ अपनी क्षुद्रता और अस-यम का पता लगता है। कुयाचना देव-मूढ़ता का परिणाम है।

प्रश्न—व्यक्तिदेवों की उपासना में उनके जीवन का अनुकरण लक्ष्य हो सकता है पर ईश्वर की उपासना में क्या ध्येय होगा? ईश्वर का अनुकरण तो किया नहीं जा सकता। उससे छोटी बड़ी सभी चीजों की याचना ही की जा सकती है। प्राणी तो ईश्वर के आगे सदा भिखारी हैं। इससे याचना क्या और कुयाचना क्या?

उत्तर—जगदीश्वर एक ही हो सकता है इसलिये हरएक आदमी जगदीश्वर नहीं बन सकता फिर भी उसका अनुकरण कर सकता है। ईश्वर सर्वगुण-भण्डार है इसलिये जिस गुण का जितने अंशों में अनुकरण हो उतना ही अच्छा है। उसके सामने सिर झुकाने में उसके शासन के विषय में श्रद्धा प्रगट होती है और इससे उसकी व्यवस्था-नीति धर्म को बनाये रखने की इच्छा पैदा और प्रगट होती है। उससे अपने विकास की या आत्मबल की ही याचना करना चाहिये—दया क्षमा की नहीं। प्रार्थना में अगर भक्तिवश दया क्षमा के शब्द आ भी जायँ तो इतना ही समझना चाहिये कि हम अपने पापों को स्वीकार कर रहे हैं और पश्चात्ताप प्रकट कर रहे हैं। ईश्वरीय न्याय को बदलना नहीं चाहते। वास्तव में कोई मनुष्य ईश्वर का अपराध नहीं करता, नहीं कर सकता, वह अपराध करता है उसकी सन्तान का अर्थात् हमारा तुम्हारा, उसका न्याय होना ही चाहिये। इसलिये न्याय से बचने की याचना कुयाचना है। हाँ पाप करने से दूर रहने की और संकट सहने की याचना सुयाचना है वह मांगना चाहिये। ईश्वर के आगे इतना ही भिखारीपन सार्थक है।

प्रश्न—धन सम्पत्ति आदि की याचना भी देवोपासना से सफल होती है। देवोपासना से पुण्य होता है और पुण्य से ऐहिक लाभ मिलते हैं फिर मनुष्य यह याचना क्यों न करे? अथवा उसे कुयाचना क्यों कहा जाय?

उत्तर—देवोपासना से पुण्य होगा तो उस का फल आगे मिलेगा इससे पुराने पाप का फल कैसे नष्ट होजायगा? दूसरी बात यह है कि देवोपासना से ही पुण्य नहीं हो जाता, पुण्य होता है देवोपासना के सत्प्रभाव—नीति सदाचार आदि को जीवन में उतारने से, प्रतिक्रमण आदि तप करने से। ये न हों तो देव-पूजा क्षणिक आनन्द देने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती। तीसरी बात यह है कि हरएक कारण से हरएक कार्य नहीं हो सकता इसलिये देव-पूजा शारीरिक चिकित्सा का काम नहीं कर सकती। बीमारी में या संकट में देव-पूजा से सहने की ताकत आ सकती है, मन को बल मिल सकता है पर वैद्य का काम पूरा नहीं हो जाता। देव पूजा से निःसन्तानता का कष्ट सहा जायगा, विश्व-बन्धुत्व पैदा होकर सन्तान-मोह दूर जायगा पर सन्तान पैदा न हो जायगी। इसलिये कुयाचना न करना चाहिये।

४-चौथी देव मूढ़ता दुरुपासना है। संयम को नष्ट करनेवाली उपासना दुरुपासना है। जैसे देवता के नाम पर पशुवध करना, मद्यपान करना, मांस-भोजन करना, व्यभिचार करना, आत्मघात करना (पहाड़ से गिर पड़ना जल में डूब मरना आदि) नरमेध यज्ञ आदि भी इसी मूढ़ता में शामिल हैं।

प्रश्न—कोई कोई देव ऐसी तामस प्रकृति के होते हैं जो ऐसे ही कार्यों से खुश होते हैं। उनकी उपासना के लिये ये कार्य करना ही पड़ते हैं, अन्यथा वे परेशान करते हैं।

उत्तर—पहिले तो ऐसे कोई देव है ही नहीं जो मांस आदि चाहते हों। यह सब हमारी लोलुपता का परिणाम है। अगर हों तो उन्हें पूजना न चाहिये। देव तो प्राणिमात्र के देव हैं वे पशुओं के भी देव हैं। जगदम्बा पशुओं की भी अम्बा है वह अपने लिये अपने पुत्रों का बलिदान कैसे चाहेगी? सच्चे देव पाप नहीं कराते। पाप करानेवाले देव कुदेव हैं। जो अपने लिये आदर्श नहीं है और देवरूप में माने जाते हैं वे कुदेव हैं। उनकी उपासना न करना चाहिये।

५ पांचवीं देवमूढ़ता है परनिन्दा। सम्प्रदाय आदि के मोहवश दूसरे सुदेवों की निन्दा करना पर-निन्दा है। अगर किसी देव के विषय में तुम्हारा खास आकर्षण है तो उसकी खूब उपासना करो पर दूसरे देवों की निन्दा न करना चाहिये और न ऐसी प्रार्थना पढ़ना चाहिये जिससे उनकी निन्दा होती हो।

प्रश्न—इस तरह तो दो व्यक्ति-देवों में तुलना करना कठिन हो जायगा क्योंकि तुलना में तरतमता सिद्ध होना स्वाभाविक है। जिसका स्थान कुछ नीचा बताया जायगा उसी की निन्दा हो जायगी और इसे आप देव-मूढ़ता कह डालेंगे।

उत्तर—निष्पक्ष आलोचना में परनिन्दा नहीं होती। परनिन्दा मोह का परिणाम है, आलोचना मोह का परिणाम नहीं है। तुलना करना चाहिये पर वह मोह और अहंकार का कारण या फल न होना चाहिये। साथ ही तुलना करने की बीमारी भी न होना चाहिये। जब विशेष आवश्यकता हो तब ही तुलना करना चाहिये फिर परनिन्दा का दोष नहीं रहता।

लोक-मूढ़ता (लुट्टो ऊतो) बिना समझे या बिना पर्याप्त कारण के लोकाचार का पक्षपात होना लोकमूढ़ता है। रीतिरिवाज किसी अवसर पर किसी कारण से बन जाते हैं अगर कोई हानि न हो तो उनके पालन करने में बुराई नहीं है पर उनका पक्षपात न होना चाहिये। हमारे यहां ऐसे कपड़े पहिनते हैं, ऐसे बाल कटाते हैं ऐसा भोजन बनाते हैं, इस प्रकार सजाते हैं इस प्रकार अभिवादन करते हैं, विवाह विधि ऐसी होती है, जन्म मरण पर ऐसा करते हैं ऐसी बातों का पक्षपात प्रबल होना उसकी बुराई को न देख सकना उससे भिन्न लोकाचार की भलाई न देख सकना लोक-मूढ़ता है।

वेषभूषा में स्वच्छता सुविधा आदि का विचार करना चाहिये। जिसमें हमें सुविधा है

उसमें दूसरों को असुविधा हो तो दिखना न चाहिये। इसी प्रकार खानपान में रुचि, स्वास्थ्य, स्वच्छता, निर्दोषता आदि का विचार करना चाहिये इसी प्रकार हरएक लोकाचार को बुद्धि-संगत बनाकर पालन करना चाहिये।

प्रश्न—लोकाचार को बुद्धि-संगत बनाया जाय तो बड़ी परेशानी हो जायगी। आज दिल चला यूरोपीय पोषाक पहिन ली, कल लँगोटी लगा ली, परसों मारवाड़ी बन गये, किसी दिन महाराष्ट्री बन गये, किसी दिन पंजाबी बन गये। इस तरह का बहुरूपियापन क्या अच्छा है? आखिर आदत भी कोई चीज है। उसके साथ बलात्कार करना कहां तक उचित है?

उत्तर—लोक-मूढ़ता के त्याग के लिये बहुरूपिया बनने की जरूरत नहीं है न आदत के साथ बलात्कार करने की जरूरत है। जरूरत इतनी ही है कि रूढ़ियों की गुलामी छोड़ी जाय और सकारणक परिवर्तन के लिये तैयार रहा जाय। आज हमारे पास पैसा नहीं है, ठंड भी नहीं लगती तब कोट न पहिनना तो अच्छा ही है चादर ही ओढ़ लिया तो क्या बुराई है? अधिक भूषणों से शरीर मलिन रहता है असुविधा होती है तो रिवाज होने पर भी आभूषण न पहिने या कम पहिने तो अच्छा ही है। शरीर की जरूरत जैसी हो वैसी पोशाक कर लेना चाहिये। एक जमाने में ब्राह्मण-वर्ग के निर्वाह लिये जन्म मृत्यु के अवसर पर दान दक्षिणा भोजन आदि उचित था आज आवश्यकता नहीं है तो उस रूढ़ि का किसी न किसी रूप में पालन होना ही चाहिये यह गुलामी क्यों? रही आदत की बात सो आदत बुरी (स्वपर-दुःखकारक) न होना चाहिये फिर आदत के अनुसार कार्य करने में कोई बुराई नहीं है। अगर आदत बुरी है तब तो धीरे धीरे उसके त्याग करने का प्रयत्न [illegible] करना चाहिये।

[illegible] प्रकार बाप दादा तथा पूर्वजों ने उनके रिवाज न चलाये हों [illegible] ही होना चाहिये' इस प्रकार का आग्रह भी लोक-मूढ़ता है। क्योंकि बाप दादे हमारे उपकारी हो सकते हैं पर हमसे अधिक विद्वान थे ऐसा कोई नियम नहीं है। पर इससे भी अधिक महत्व की बात तो यह है कि बाप दादे विद्वान भी हों पर उनका कार्य उनके समय के लिये ही उपयोगी हो सकता है आज के लिये आज का युग देखना चाहिये। आज के रिवाज किसी न किसी दिन नये सुधार थे। उन पुराने सुधारकों ने जब अपने समय के अनुसार रिवाज बनाते समय अपने पुरखों की पर्वाह नहीं की तो उनकी दुहाई देकर हमें क्यों करना चाहिये?

प्रश्न—बहुत से लोकाचार ऐसे हैं जिनके लाभ शीघ्र नहीं मालूम होते पर उनसे लाभ है जरूर। हरएक लोकाचार के विषय में छानबीन करने की हरएक आदमी को फ़ुरसत भी नहीं रहती इसलिये बहुत से लोकाचारों का बिना विचारे पालन करना पड़ता है। इसमें लाभ हो तो ठीक ही है, नहीं तो हानि तो कुछ है ही नहीं। ऐसी हालत में इसे लोकमूढ़ता कैसे कह सकते हैं?

उत्तर—लोकाचार का पालन करना लोक-मूढ़ता नहीं है पर विवेक छोड़कर हानिकर लोकाचार का पालन करना लोकमूढ़ता है। जिस विषय पर विचार नहीं किया है उसका पक्षपात न होना चाहिये और लोकाचार के दोषों पर जानबूझकर उपेक्षा भी न करना चाहिये। अवसर न मिलने से विशेष विचार न किया हो पर इतना विचार तो आवश्यक है कि इस लोकाचार से सत्य और अहिंसा में बाधा तो नहीं पड़ती। लौकिक हानि दूसरों की प्रसन्नता के लिये भले ही सहन करती जाय पर वह हानि ऐसी न होना चाहिये जिससे समाज के दूसरे लोगों को भी हानि का शिकार होना पड़े। जहां तक बने लोकाचार के संशोधन का प्रयत्न तो होते ही रहना चाहिये।

प्रश्न—मनुष्यता की उत्पत्ति का कारण बुद्धि भले ही हो पर उसकी भिन्नता का कारण संस्कार है। हम या नहिन बेटी की पवित्रता की दृष्टि से देखते हैं इसका कारण हमारे बौद्धिक

विचार नहीं संस्कार है और इन संस्कारों का कारण लोकाचार है। संस्कार समझने से नहीं पड़ते किन्तु आसपास के लोगों के आचार से पड़ते हैं। और यही लोकाचार है। इसलिये लोकाचार को कम महत्व देना ठीक नहीं।

उत्तर—लोकाचार की उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा सकती परन्तु उसका जितना महत्व है उतना ही उसका संशोधन आवश्यक है। जिस लोकाचार पर मनुष्यता-निर्माणक संस्कार तक अवलम्बित हो उसमें विवेक को स्थान न होना मनुष्यता को पशुता की तरफ ले जाना है। अच्छे अर्थात् कल्याणकारी लोकाचार को नष्ट करने की जरूरत नहीं है, जरूरत है देशकाल विरुद्ध अकल्याण-कर लोकाचार को बदलने की, जिससे संस्कार अच्छे पड़े।

लोकमूढ़ता का त्यागी रूढ़ियों का गुलाम न होकर उचित रूढ़ियों का पालन करेगा, देशकाल के अनुसार सुधार करने को तैयार रहेगा। इस प्रकार चारों तरह की मूढ़ताओं का त्यागी और निःपक्ष विचारक बनकर मनुष्य विवेकी बनता है जो कि योगी जीवन की पहिली शर्त है।

धर्म-समभाव (धर्मोसमभावो)

योगी का दूसरा चिन्ह धर्म समभाव है जिसका अर्थ है—

धर्मपथ या सभ्यता फैले विविध विचार।
समभावी निःपक्ष बन लो उन सब का सार॥

पैगम्बर तीर्थंकर अवतार मसीह ऋषि आदि कहलाने वाले महात्माओं ने, महान विचारकों ने, जगत को सुधारने और सुखी बनाने के लिये अनेक तरह की योजनाएँ बनाई और चलाई हैं। उनमें से कुछ योजनाएँ धर्मपथ या सम्प्रदाय कहलाने लगी हैं, कुछ इस प्रकार की छाप लगाये बिना लोगों के आचार विचार में घुल मिल गई हैं। इनमें से अधिकांश योजनाएँ अपने देशकाल को देखते हुए जगत्कल्याण के लिये उपयोगी होती हैं। पूर्ण सत्य तो कोई योजना बन नहीं सकती, क्योंकि समस्त विश्व और समस्त काल में उपयोगी होसके ऐसी योजना बनाई नहीं जासकती। ऐसी असीम या अनंत योजना मनुष्य की ज्ञानशक्ति और शक्ति के बाहर है। साधारणतः ऐसी योजनाएँ अपने देशकाल के अनुरूप ही बनती हैं, हां! दूरदर्शिता की विशेषता के कारण अधिक से अधिक देशकाल को ध्यान में रक्खा जासकता है। इस दृष्टि से इन योजनाओं में तरतमता हो सकती है। जो योजना जिस देशकाल के अनुरूप है, कल्याणकर है, वह योजना उस देशकाल के सत्य है। या जितना हिस्सा कल्याणकर है उतना हिस्सा सत्य है। इस सत्य को ग्रहण करना, कालमोह स्वत्वमोह छोड़कर इन पर निःपक्ष विचार करना, इनके विषय में योग्य शिष्टाचार का पालन करना धर्मसमभाव है।

जो अगर विशेष नामकरण न किया जाय तो धर्म जगतमें एक है। भले ही उसे सत्य कहें, अहिंसा कहें, प्रेम कहें, सदाचार कहें। पर उसके व्यावहारिक रूप देशकाल को देखते हुए असंख्य हैं। धर्म को पालन करने के लिये देशकाल के अनुसार जो आचार विचार संगठित किये जाते हैं उन्हें भी धर्म कहते हैं। उनकी जब परम्परा चलती है तब उन्हें सम्प्रदाय कहते हैं। इस प्रकार धर्म, संप्रदाय, मत, मजहब रिलीजन, तीर्थ, आदि शब्द इस नित्यधर्म, सत्य और अहिंसा के सामयिक दैशिक रूप के लिये प्रयुक्त होते हैं, हिन्दूधर्म, इसलाम मजहब, क्रिश्चियानिटी, जैनधर्म, बौद्ध धर्म, जरथोस्ती धर्म, कन्फ्यूशियस धर्म, आदि जो अनेक धर्म जगत् में फैले हैं उनमें से अधिकांश अपने अपने समय और अपने अपने देश के लिये हितकारी थे और आज भी उनका बहुतसा भाग जगत के लिये हितकारी है, उनकी विविधता परस्पर विरोधी नहीं है, देशकाल सापेक्ष होने से विरोध का कारण नहीं रह जाता इन धर्मों को पूर्ण सत्य समझना, या पूर्ण असत्य समझना भूल है। हर एक धर्म सामयिक सत्य है, सत्यका अंश है। किसी

का उपयोग करते समय युगबाह्य या असत्य अंश निकाल देना चाहिये और युगसत्य जोड़ना चाहिये। इस प्रकार विवेक और आदर पूर्वक उसका उपयोग करना चाहिये।

यद्यपि धर्म के नाम पर चलने वाले ऐसे भी सम्प्रदाय होसकते हैं जो किसी व्यक्ति ने सत्य या जनहित के लिये नहीं किन्तु व्यक्तित्व के मोह-वश, ईर्ष्या अहंकार या लोभवश खड़े कर लिये हों, जिनमें लोकहित की उपेक्षा या विरोध हुआ हो फिर भी किसी कारण चल पड़े हों। ऐसे धर्म टिक नहीं पाते या बहुत फैल नहीं पाते। समभाव के नाम पर उनके आगे आत्मसमर्पण की जरूरत नहीं है।

प्रश्न—धर्म तो सत्य अहिंसा आदि हैं। उनमें आदर भक्ति आदि रखना जरूरी है। पर उनके नामपर जो अनेक तीर्थ बने हैं उनके विषय में धर्म समभाव रखने का क्या मतलब है? क्या इससे विनय मिथ्यात्व या अविवेक पैदा नहीं होता? क्या यह सब की चापलूसी नहीं है?

उत्तर—धर्मसमभाव के नामपर अविवेक चापलूसी या विनय मिथ्यात्व आसकते हैं पर वे धर्मसमभाव नहीं कहला सकते। इनमें धर्मसमभाव में जमीन आसमान का अन्तर है। विनय मिथ्यात्व में अविवेक की सीमा है और धर्मसमभाव में विवेक की सीमा है। विनय मिथ्यात्वी किसी धर्म के गुण नहीं समझता न उनका विश्लेषण करता है, जब कि धर्मसमभावी सबके गुणदोष समझता है उनका विश्लेषण करता है। जो बात अच्छी है वही ग्रहण करता है उसी की तारीफ करता है, उसी के कारण उस धर्म की या उसके तीर्थंकर पैगम्बर अवतार की पूजा करता है, बुरी बात को ग्रहण नहीं करता, उसकी तारीफ नहीं करता उसके कारण किसी की पूजा नहीं करता। ऐसी हालत में धर्म समभाव, न वञ्चनापूर्ण चापलूसी है, न मूढ़तापूर्ण वैनयिक मिथ्यात्व।

प्रश्न—जब ऐसा विश्लेषण करना है तब समभाव कैसे रहेगा? विश्लेषण से तो विषमता ही प्रगट होगी। यदि विषमता को दबाया जायगा तो विवेकपूर्ण समभाव कैसे रहेगा? आखिर इस धर्म समभाव का उपयोग क्या है?

उत्तर—विश्लेषण से विषमता पैदा होती है पर उसीसे उसमें अपने जन्म के धर्म में पक्षपात मोह आदि नहीं रहते. दूसरे धर्मों से इसलिये द्वेष (उपेक्षा घृणा) आदि नहीं होते कि वे पराये हैं, अपने धर्म की तो एक अच्छी बातों की, और दूसरे के धर्मों की बुरी बुरी बातों के गीत गाने की आदत नहीं रहती, इसप्रकार मनुष्य निष्पक्ष विचारक, सत्यान्वेषी और मानवताप्रेमी बनता है।

धर्म समभाव के खास खास लाभ ये हैं—
१ सत्यशोधकता, २ धार्मिक द्वन्द्व परिहार, ३. अनेकान्तदृष्टि लब्धि, ४ स्वत्वमोह विजय, ५ इतिहास प्रकाश ६ कृतघ्नता परिहार, ७ धर्ममर्मज्ञता, ८. सामाजिकता वृद्धि।

१—सत्यशोधकता (सत्य हिरको) समभावी मनुष्य ही सत्य की ठीक ठीक खोज कर सकता है। जिन्हें किसी एक धर्म का पक्षपात नहीं है वे ही यह समझ सकते हैं कि कहां कहा क्या क्या सत्य है? समभाव हीन व्यक्ति अपने धर्म के गुणों को अतिरंजित कर उसके गीत गाता है और दूसरे धर्मों के गुणो पर उपेक्षा करता है, या उन्हें विकृत रूप में चित्रण कर निन्दा करता है. अपने धर्म के दोषों और त्रुटियों पर उपेक्षा करता है छिपाता है जब कि दूसरे धर्म के दोषों को अतिरंजित कर बार बार उनका उल्लेख करता है ढिंढोरा पीटना है। ऐसी हालत में वह सत्य की खोज नहीं कर पाता उसमें वैज्ञानिकता नहीं आसकती। उसमें विज्ञान के नामपर मुँह छिपाने की वृत्ति पैदा होजाती है।

२—धार्मिक द्वंद्व परिहार (मन्तो लूगे लोपो) धर्मसंस्थाओं में समभाव न होने से जगत में इतने अन्याय अत्याचार हुए, देशों के टुकड़े हुए, मनुष्य में शैतानियत दिखाई दी, कि धर्म नीर्थोको लोग अभिशाप तक समझने लगे।

जब कि धर्मसमभाव के जरिये भिन्न-भिन्न तरह की जनता का भी सम्मिलन हुआ है, उनका एक समाज, एक राष्ट्र आदि बन सका है। हिन्द के इतिहास में ये दोनों बातें साफ दिखाई देती है। हिन्दू मुसलमानों मे धर्म समभाव के अभाव के कारण देश के टुकड़े हुए, लाखो मरे, करोड़ो भागे और अरबो की सम्पत्ति नष्ट हुई। करूरता के दृश्यो से शैतान भी शरमागया। और आर्य-अनार्य के समन्वय के बाद शैव वैष्णव आदि में जो समभाव पैदा हुआ उससे धार्मिक द्वन्द दूर होगये। अन्य देशों का इतिहास भी धर्मसमभाव के लाभो की गवाही देसकेगा।

३ अनेकान्त दृष्टि लब्धि (तंलुको लंको-सीनो धर्म समभाव से मनुष्य की दृष्टि सर्वतो-मुखी होजाती है। कौनसा आचार कौनसा विचार किसको कब कहां कितना उपयोगी या अनुप-योगी है इसका इससे पता लगता है। दर्शन के क्षेत्र मे म. महावीर ने यह अनेकान्त दृष्टि दी थी, पर धर्म के क्षेत्र मे उसका उपयोग यथेष्ट न हो सका। अगर होता तो जैन धर्म एक धर्मसम-भावी तीर्थ बनजाता। फिर भी जितनी अनेकात दृष्टि आसकी सत्य की उतनी ही अधिक उपलब्धि हुई, बहुत कुछ विरोध परिहार भी हुआ।

प्रश्न—अनेकान्त दृष्टि का धर्मसमभाव से क्या सम्बन्ध? अनेकान्त दृष्टि विज्ञान या विवेक पर आश्रित है वह वस्तुस्थितिविहीन समन्वय का झूठा प्रयास नहीं है, जब कि धर्मसमभाव एक भावना है—मन की लहर है—वह कदाचित कल्याणकारी होने से सत्य कही जासके पर वास्तविकता तो उसमें नहीं मानी जासकती। विज्ञान तत्वज्ञान या ऐतिहासिक तथ्य के सामने वह टिक नहीं सकती।

उत्तर—भूतकाल मे अनेकान्त दृष्टि का व्यवहार पदार्थ विज्ञान तक ही सीमित रहा, वह धर्मविज्ञान के क्षेत्रमे ठीक ठीक या पर्याप्त काम न कर सका, यह दुर्भाग्य ही कहा जास-कता है, पर कम दुर्भाग्य को छिपाने के लिये उसे सौभाग्य सिद्ध करने की जरूरत नहीं है। और यह कहना तो घोर एकान्त है कि "पदार्थ विज्ञान का सापेक्षवाद तो विवेकाश्रित है और धर्मविज्ञान का सापेक्षवाद विवेकहीन अविज्ञान है कोरी भावना है मन की लहर है।" पदार्थ के क्षेत्रमे अनेकान्त दृष्टि जितनी वैज्ञानिक है जीवन के क्षेत्रमें धर्मसमभावदृष्टि भी उतनी ही वैज्ञानिक है। मूर्तियों के नाम पर अरब देश के टुकड़े टुकड़े करनेवाले और एक दूसरे का खून बहाने वाले अरबों के लिये मूर्ति पूजा का विरोध जितना उचित था, उतना ही उचित मूर्ति के मर्म को और उसकी धर्म साधकता को जानने वाले जैन बौद्धों के लिये मूर्ति का उपयोग था। इसी-प्रकार आचार शास्त्र के भिन्न भिन्न विधान कहां उचित हैं कहां अनुचित है यह सापेक्ष दृष्टि जीवन की वास्तविकता से संबन्ध रखती है। यह केवल मन की लहर नहीं है कोरी भावना नहीं है किन्तु जीवन की वैज्ञानिक चिकित्सा है। द्रव्यो के या पदार्थों के विज्ञान से इसकी उपयोगिता आवश्यकता हजारो गुणी अधिक है। पदार्थ विज्ञान के विषयमे गलत जानकारी करके भी मनुष्य सम्यक्त्वी अर्हत् केवली योगी आदि होसकता है पर धर्म विज्ञान के विषयमें गलती होने से उसका सारा पदार्थ विज्ञान जीवन को नरक बनाने वाला बन सकता है। इसलिये तत्व धर्म विज्ञान है पदार्थविज्ञान नहीं। और धर्म-समभाव उसी धर्म विज्ञान के सहारे खड़ा होता है कोरी भावना या मन की लहर के सहारे नहीं। कोरी भावना के सहारे जो खड़ा होता है वह वैनयिक मिथ्यात्व है, चापलूसी है या कुछ अच्छे शब्द मे शिष्टाचार है। धर्मसमभाव जीवन शुद्धि, समाजशुद्धि विकास आदि के अनन्तरूपों-आचार विचार व्यवहारो-के विप-यमे निष्पक्ष सापेक्ष दृष्टि से संबन्ध रखनेवाली विवेकपूर्ण व्यापक विचारधारा है। इस धार्मक अनेकान्त दृष्टिकी लब्धि धर्म-समभाव से होती है।

४-स्वत्वमोह विजय (एमो मुहो जयो) धर्मसमभावी को अपने धर्म का मोह (मूढ़तापूर्ण पक्षपात) नहीं रहता। इसलिये वह निःपक्ष विचार कर सकता है। धर्मतीर्थ का घमण्ड नहीं आता, झूठी वकालत करने की वृत्ति नहीं रहती, सब जगह से सत्य खींचने की वृत्ति पैदा होने से उसके पास सत्य का भण्डार अधिक से अधिक होसकता है। ये सब पर्याप्त लाभ हैं। स्वत्वमोही एक तरह का निकटान्ध होजाता है। वह अपनेपन के कारण अपने पास के बड़े बड़े दोषों को नहीं देखता और दूसरों के छोटे छोटे दोषों को बड़े परिमाण में देखता है। साम्प्रदायिक दृष्टि से चर्चा या वाद करने वाले, या इस दृष्टि से साहित्य लिखने वाले इस निकटान्धता का खूब परिचय देते हैं।

५-इतिहास प्रकाश (लूलसो पिमो) धर्मसमभावी इतिहास को सत्य और निष्पक्ष दृष्टि से समझ सकता है। चूंकि अतीतकाल में मानव-जीवन के भीतर धर्मों ने काफी परिवर्तन किये हैं उनके निमित्त से अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घटी हैं, उन सब को ठीक ठीक समझने के लिये धर्म-समभावी होना जरूरी है। जो लोग धर्मों को घृणा की दृष्टि से ही देखते हैं एक तरह की बेवकूफी समझते हैं वे इतिहास में धर्मों के कर्तृत्व का, और धर्मों ने जो मानव समाज को प्रगति दी है उसका ठीक ठीक ज्ञान नहीं कर सकते। जो किसी एक धर्म के पक्ष से रंगे हैं उनको इतिहास का ठीक ठीक ज्ञान और भी दुर्लभ है। वे अपने धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली छोटी छोटी घटनाओं को इतना महत्व देंगे मानों ब्रह्माड उन्हीं से लटक रहा है और दूसरे धर्मों के द्वारा किये गये बड़े बड़े परिवर्तनों पर उनका ध्यान ही नहीं जायगा। धर्मसमभाव हीन व्यक्ति जब इतिहासज्ञ बन बैठता है तब वह इतिहास की ऐसी विडम्बना करता है कि इतिहास का मामूली विद्यार्थी भी हँससकता है। घटनाओं को तोड़ना मरोड़ना, झूठी घटनाएँ बनाना, उत्तर पक्ष को पूर्व पक्ष या पूर्वपक्ष को उत्तर पक्ष बनाकर बिलकुल उल्टी बात की घोषणा करना आदि अनेक तरह से वह इतिहास की हत्या करता है। इतिहास को ठीक रूप में समझने के लिये धर्मसमभावी होना आवश्यक है।

६-कृतघ्नतापरिहार (भत्तनीसो लोपो) धर्मसमभाव की हीनता से मनुष्य कृतघ्नता का परिचय देता है। जिन पूर्वजों की सेवाओं का उसने या उसकी पीढ़ी ने काफी लाभ उठाया होता है उनके उपकार को वह भूल जाता है। हिन्द के मुसलमान ईसाई आदि धर्मान्तर करने पर अपने पूर्वजों के प्रति कृतघ्न होगये, महावीर और बुद्ध ने इस देश का अनेक अंशों में काया-कल्प किया पर जो उनके धर्म के अनुयायी नहीं बने वे उन्हें भूल गये या निन्दक होगये, यही हाल श्रमणों का वैदिक ऋषिमहर्षियों के बारे में हुआ। हरएक धर्मवाले का यही हाल होता है। धर्मसमभाव के बिना वह कृतज्ञ नहीं रहपाता।

जो लोग हर धर्म के विरोधी होते हैं वे भी इसी कृतघ्नता की राह चलते हैं। वे यह नहीं सोचते कि पुराने लोगों के बनाये धर्म या उनकी सेवाएँ भले ही आज मृत या युगबाह्य होने से निरुपयोगी हों पर मानव समाज के विकास में उनने सीढ़ी का काम किया है। रेल के एंजिन का आविष्कार करने वाला वैज्ञानिक यदि आज के समान शक्तिशाली और द्रुतगामी एंजिन नहीं बना सका तो उसका उपकार भूलने लायक नहीं होजाता, और न हमें उसके मजाक उड़ाने का अधिकार मिलता है।

धर्मतीर्थ एक समय की क्रान्ति है। निःसन्देह किसी भी क्रान्ति का रूप उतना ही विकसित होता है जितना उस जमाने के आदमी विकसित होते हैं, इसलिये होसकता है कि वह आज के लिये एक मामूली बात हो और अपना काम करके वह निर्जीव होगई हो और उसके बाद नये तीर्थंकरों ने फिर क्रान्ति की हो, पर इसी कारण मृतक्रान्ति के उपकार को भूलना या उसकी निन्दा करना उचित नहीं। पिछले क्रांति-

कारों की हम तारीफ करें पर उन्हें पुराने क्रान्ति-कारों का दुश्मन न समझें। भले ही उनने पुरानी क्रान्ति को मिटाया हो। वास्तव में उनने पुरानी क्रान्ति के मुर्दे को जलाया था, उसके प्राण को नहीं। यह उपकार था विरोध या दुश्मनी नहीं।

हमारे माता पिता की लाश को जलाने के लिये जो आदमी आता है, और मोहवश यदि हम लाश से लिपटते हैं तो हमें लाश से हटाने की कोशिश करता है वह हमारे माता पिता का दुश्मन नहीं है। इसीप्रकार पुरानी क्रान्ति की अन्तक्रिया करनेवाले भी उस क्रान्ति के दुश्मन नहीं होते और न लाश जलाने से वे अपने पूर्वजों पर विजय करने वाले कहे जासकते हैं। उनकी अगर विजय है तो लाश से चिपटने वाले मोहियों पर है उस शरीर में रह चुकने वाले आत्मा पर नहीं।

इस कारण से धर्म-समभावी कृतज्ञ रहता है और समभाव विरोधी कृतघ्न होजाता है।

७ धर्मसर्मज्ञता (धर्मो शारिंगो) समभाव के बिना धर्म का सार समझ में नहीं आता। क्योंकि किसी एक ही सम्प्रदाय में मोह होजाने से मनुष्य मे वह विचारकता और विशालता पैदा नहीं होपाती है जिससे वह धर्म का मर्म समझ सके। पद पद पर अन्धश्रद्धा विचारकता में बाधा डालती है। समभावी में वह अन्धश्रद्धा नहीं रहती इसलिये उसकी विचारकता खूब पनपती है।

८ सामाजिकता वृद्धि ('समाजपेरो बिडो) समभाव के बिना धर्म संस्थाएँ सामाजिक दृष्टि से एक कैदखाना बन जाती हैं। धर्मतीर्थ के भेद से सामाजिक जीवन के टुकड़े टुकड़े होजाते हैं एक दूसरे के उत्सव त्यौहार जयन्तियाँ आदि में शिष्टाचार के नाते भी आना जाना बन्द होजाता है। सामाजिकता का यह अभाव एक राष्ट्रीयता में भी बाधक होता है, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में भी असहयोग आदि पैदा करता है। समभाव से ये बुराइयाँ दूर होजाती हैं।

इसप्रकार धर्मसमभाव के बहुत से लाभ हैं और यह एक वैज्ञानिक विवेचना होने से तथ्य भी है और सत्य भी है।

प्रश्न—धर्मसमभाव के विवेचन से ऐसा मालूम होता है कि भूतकाल में धर्मतीर्थ या सम्प्रदाय के नाम पर कोई खराबी आई ही नहीं। किसी ने भी धर्मगुरु बनकर चार चेले इकट्ठे कर लिये कि धर्मसमभाव के नाम पर उसको भी आपका प्रमाणपत्र मिल गया। पर क्या पुराने जमाने में जितने सम्प्रदाय आये वे सब ठीक थे? पर क्या उतने ही ठीक थे जितने कि उस जमाने में होसकते थे? क्या भिन्न-भिन्न तीर्थ के तीर्थंकर ज्ञान संयम आदि गुणों में समान थे, क्या उनमें किसी तरह के स्वार्थों का मिश्रण नहीं हुआ था? यदि यह सब अन्तर रहा है तो देशकाल का भेद बताकर भी समभाव कैसे व्यावहारिक बनसकता है, सब को समान कैसे समझा जासकता है?

उत्तर—विश्वप्रेम, सर्वभूतसमता, आदि शब्दों के प्रयोग में जिस प्रकार गुणी दुर्गुण आदि का संकर नहीं किया जाता उनका विवेक रक्खा जाता है उसी प्रकार धर्मसमभाव में भी गुण दुर्गुण और उनकी तरतमता का ध्यान रक्खा जाता है। विश्वप्रेम का अर्थ यह है कि विश्वप्रेमी ने साधारण रूप में सब के साथ प्रेम करने का निश्चय किया है और अब वह किसी मोह या स्वार्थ के कारण उनके साथ अन्याय न करेगा, और स्वभावत. उनके साथ प्रेम करेगा। धर्मसमभावी भी इसी तरह सब धर्मों के साथ स्वभावतः प्रेम करता है, उनके साथ किसी तरह का अन्याय नहीं करता, स्वार्थ या मोह के कारण उनकी निन्दा नहीं करता। विश्वप्रेमी सब को पहिले प्रेमपात्र बनाता है फिर अगर उसमें पाप हो तो वह उपेक्षा करता या दूर हटता है उसी प्रकार धर्म समभावी सब धर्मों से पहिले प्रेम करता है फिर यदि किसी में कोई खराबी दिखाई दे तो वह उपेक्षा करता है दूर हटता है। समभावी यह मानकर चलता है कि साधारणतः सभी धर्मतीर्थ जगत के कल्याण के लिये आये हैं,

अगर कोई धर्मतीर्थ कल्याण विरोधी हो और चल भी रहा हो तो उसे अपवाद समझना चाहिये। जब कि समभाव विरोधी समझता है कि मेरे धर्म को छोड़कर बाकी धर्म मिथ्या हैं उनमें अगर कोई सचाई हो भी तो वह अपवाद है।

चार चेले जोड़कर धर्मतीर्थ खड़े नहीं होते, या थोड़ी देर को खड़े भी हों तो शीघ्र लुप्त होजाते हैं। अगर मानव कल्याण न करने वाला धर्म खड़ा होकर टिका हुआ है तो समभावी अपने विवेक से उसकी जाँच करेगा और उसे अस्वीकार कर देगा, पर कहेगा कि ऐसा तीर्थ अपवाद है। साधारणतः धर्म कल्याणकर हैं।

तीर्थंकरों में ज्ञान संयम आदि की दृष्टि से तरतमता होती है पर इससे समभाव के व्यवहार में बाधा नहीं पड़ती। जैसे माता पिता काका आदि में तरतमता होती है पर वे सब गुरुजन माने जाते हैं और साधारणतः वन्दनीय होते हैं उसी प्रकार सब तीर्थंकर वन्दनीय हैं, भले ही उनमें तरतमता रहे।

मतलब यह कि समभावी अपने तीर्थ या तीर्थंकर का अन्ध प्रशंसक और दूसरे के तीर्थ या तीर्थंकरों का अन्धनिन्दक नहीं होता। निःपक्षता से निरीक्षण परीक्षण करता है। इसलिये चार चेले जोड़कर गुरु बनने वाले लोगों के सम्प्रदायों की उसे पर्वाह नहीं होती। वह विवेकहीन होकर सब को सत्य नहीं मानता फिरता। धर्मसमभाव का जीवन पर जो सब से बड़ा और महत्वपूर्ण असर पड़ता है वह यही कि मनुष्य धर्मों को ज्ञान के विश्वविद्यालयों के समान आचार के विश्वविद्यालय समझने लगता है जैसे कोई विद्यार्थी यह नहीं सोचता कि "मेरे विश्वविद्यालय में पढ़ने से ही मनुष्य शिक्षित होसकता है बाकी संसार भर के विश्वविद्यालय शिक्षण के नामपर मनुष्य को ठगते ही हैं" इसी प्रकार कोई धर्मवाला यह न सोचे कि 'मेरे धर्म को मानने वाला ही धर्मात्मा सम्यक्त्वी आस्तिक या ईमानवाला आदि है और दूसरे धर्म को माननेवाले सम्यक्त्वी आदि नहीं बनसकते। हमारा तीर्थंकर ही सर्वज्ञ है, दूसरे धर्म के तीर्थंकर मिथ्यात्वी छद्मस्थ आदि हैं'। इसप्रकार की संकुचितता का त्याग करने से मनुष्य समभावी बनजाता है। फिर वह सब धर्मों की निःपक्ष आलोचना, गुणदोषों की परीक्षा करे इससे समभाव को धक्का नहीं लगता।

यहां यह बात भी ध्यान में रखना चाहिये कि धर्मसमभाव में धर्म का अर्थ है लोक कल्याण की सच्ची योजना। परम्परा से आनेवाली हर-एक विचारधारा धर्म नहीं कहलाती। विवेकपूर्ण धर्मसमभावी कैसे धर्मतीर्थों के साथ कैसा व्यवहार करता है या विचार रखता है इसकी कुछ सूचनाएँ यहां दी जाती हैं।

धर्म या धर्मतीर्थ का मतलब उन व्यवस्थित योजनाओं से है जो अपने युग की मुख्य मुख्य समस्याओं को हल करती हुई मानवजीवन को विकास के पथ में आगे बढ़ाती है, और संसार को अधिक सुखमय बनाने का प्रयत्न करती है। इसप्रकार के कितने धर्म होगये इसका पूरा हिसाब तो नहीं बतलाया जासकता पर निम्नलिखित धर्म इस श्रेणी में आते हैं।

हिन्दूधर्म, जरथोस्तीधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म, ईसाई धर्म, इसलामधर्म, कन्फ्यूसियस धर्म इत्यादि।

धर्मसमभावी इन धर्मों का आदर करता है कृतज्ञ रहता है। पर इन्हें पूर्ण प्रमाण नहीं मानता क्योंकि ये सैकड़ों बल्कि हजारों वर्ष से अधिक पुराने होने के कारण आज के युग की समस्याओं को पूरी तरह या पर्याप्त रूप में हल नहीं करपाते। हां, इनसे प्रेरणा काफी ली जासकती है, सो वह लेता है। इन्हें भूत तीर्थ (लूलंभन्तो) कहना चाहिये।

२–आज की प्राय. सभी समस्याओं का समाधान करने वाले जो युगधर्म है. समभावी उनकी काफी परीक्षा करता है और बिलकुल निष्पक्ष दृष्टि से विचार करके जो उसे सर्वोत्तम मालूम होता है उसे स्वीकार करता है। भूतकाल

के धर्मों की अपेक्षा वह वर्तमान युगधर्म की परीक्षा अधिक करता है। क्योंकि भूतकाल के धर्मों से वह मुख्य रूप में प्रेरणा लेता है, उनकी थोडी बहुत बातें आम तौरपर युगबाह्य समझली जाती हैं इसलिये उन्हें अस्वीकार करके भी उनके विषय में आत्मीयता का भाव रक्खा जासकता है। किन्तु वर्तमान में जो धर्म बनरहे हैं उनके विषय में देशकाल के अन्तर की दुहाई नहीं दी जा सकती है इसलिये टोटल मिलाकर जो सर्वोत्तम होता है उसे वह स्वीकार कर लेता है। हां! अन्ध अनुकरण वह किसी का नहीं करता, यथा-शक्ति समझबूझकर ही वह स्वीकार करता है, और जिसे वह स्वीकार नहीं करता उसमें अगर कोई बात विशेष अच्छी मालूम होती है तो उस की प्रशंसा करने और अपनाने में नहीं हिच-कता है।

सत्यसमाज को आज युगधर्म (हूलोभन्तो) कहा जासकता है। युगधर्म को युवाधर्म (यंग-भन्तो) भी कहा जासकता है।

३-किसी पुराने धर्म का कोई बिलकुल कायाकल्प करदे, आज के युग के अनुकूल बनादे, आधुनिक विज्ञान के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित करदे, खराबियाँ हटा दे त्रुटियाँ पूरी करदे, एक तरह से युगधर्म बनादे, पर नाम पुराना रहने दे, पारिभाषिक शब्द और व्यक्ति पुराने रहने दे, तो धर्मसमभावी धर्म के इस रूप को पुराने रूप की अपेक्षा अधिक मान्यता देगा।

इसे कायाकल्पतीर्थ (फूलिज भन्तो) कहना चाहिये। सत्यसमाज की स्थापना के पहिले जैन-धर्म मीमांसा लिखकर जैनधर्म का ऐसा ही काया-कल्प किया गया था।

यह युगधर्म की बराबरी नहीं कर सकता फिर भी काफी अंशों में उसका काम देसकता है।

४-कई ऐसे सम्प्रदाय चल पडते हैं जो जीवन की एक दो समस्याओं पर कुछ ठीक प्रकाश डालते हैं, कुछ संशोधन भी करते हैं, उनके प्रवर्तकों में स्वतन्त्र विचारकता होती है, फिर भी वे युग के अनुरूप जीवन की अधिकांश मुख्य मुख्य समस्याओं को नहीं सुलझा पाते। एक तरह से वे अंश धर्म (अंश भन्तो) कहने लायक होते हैं। धर्मसमभावी उनकी प्रशंसा करता है पर अनुयायी नहीं बनता क्योंकि वे पूर्ण नहीं हैं।

५-किसी एक धर्म के भीतर जो किसी एकाध बात को लेकर कुछ सुधार किया जाता है और उस सुधार का भी एक सम्प्रदाय बनजाता है, समभावी उसकी प्रशंसा करता है पर उसे अलग तीर्थ नहीं मानता इसलिये उसकी प्रशंसा एक धर्म की प्रशंसा नहीं होती। मूलधर्म जिस जिस श्रेणी का होता है करीब करीब उसी श्रेणी में उसकी यह नई शाखा मानी जाती है। अधि-कतर इस प्रकार के सुधारकों का यह दावा रहता है और कोशिश रहती है कि मूलधर्म के ऊपर चढ़े हुए विकारों को वे दूर करते हैं, उसकी सफाई करते हैं उसकी धूल झाड़ते हैं। इसप्रकार के सुधा-रकों का भी एक सम्प्रदाय मूलधर्म की शाखा रूप में बनजाता है। जैसे ईसाइयों का प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय। फटे कपड़े में थेगरा लगाने के समान इनका कुछ उपयोग तो है फिर भी इससे युगधर्म का निर्माण नहीं होता। इसे धर्म को धोने वाला सम्प्रदाय (भन्तोधोव फकरो) कहना चाहिये।

६-एक स्वतन्त्र विचारक व्यक्ति अपने स्वतन्त्र विचारों से युग की मुख्य मुख्य समस्याओं को सुलझाने की कोशिश करता है, जनहित की भावना भी रखता है, पर मुख्य समस्याओं को सुलझाने की राह नहीं बता पाता बल्कि उलझा देता है। उसके विचारों पर खड़े सम्प्रदाय को भ्रम सम्प्रदाय (मूह फकरो) कहते हैं। धर्म-समभावी उसे मानने से इनकार कर देता है। फिर भी एकाध बात जो उसमें अच्छी मालूम होती है उसकी प्रशंसा करता है, प्रवर्तक व्यक्ति की भावना की भी उचित कद्र करता है।

७-जब मानवता के विकास का प्रारम्भ ही हुआ था, धर्मतीर्थ खण्ड-खण्ड शक्ल धारण कर

रहे थे, उस आदिम युग के अविकसित तीर्थों को भ्रूणोपम तीर्थ कहते हैं। इनमें न्यूनाधिक रूप से नीचे लिखीं त्रुटियाँ पाई जाती हैं।

क–अज्ञानभय की प्रमुखता रहती है। प्रकृति के भयंकर रूपों की तथा भयंकर प्राणियों की पूजा की जाती है।

ख–प्राकृतिक शक्तियों को आलंकारिक रूप में नहीं वास्तविक रूप में (लक्षणा रूप में नहीं, अभिधा रूप में) देव मानलिया जाता है।

ग–कर्तव्य करने की अपेक्षा, बलिदान निरर्थक कष्टसहन और दीनता दिखाने आदि से देवताओं को खुश करने की वृत्ति तीव्र रहती है। और इसे धर्म मानलिया जाता है।

घ–मन्त्र-तन्त्र जादू-टोना आदि धर्म के मुख्य रूप रहते हैं। अवैज्ञानिक चमत्कारों पर काफी विश्वास किया जाता है।

ङ–मानवता की भावना नहीं रहती। नीति के कुछ तत्व अगर माने भी जाते हैं तो वे सिर्फ अपने गिरोह के भीतर ही। दूसरे गिरोह के लोगों के प्रति अत्याचार करना बुरा नहीं समझा जाता।

ये सब चिन्ह धर्मतीर्थ के अतिप्रारम्भिक रूप हैं बल्कि यों कहना चाहिये कि वास्तविक धर्मतीर्थ के उत्पन्न होने के पहिले के रूप हैं। गर्भावस्था में शिशु की जो हालत होती है धर्मसंस्था की गर्भावस्था का रूप भी ऐसा ही होता है। इसलिये ऐसे अतिप्राचीन धर्मतीर्थों को भ्रूणोपम तीर्थ (गर्भेतूर भन्तो) कहना चाहिये।

धर्मसमभावी न इनकी निन्दा करता है न इन्हें स्वीकार करता है। मानव विकास की स्वाभाविक अवस्था समझकर उन्हें क्षन्तव्य मानता है।

हां। भ्रूणोपम तीर्थों की बातों को कोई आज चलाना चाहे तो वह विरोध करेगा।

८–कुछ सम्प्रदाय अहंकार से खड़े कर लिये जाते हैं। लोक-कल्याण की भावना उनमें मुख्य नहीं होती, सिर्फ यही देखा जाता है कि शीघ्र प्रतिष्ठा कैसे मिलेगी। इनमें लोकरंजन की या कुछ लोगों की स्वार्थपरता को सुरक्षित रखने की मुख्यता रहती है। ऐसे सम्प्रदाय धर्मतीर्थ नहीं कहे जासकते। धर्मसमभावी उन्हें आदर देना उचित नहीं समझता। अधिक से अधिक उपेक्षा करता है। जब कभी लोकहित की दृष्टि से विरोध करने की आवश्यकता होती है तब विरोध भी करता है। इन्हें अहंकारज (मठोज) सम्प्रदाय कहते हैं।

९–कुछ ऐसे भी सम्प्रदाय होते हैं जिनका भी प्रारम्भ लोक-कल्याण की भावना से नहीं, किन्तु अहंकार कृतघ्नता आदि से होता है। अमुक संस्था में मुझे अमुक पद नहीं मिला, या मुझे अमुक सहूलियत नहीं दीगई या मेरे साथ ठीक व्यवहार नहीं किया गया, इसलिये उस संस्था की सामग्री लेकर अलग सम्प्रदाय बनालेना, नाम मात्र के मतभेद की छाप लगालेना, इसप्रकार अहंकार चोरी और कृतघ्नता से जो सम्प्रदाय पैदा होते हैं वे निन्दनीय हैं। धर्मसमभावी ऐसे सम्प्रदायों को धर्म-तीर्थ नहीं मानता। म. महावीर के शिष्य जमालि ने ऐसा ही सम्प्रदाय खड़ा किया था। इनमें चोरी की मुख्यता रहती है इसलिये इन्हें चौरज (चुरोज) सम्प्रदाय कहना चाहिये।

१०–कुछ सम्प्रदाय धर्म के नाम की दूकानदारी ही होते हैं इनमें जीविका की मुख्यता रहती है। प्रतिष्ठा आदि का लोभ भी रहता है। इनमें दुनिया को लुभाना ठगना अन्धविश्वास बढ़ाना, इसके लिये षड्यन्त्र करना आदि खराबियाँ रहती हैं। इनका दारमदार ठगी धोखेबाजी पर रहता है। इन्हें ठगी संप्रदाय (चीटोज) कहलाना चाहिये। धर्म समभावी इनका विरोध करता है निन्दा करता है।

संप्रदाय के इन भेदों से और उनके विषय में धर्म समभावी के व्यवहार से पता लगता है कि धर्म समभाव का वास्तविक रूप क्या है।

प्रश्न—हिन्दू धर्म को आपने भूत तीर्थों में गिन लिया है परन्तु इसकी अति प्राचीनता देखकर और उसके भीतर घुसे हुए अन्धविश्वास आदि देखकर यह भ्रूणोपम तीर्थ मालूम होता है। धर्म समभावी इसका आदर कैसे कर सकता है या इससे प्रेरणा कैसे लेसकता है?

उत्तर—हिन्दू धर्म की परंपरा बहुत पुरानी है, यह एक संग्रह तीर्थ है। इसमें भ्रूणोपम तीर्थ की बातें भी शामिल हैं फिर भी इसे भ्रूणोपम तीर्थ नहीं कह सकते। क्योंकि यह युग के अनुरूप विकास करता गया है। कुछ बातों पर ध्यान देने से ही यह बात समझ में आजाती है।

१—अहिंसा सत्य आदि संयम के ऊंचे से ऊंचे प्रकार इसमें शामिल होगये हैं।

२—इसके सर्वभूतहित के सिद्धांत ने इसकी संकुचितता को दूर कर दिया है।

३—इसके सहयोगी दर्शन-शास्त्र इतने विकसित हैं कि उस जमाने में ही नहीं, किन्तु अभी कल तक इससे अच्छा दर्शन शास्त्र दूसरा नहीं दे सका। सांख्य-दर्शन का प्रकृतिवाद, वेदान्त का अद्वैत, वैशेषिक का भौतिक विज्ञान न्याय दर्शन का तर्क आदि सूक्ष्म विचार भ्रूणोपम तीर्थों में संभव नहीं हैं।

४—आत्मा कर्म-फल आदिकी व्यवस्था भी भ्रूणोपम तीर्थों से काफी उच्च है, और किसी भी तीर्थ से कम नहीं है।

५—इसका कर्मयोग, बहुत ऊंचे दर्जे की चीज है। बहुतसे भूत तीर्थों में इसके जोड़ की चीज नहीं मिलती।

६—इसकी समन्वय नीति भी काफी ऊंचे दर्जे की है।

इस प्रकार बहुत-सी खूबियाँ बताई जा-सकती हैं जो भ्रूणोपम तीर्थों में नहीं पाई जा-सकतीं। हां, यह बात अवश्य है कि इस धर्म-तीर्थ में मूलक्रान्ति नहीं हुई, सुधारों की परंपरा से ही इसका विकास हुआ इसलिये पुराना कचरा भी नीचे स्तरों पर पड़ा हुआ है। इस प्रकार यह ऐसी पुरानी विशाल दूकान के समान बनगया है जहां पुराने से पुराने सड़े-गले माल के साथ, नये से नये अच्छे माल का भंडार भरा पड़ा है, पर इसीलिये इसे कचरे की दूकान या सड़ेमालकी दूकान नहीं कह सकते। जब इसमें ऊंचे से ऊंचा और अच्छे से अच्छा माल काफी मिलसकता है तब अच्छी दूकानों में ही इसकी गिनती की जायगी।

यों तो भ्रूणोपम तीर्थ के कुछ दोष जैन बौद्ध आदि विकसित धर्मों में भी पाये जाते हैं, मंत्र तंत्र और ऋद्धियों ने वहां भी जगह घेर रक्खी है पर उनकी अन्य बातों को देखकर जैसे इन दोषों पर उपेक्षा करके उन्हें विकसित तीर्थ मानते हैं उसी तरह हिन्दूधर्म को भी मानना चाहिये।

धर्म की विकसितता अविकसितता का निर्णय करने में यद्यपि यह भी देखना पड़ता है कि उसका दार्शनिक या वैज्ञानिक आधार किस श्रेणी का है, परन्तु इसके निर्णय की इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उसका जीवन-सन्देश क्या है, उसमें सदाचार सहयोग विश्वास प्रेम आदि पर कितना जोर है और उसका क्षेत्र व्यावहारिकता को सम्हालकर कितना व्यापक है। इस दृष्टि से विकसित होनेपर अगर अन्य दृष्टियों से अविकसित हुआ तो उसे विकसित कहा जायगा। एक ऐसा धर्म, जिसमें मानवमात्र के हित का विचार नहीं है अपने राष्ट्र या गिरोह के ही हित का विचार है, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से काफी समुन्नत है, वह उतना विकसित नहीं है जितना मनुष्यमात्र के कल्याण का विचार करने वाला किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ कम समुन्नत धर्म विकसित है। इस दृष्टि से हिन्दू धर्म काफी विकसित कहा जासकता है।

प्रश्न—हिन्दू धर्म की विशेषताओंमें आपने उसका समन्वय भी बताया है पर हिन्दू धर्म समन्वय धर्म नहीं कहा जासकता। यह तो उसकी

कमजोरी है जो उसने दुनियाभर का कूड़ा-कचरा भी इकट्ठा कर लिया।

उत्तर—तब तो प्रत्येक समझौते के प्रयत्न को, शान्ति के प्रयत्न को, सहिष्णुता को कमजोरी कहाजायगा, और असहिष्णुता आदि को बहादुरी समझा जायगा। जिन दिनों यूरुप प्रोटेस्टेन्ट और रोमन कैथोलिक के नामपर खून बहा-रहा था और एक दूसरे को मिटा रहा था उन दिनों वह बलवान था, और आज इस बात को लेकर सहिष्णुता से काम लेनेवाला यूरुप कमजोर है क्या यह कहना ठीक है? दो प्रजाएँ आपस में लड़ती रहें तो बहादुर, और सहिष्णुता या समभाव से काम लेकर इनसानियत का परिचय दें तो कमजोर, यह मानव विकास का या जगत्कल्याण का क्रम नहीं है। आदिम युग में एक दल शत्रुदल को जीतकर खाजाता था, पीछे उसमें समझदारी आगई और वह उनको वश में करके काम लेने लगा, फिर उसमें सामाजिकता बढ़ी, इस आदान प्रदान में एक दूसरे का कूड़ा-कचरा भी थोड़ी-बहुत मात्रा से आया, पर इसीलिये विजित शत्रु जीतकर खाजाने की अपेक्षा यह कमजोरी का रास्ता था यह नहीं कहा जासकता। अगर इसे कमजोरी ही कहाजाय तो इसकी तारीफ ही करना पड़ेगी। हिन्दूधर्म की यह कमजोरी है तो भी यह प्रशंसनीय है।

बात यह है कि हिन्दू धर्म की नींव डालनेवालों ने यह समझलिया था कि ऐसी पाठशाला बनाना व्यर्थ है जिसमें सब को एक ही कक्षा में पढ़ाया जाय। धीरे धीरे ही उन्हें उच्च कक्षा मे पहुँचाया जासकता है। इसप्रकार एक तरफ हिन्दूधर्मने ऊँचे ऊँचे सिद्धान्तों का कार्यक्रम रक्खा दूसरी तरफ पिछड़े हुए लोगों के साथ धार्मिक बलात्कार नहीं किया। ज्ञान प्रचार पर भरोसा किया। कक्षाएँ अलग अलग रहीं पर पाठशाला एक बनी। यह समन्वय एक दिन में किसी एक आदमी के जरिये नहीं हुआ किन्तु कई हजार वर्ष में अनेक व्यक्तियों ने मिलकर किया। यह कमजोरी नहीं, उदारता और भाईचारे का परिणाम था। इसे चतुरता भी कह सकते हैं।

प्रश्न—हिन्दू लोग भी अपने किसी एक संप्रदाय को ही मानते हैं, सब हिन्दुओं के अलग अलग संप्रदाय हैं। सब को हिन्दू कह देने से सब का समन्वय नहीं होजाता है। मनुष्यों में फैले हुए भिन्न भिन्न धर्मों को एक मानवधर्म कह देने से क्या यह कहा जासकता है कि सब मनुष्यों का समन्वयात्मक एक मानवधर्म है। यदि नहीं, तो हिन्दू धर्म को भी समन्वयात्मक एक धर्म कैसे कहा जासकता है? वह तो बहुत से संप्रदायों का एक सामान्य नामकरण मात्र है।

उत्तर—हिन्दू धर्म में शैव वैष्णव आदि जितने सम्प्रदायों का समावेश किया जाता है उनके विषय में साधारण हिन्दुओं का क्या रुख है इसीसे इस बात का पता लगसकता है कि वे संप्रदाय व्यक्ति में समन्वित भी हुए हैं या मुसलमान ईसाइयों की तरह अलग अलग रहकर ही किसी एक नामकरण के अन्तर्गत किये गये हैं।

यद्यपि हिन्दुओं मे संप्रदाय अभी भी बने हुए हैं पर साधारण हिन्दू राम नवमी कृष्णाष्टमी शिवरात्री गणेश चतुर्थी नवदुर्गा आदि त्यौहारों को अपना त्यौहार समझता है और भाग लेता है। और समयसमय पर इनके मन्दिरों में भी जाता है जब कि मुसलमान न चर्च में जाकर ईसा जयन्ती मनाते हैं न ईसाई मसजिद में जाकर मुहंमद जयन्ती मनाते हैं। एक तरफ हिंदू शिवजी को जल चढ़ाता है दूसरी तरफ विष्णुजी को भोग लगाता है। यह बात हजार में एकाध हिन्दू को छोड़कर बाकी नव सौ निन्यानवे हिंदुओं के बारे में कही जासकती है। इस तरह के हिंदू शास्त्र भी बनगये हैं जिनमें कहा गया कि शिव-भक्ति के बिना विष्णुभक्ति सफल नहीं होती विष्णुभक्ति के बिना शिवभक्ति सफल नहीं होती। इसप्रकार शास्त्र में और व्यवहार में यह समन्वय सिद्ध किया गया। इतना ही नहीं दार्शनिक ढंग से भी यह समन्वय सिद्ध किया गया ब्रह्मा विष्णु महेश एक ही परमात्मा के जुदे-जुदे कामों के अनुसार जुदे-जुदे नाम हैं यह बात भी कही

गई। इस तरह यह समन्वय सर्वांगपूर्ण बनाया गया। सिर्फ सम्मिलित नामकरण ही नहीं रहा।

प्रश्न—भूतधर्म, युगधर्म आदि भेदो से पता लगता है कि आप कालक्रम से धर्मों का विकास मानते हैं पर ऐसी बात नहीं मालूम होती। जैन-धर्म बौद्धधर्म काफी पुराने होनेपर भी काफी विकसित कहे जासकते हैं जब कि इसके पीछे के अनेक धर्म कम विकसित हैं।

उत्तर—समुद्र तट से हिमालय की तरफ बढ़ने में हमे ऊंचे ऊंचे जाना पड़ेगा पर चढ़ाई का क्रम एक सा न होगा। बीच बीच में उतार भी आयगा। हर रास्ते का उतार चढाव का क्रम भी एक-सा न होगा। इसी तरह मानव के धार्मिक विकास में भी उतार चढ़ाव आते है। हर देश की परिस्थिति के अनुसार विकास के क्रम में भी अन्तर है। कहीं दोहजार वर्ष पहिले जितना विकास होगया दूसरी जगह एक हजार वर्ष पहिले भी उतना विकास नहीं था। पर सामूहिक रूप मे मनुष्य का विकास होता जारहा है और धर्मसंस्था का भी विकास होरहा है इसमें कोई सन्देह नहीं।

प्रश्न—आज तक मनुष्य ने धर्मसंस्थाओं का काफी उपयोग किया है क्योंकि उससमय विज्ञान प्रगति पर नहीं था पर अब वैज्ञानिक युग आगया है अब धर्मसंस्थाओं को मिटना पड़ेगा, नई धार्मिक संस्थाएँ तो पैदा हो ही नहीं सकती, क्योंकि धर्म विज्ञान के साथ मेल नहीं बैठा सकता। लोग धर्म और विज्ञान को मिलाने की कोशिश करते हैं जरूर, पर यह असम्भव है। धर्मसंस्था अवास्तव कल्पना पर खडी होती है, गरीबी पिछडी हुई उत्पादन पद्धति आदि पर टिकती है, आज यह सामग्री नहीं मिलसकती। कुछ दिनों तक पुराने धर्म मृत्युशय्यापर पड़े पडे सिसकेंगे फिर बिना नया धर्म पैदा किये मर जायँगे। इसलिये मानव विकास के साथ धर्म संस्था के विकास का नियम बनाना ठीक नहीं।

उत्तर—मनुष्य के उस आचार-विचार को धर्म कहते हैं जिसके द्वारा मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण होता है सुख बढ़ता है एक व्यवस्था पैदा होती है। उस धर्म को पैदा करने या टिकाये रखने के लिये जो एक व्यव-स्थित मनोवैज्ञानिक प्रयत्न किया जाता है उसे धर्मसंस्था कहते हैं। इसके लिये बहुत-सी धर्म-संस्थाओं ने ईश्वर परलोक आत्मा आदि का सहारा लिया है पर ये धर्मसंस्था के अनिवार्य अंग नहीं हैं, इनके बिना भी धर्मसंस्था खडी होसकती है हुई है। प्रारम्भ में बौद्धधर्म संस्था इसके बिना ही खडी हुई थी। धर्मसंस्था की जो एकमात्र विशेषता है वह है किसी आचार-विचार के लिये मन मे निष्ठा पैदा करना, संस्कार के जरिये अमुक आचार-विचार को मन मे स्थिर करना। यह भी उसकी एक विशेषता कही जा-सकती है कि उसमे कल्पित या अकल्पित अमुक व्यक्ति या व्यक्तियों के प्रति एक तरह का विशेष विनय रहता है। धर्म और धर्मसंस्था का इस प्रकार ठीक रूप समझने के बाद इस प्रश्न के उत्तर में निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिये।

१—वास्तव मे एक समय ऐसा आसकता है जब मनुष्यमात्र इतना विवेकी होजायगा कि उसे किसी धर्मसंस्था (धर्मतीर्थ) की जरूरत न होगी और वह धर्मात्मा बनजायगा। पर वह समय अनिश्चित भविष्य का है। और अच्छी तरह इसकेलिये प्रयत्न किया जाय तो भी सौ वर्ष तक वह समय नहीं आसकता। अभी हमें उस समय की आशा ही रखना चाहिये। उसके अनु-कूल मनुष्य की मनोवृत्ति तथा सामाजिक राज-नैतिक आर्थिक परिस्थिति का निर्माण करना चाहिये। इनके बिना धर्मसंस्थाओं को उखाड फेंकने की बात बेकार है, और अत्यन्त हानिकर है। मनुष्य धर्मसंस्था की जरूरत अनुभव करे और उसे धर्मसंस्था न दीजाय तो इसका अर्थ होगा किसी अविकसित और गन्दी धर्मसंस्था को अपना लेना। अगर किसी को प्यास लगी

हो और उसे साफ पानी न दिया जाय या वर्षा होनेपर आसमान से बरसते हुए साफ पानी पीने का आग्रह किया जाय तो तब तक मनुष्य प्यासा न बैठा रहेगा वह गटर का भी गन्दा पानी पी लेगा। इसलिये उचित यह है कि जब तक वर्षा नहीं होती और आदमी प्यासा है तब तक परिस्थिति के अनुसार जितना स्वच्छ पानी दिया जासके दिया जाय।

२-यह कहना कि 'धर्म विज्ञान के साथ मेल नहीं बैठा सकता' बिलकुल गलत है। जगत में जो नई नई धर्मसंस्थाएँ पैदा होती हैं उनके दो मुख्य काम होते हैं १-परिस्थिति के अनुसार नये आचार-विचार देना, २-विज्ञान के साथ मेल बैठाना। अपने युग के विज्ञान के साथ मेल बैठाये बिना कोई धर्मसंस्था टिक नहीं सकती। धर्म और विज्ञान का मेल टूटता है तब जब धर्मसंस्था पुरानी और युगबाह्य होकर अपना पुनर्जन्म या कायाकल्प नहीं करती, और विज्ञान अपना कायाकल्प कर जाता है। इसलिये नई धर्मसंस्था की जरूरत होती है।

३-विज्ञान और धर्म परस्पर पूरक हैं। विज्ञान का काम कमाने का है धर्म का काम व्यवस्था करने का। कमाया न जाय तो व्यवस्था का आधार टूट जाय, और व्यवस्था न की जाय तो कमाना मिट्टी में मिलजाय। यद्यपि राज्यसंस्था भी व्यवस्था का काम करती है, पर राज्य संस्था का मुख्य आधार शक्ति है और धर्मसंस्था का मुख्य आधार संस्कार है। संस्कार ठीक न हो तो शक्ति का काफी दुरुपयोग होता है। राज्यसंस्था का कार्यक्षेत्र बाहर है और धर्मसंस्था का भीतर। तुम नम्र बनो, कृतज्ञ रहो, शान्त रहो दयालु बनो, परोपकार करो आदि कार्य कानून से नहीं कराये जासकते, धर्म से कराये जासकते हैं। यद्यपि वह समय आयगा या आसकता है जब धर्म और राज्य मिलकर एक होजायँगे परन्तु जब तक वह समय नहीं आया है तब तक व्यवस्था के कार्य में धर्म की आवश्यकता है, इस प्रकार विज्ञान और धर्म परस्पर पूरक रहेंगे।

४-यह कहना ठीक नहीं कि वैज्ञानिक युग आजाने से धर्मसंस्था की जरूरत नहीं है। धर्मसंस्था को विकसित करने में विज्ञान का हाथ है पर उसे रखना न रखना विज्ञान के वश के बाहर है। विज्ञान की दृष्टि से पिछड़े हुए जगत में भी धर्मसंस्था न हो यह सम्भव है। और विज्ञान की दृष्टि से बढ़े हुए जगत में भी धर्म की आवश्यकता होसकती है। जैसे गणित रसायन आदि के शिक्षण बढ़जाने पर भी काव्य की आवश्यकता मिट नहीं जाती उसी प्रकार विज्ञान के प्रसार से भी धर्म की आवश्यकता मिट नहीं सकती। हां! काव्य की शैली बदलने और विकसित होने के समान धर्म की भी शैली बदलती और विकसित होती है। इसलिये विज्ञान के आनेपर धर्म विकसित होगा, मिटेगा नहीं।

५-यह कहना भी ठीक नहीं कि 'नई धार्मिक संस्थाएँ पैदा नहीं होसकतीं और धार्मिक संस्थाएँ पैदा होने का समय चलागया।' जब धर्मतीर्थों की आवश्यकता लोगों को महसूस हो रही है तब यह कैसे होसकता है कि कोई युगानुरूप धर्मसंस्था पैदा न हो। बाजार में किसी माल की बिक्री होरही हो, तब यह नहीं कहा जासकता कि बाजार में पुराना माल ही बिकेगा नया न आयगा या न बनेगा। जिस माल की आवश्यकता का अनुभव लोग कर रहे हों और उसे ले भी रहे हों वह अच्छे से अच्छा बनसकता होगा तो जरूर बनेगा। इसी प्रकार जब तक धर्मसंस्था को लोग अपनाये हुए हैं तब तक धर्मतीर्थ नये-नये और विकसित बनते रहेंगे। ब्राह्मसमाज आर्य समाज सरीखी धर्मसंस्थाएँ भी जब खड़ी होसकीं तब इनसे भी अधिक वैज्ञानिक धर्मसंस्थाएँ क्यों न खड़ी होंगी? जब तक धर्मसंस्थाओं की आवश्यकता बिलकुल नष्ट नहीं होजाती और जब तक ऐसी कोई धर्मसंस्था पैदा नहीं होजाती जो उस जगत को पैग करदे जिसमें धर्मतीर्थों की जरूरत न होगी, तब तक युगानुरूप धर्मसंस्था पैदा होगी और पैदा होना चाहिये।

६-'धर्म अवास्तव कल्पना पर खड़े होते हैं, इसलिये अब न रहेंगे। यह बात करीब करीब ऐसी ही है कि काव्य अवास्तव कल्पना पर खड़े होते हैं इसलिये काव्य न रहेंगे। धर्म तो इतनी अवास्तव कल्पनाओं को लेते नहीं है जितनी अवास्तव कल्पनाओं को काव्य लेते हैं, तब जब काव्य नहीं मिटते तब धर्म कैसे मिट जायँगे। हाँ! इतना ही होसकता है कि पुराने जमाने में जिसप्रकार काव्यों में अतिशयोक्तियों की गुंजाइश थी वैसी आज नहीं है उसी प्रकार पुराने जमाने में धर्मों में जिसप्रकार अन्धविश्वास को गुंजाइश थी वैसी आज नहीं है। आज के विकसित विज्ञान के अविरुद्ध रहकर ही धार्मिक कल्पनाएं अपना काम करेंगी।

प्रश्न—धर्म, सम्प्रदाय तीर्थ आदि किसी भी श्रेणी के हों उनके नामपर जगत में जो अत्याचार हुए हैं शायद ही किसी दूसरी चीज के नामपर हुए हों इसलिये धर्म से घृणा पैदा होजाय यह स्वाभाविक है। क्रान्ति के चक्र में जब दुनिया भर के पाप पिसेंगे तब इन धर्मतीर्थ नाम के पापों को भी पिसना चाहिये।

उत्तर—आज जो क्रान्ति कहलाती है कल वही धर्म सम्प्रदाय आदि कहला सकती है या धर्म सम्प्रदाय के गुणदोषों से पूर्ण होसकती है। आज जो धर्म कहलाते हैं वे भी एक जमाने की सफल क्रान्ति हैं। जैसे आज की क्रान्ति पाप नहीं है उसी प्रकार एक समय की क्रान्ति, ये धर्म पाप नहीं कहे जासकते। रही दुरुपयोग की बात, सो दुरुपयोग किसका नहीं हुआ है? कलम से लिखने की बजाय कोई कोंचे मारा करे तो इसमें कलम बेचारी क्या करे? अतिभोजन या विकृत भोजन से कोई बीमार होजाय या मरजाय तो भोजन घृणास्पद नहीं हो सकता सिर्फ उसकी 'अति' घृणास्पद हो सकती है। सच पूछो तो धर्म के लिये लड़ाई नहीं होती धर्म के नामपर होती है। धर्म का नाम अपनी पाप-वासनाओं के लिये ओट बना लिया जाता है।

प्रश्न—पाप के लिये जो ओट का काम दे वह क्यों न नष्ट कर दिया जाय?

उत्तर—मकान अगर चोरों के लिये ओट का काम दे तो मकान गिराया नहीं जाता चोर ही ढूंढा जाता है। अगर कभी गिराने की आवश्यकता ही पड़ जाय तो फिर बनाना पड़ता है। आवश्यकतानुसार पुनर्निर्माण करना उचित है पर सर्वथा ध्वंस नहीं। सच पूछा जाय तो अभी युगों तक धर्म का ध्वंस हो नहीं सकता। ध्वंस ध्वंस चिल्लाकर हम सिर्फ हानिकर क्षोभ पैदा करते हैं। हम धर्म के विषय में कितनी ही नास्तिकता का परिचय दें अगर हमारी नास्तिकता सबल है तो उसी के नामपर विराट् आस्तिकता पैदा हो जायगी। यहां तक कि अनीश्वरवाद भी प्रचार की दृष्टि से सफल होनेपर ईश्वरवाद बनजाता है। महावीर और बुद्ध ने ईश्वरवाद के विषय में नास्तिकता का जो सफल प्रचार किया उसका फल यह हुआ कि उनके सम्प्रदायों में महावीर, बुद्ध, ईश्वर के आसन पर बिठला दिये गये। जिन देशों में धर्म की नास्तिकता सफल हुई है उन देशों में वे नास्तिकता के तीर्थंकर आज देवता की तरह पुज रहे हैं। उनकी कब्रों पर हजारों आदमी प्रतिदिन सिर झुकाते हैं और उनके गीत गाते हैं। मनुष्य के पास जब तक हृदय है तब तक उसके पास ऐसी आस्तिकता अवश्य रहेगी। मन्दिर, मसजिद, चर्च, कब्र, शिला ध्वजा, चित्र, मूर्ति नदी, पहाड़, वृक्ष आदि प्रतीकों में परिवर्तन भले ही होता रहे पर इनमें से कोई न कोई किसी रूप में रहकर आस्तिकता को जगाये रहता है। आस्तिकता इतनी प्रचण्ड है कि वह नास्तिकता को भी अपना भोजन बना लेती है। जब तक हृदय है तब तक आस्तिकता है। हृदय को कोई नष्ट नहीं कर सकता। सिर्फ अमुक समय के लिये सुला सकता है। पर उसका जागरण हुए बिना नहीं रहता। इसलिये उसके नष्ट करने की चेष्टा व्यर्थ है। उसका दुरुपयोग न होने पावे सिर्फ इतनी ही चेष्टा करना चाहिये और उसके रूप को सुधा-

रते रहना चाहिये। मनुष्य का हृदय जब तक धर्मतीर्थ से शून्य नहीं होसकता तब तक उसे अच्छा तीर्थ देने का प्रयत्न करना चाहिये, नहीं तो वह खराब से खराब संप्रदाय को अपना लेगा। इसलिये कुपथ्य के समान दुरुपयोग ही रोकना चाहिये।

प्रश्न—दुरुपयोग हरएक चीज का होता है यह ठीक है, पर धर्म का दुरुपयोग अधिक से अधिक होता है। धन, बल, सौन्दर्य, आदि के अहंकार की अपेक्षा धर्म का अहंकार प्रबल होता है। झगड़े आदि भी धर्म के लिये बहुत होते हैं इन सब का असली कारण क्या है ?

उत्तर—धर्म तो जगत में शान्ति प्रेम, और आनन्द ही फैलाता रहा है। परन्तु मनुष्य एक जानवर है, बुद्धि अधिक होने से इसमें पाप करने की, पाप को छिपाये रखने या टिकाये रखने की शक्ति अधिक आगई है। अहंकार इसमें सब से अधिक है। महत्वानन्द के लिये यह सब कुछ छोड़ने को तैयार होजाता है। पर हरएक आदमी को यह आनन्द पर्याप्त मात्रा में नहीं मिल सकता जब कि लालसा तीव्र रहती है इसलिये मनुष्य अनुचित कल्पनाओं से इस लालसा को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है उसी का फल है धर्म-मद। धन, जन और बल आदि का मद न तो अक्षुण्ण है न स्थिर। आज धन है कल नहीं है, आज बल है कल बीमारी बुढ़ापा आदि में नहीं है इस प्रकार इनके मदों से मनुष्य को सन्तोष नहीं होता। तब वह धर्म और ईश्वर के नामपर मद करता है। हमारा धर्म सब से अच्छा, हमारा देव सब से अच्छा आदि। धर्म और देव बीमार नहीं होते, बुड्ढे नहीं होते और छिनते भी नहीं अर्थात् इनका नाम नहीं छिनता (अर्थ में तो ऐसे अहंकारियों के पास ये फटकते भी नहीं हैं फिर मिलेंगे क्या ?) इसलिये इनका अभिमान सदा बना रहता है और तुलना में न्यून भी नहीं होता। धन में तो लखपति का घमण्ड करोड़पति के आगे शून्य होजाता है, बल आदि में भी यही बात है। पर ईश्वर और धर्म में तो तुलना करने की जरूरत ही नहीं है अन्धश्रद्धा के अन्धेरे के कारण दूसरा दिखता ही नहीं फिर तुलना क्या ? तुलना तो सिर्फ कल्पना से की जाती है कि हम अच्छे सब खराब, क्योंकि हम हम हैं। इस प्रकार महत्वानन्द की अनुचित लालसा के कारण जो हमारे दिल में शैतान घुसा है वह ईश्वर और धर्म की ओट में ताण्डव कर रहा है। वास्तव में यह शैतान (पाप) का उपद्रव है धर्म या ईश्वर का नहीं।

प्रश्न—माना कि धार्मिक द्वन्द्वों में मुख्य अपराध शैतान का है पर धर्म भी उसमें सहायक है। धर्मों में तरतमता है यह आप मानते हैं तब जिसको अच्छा धर्म मिला है वह उसका गौरव क्यों न रक्खे ? क्या अच्छे को अच्छा समझना भी शैतानियत है ? यदि नहीं तो अच्छे बुरे का द्वन्द्व होगा ही। इस प्रकार यदि धर्म हैं तो उनमें तरतमता है और तरतमता है तो द्वन्द्व है, तब इसका क्या उपाय ?

उत्तर – दो उपाय हैं १-गौरव विवेक (पंजो अंको) २-तरतमता विवेक (जीपो अंको)

गौरव विवेक—मनुष्य इस बात का अभिमान करता है कि हमारा धर्म बड़ा अच्छा। पर अगर धर्म अच्छा होनेपर भी हम उसके द्वारा अच्छे नहीं बने, तो धर्म जितना अच्छा होगा हमारी उतनी ही अधिक हीनता साबित होगी। किसी आदमी में अगर ईमानदारी सेवकता परोपकार ज्ञान आदि हम से अधिक हो और हम कहें कि उसका धर्म खराब है और हमारा धर्म अच्छा है तो इसका अर्थ यह होगा कि वह आदमी हमसे अधिक लायक है कि खराब धर्म का सहारा लेकर भी उसने हमसे अच्छा जीवन बनाया और हम बड़े नालायक हैं कि अच्छा धर्म पाकर भी खराब धर्मवाले से अच्छा जीवन न बना पाये इसप्रकार गौरव-विवेक से पता लगेगा कि हमारा गौरव अपने धर्म के अच्छे या बुरे होने में नहीं है किन्तु अपने जीवन को अच्छा

या बुरा बनाने में है। हम अच्छे से अच्छे धर्म को चुनें, जिससे हमारा जीवन अच्छा बने, पर अपने गौरव के लिये दुनिया के सामने अपने धर्म के गीत न गायें, क्योंकि धर्म जितना अच्छा होगा हमारे गौरव को उतना ही धक्का लगेगा। अधिक पूँजी में कम कमाई करने वाले की अपेक्षा कम पूँजी में अधिक कमाई करनेवाले का गौरव अधिक है। इस प्रकार गौरव विवेक रक्खा जाय तो धार्मिक द्वन्द दूर होजायँ।

तरतमता विवेक—धर्मों की न्यूनाधिकता या अविकसितता का ठीक ठीक विचार करना तरतमता विवेक है। इसके पाजाने से धर्मों के द्वन्द्व शान्त होजाते हैं।

तरतमता का भाव दो तरह का होता है। एक तो वैकासिक दूसरा भ्रमजन्य। विकास तरतमता (लंतीम जीपो) का भाव बुरी बात नहीं है। मानव समाज-उठतावैठता-विकसित होता जारहा है, इसलिये मनुष्य की धार्मिक भावना भी विकसित होती जारही है। देशकाल का असर उसपर पड़ता है इसलिये विकास में कुछ अन्तर भी होता है। पर इससे द्वन्द्व नहीं होता, निन्दा अपमान आदि का भाव नहीं आता। प्राचीन काल का महात्मा या उसका सन्देश या सन्देश देने का रूप यदि आज के समान समुन्नत नहीं है तो भी तीन कारणों से हमें उसका सन्मान करना चाहिये। १. पारिस्थितिक महत्ता (लंजिज्जं वीगो) २ सार्वजनिक कृतज्ञता (पुमपेरं भक्तजेवो) ३ बन्धुपूज्यसमादर (मगपुजमीनो)

१-पारिस्थितिक महत्ता का मतलब यह है कि जो व्यक्ति या वस्तु अपने देशकाल में महान है उसकी महत्ता को स्वीकार करना आदर करना, भले ही आज की अपेक्षा वह महत्ता न मालूम हो। जो अपने जमाने में अपने जमाने के लोगों से आगे बढ़ सका वह आज के साधन पाकर आज के जमाने के लोगों से भी आगे बढ़ता, जो धर्म उस जमाने में उतना अच्छा बनसका वह आज के साधन पाकर आज की दृष्टि से भी महान बनता यह पारिस्थितिक महत्ता है। इस विचार से धर्मों के द्वन्द्व दूर होते हैं, घमण्ड घटता है और युगबाह्य वस्तु में अन्धश्रद्धा रखने की भी जरूरत नहीं होती।

२-सामूहिक कृतज्ञता का मतलब यह है कि हमारा जो आज विकास हुआ है उसके मूल में पूर्वजों की काफी पूंजी है इसलिये आज के युग को पिछले युग का कृतज्ञ होना चाहिये आज के महामानव को पहिले के महामानव का कृतज्ञ होना चाहिये। इस सामूहिक कृतज्ञता के कारण भी हमें पहिले महामानवों का आदर करना चाहिये।

३-बन्धु-पूज्य-समादर का मतलब उस व्यावहारिकता से है जो हम पड़ौसियों के गुरुजनों के विषय में रखते हैं। यदि हम किसी को मित्र कहते हैं तो हमारा कर्तव्य होजाता है कि उसके मातापिता का यथोचित आदर करें। जो हमारे बन्धु के लिये पूज्य है वह हमारे लिये काफी आदरणीय है। यही बन्धु-पूज्य-समादर है। धर्म के विषय में भी हमें इसी नीति से काम लेना चाहिये। मानलो हजरत मूसा का जीवन आज हमारे लिये आदर्श नहीं है पर वे यहूदियों के गुरुजन हैं इसलिये यहूदियों के साथ बन्धुता प्रदर्शन करने के लिये हमें हजरत मूसा का आदर करना चाहिये। यदि हम किसी यहूदी मित्र के बाप का गुणदोष.का विशेष विचार किये बिना आदर कर सकते हैं तो समस्त यहूदियों के लिये जो पिता के समान हैं उनका आदर क्यों नहीं कर सकते ?

प्रश्न—यदि बन्धुता के लिये दूसरों के देवों या गुरुओं का आदर करना कर्तव्य है तब तो बड़ी परेशानी हो जायगी। हमें उनका भी आदर करना पड़ेगा जिनको हम पाप समझते हैं। किसी शाक्त मनुष्य के साथ बन्धुता रखनी है तो बकरों का बलिदान लेनेवाली काली का आदर करना भी हमारा कर्तव्य हो जायगा। बहुत से चालाक

धूर्त लोग भोले लोगों को बहकाकर गुरु बन जाते हैं अगर उन भोले लोगों का आदर करना हो तो उन धूर्त गुरुओं का भी आदर करना चाहिये। इस प्रकार हमें देव-मूढ़ता गुरु-मूढ़ता आदि मूढ़ताओं का शिकार हो जाना पड़ेगा।

उत्तर—इस प्रकार के अपवाद धर्म मे ही नहीं साधारण लोक-व्यवहार में भी उपस्थित होते हैं। हम पड़ौसी के पिता को सन्मान की दृष्टि से देखते हैं इस साधारण नीति के रहते हुए भी यदि पड़ौसी का पिता बदमाश हो, क्रूर हो और अत्याचारी हो तो न्याय के संरक्षण के लिये हम उसका निरादर भी करते हैं पाप का आदर नहीं करते। धर्म के विषय में भी हमे इस नीति से काम लेना चाहिये। फिर भी इसमें निम्न-लिखित सूचनाओं का ध्यान रखना चाहिये।

१—गुणदेवों का तिरस्कार न करना चाहिये सिर्फ उनके दुरुपयोग दुरुपासना आदि का तिरस्कार करना चाहिये। जैसे काली, जगदम्बा आदि नामों से प्रसिद्ध शक्ति देवी को शक्ति नामक गुण की मूर्ति समझकर उसका सन्मान ही करना चाहिये। परन्तु शक्ति का जो विकराल रूप है पशु-बलि आदि जो उसकी उपासना का बुरा तरीका है उसका विरोध करना चाहिये। हाँ, विरोध में भी दूसरों को समझाने की भावना हो उनका तिरस्कार करने की नहीं। समभावी को गुणदेवों का सन्मान करते हुए देव मूढ़ता का कोई रूप न आने देना चाहिये।

२—वर्तमान की दृष्टि से व्यक्तिदेवों की तीन श्रेणियाँ हैं क—उपयोगी (उश) उपोपयोगी (फउश) ईषदुपयोगी (वेउश) जो आज के लिये पूर्ण उपयोगी है उन्हें उपयोगी कहना चाहिये, परन्तु जो अपने समय में पूर्ण उपयोगी थे किन्तु आज परिस्थिति बदल जाने से कुछ कम उपयोगी होगये हैं, जिनके सन्देश मे थोड़े बहुत परिवर्तन की आवश्यकता है वे उपोपयोगी हैं। जैसे राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध. ईसा मुहम्मद आदि। ऐसा भी होसकता है कि जो आज उपोपयोगी हैं वे परिस्थिति बदल जाने पर उपयोगी बनजायँ जो आज उपयोगी हैं वे कभी उपोपयोगी बन जाँय। मानव-समाज के विकास के कारण जो आज के लिये कम उपयोगी रहगये हैं वे ईषदुपयोगी हैं। जैसे हजरत मूसा आदि। इनमें से उपयोगी और उपोपयोगी तो पूर्णरूप से पूजनीय हैं अर्थात् इष्टदेव की तरह वन्दनीय हैं। ईषदुपयोगी वन्धु-पूज्य-समादर आदि की दृष्टि से आदरणीय हैं।

३—कुछ गुणदेव और व्यक्तिदेव अनुपयोगी भी होते हैं उन्हें कुदेव कहना चाहिये। भूत-पिशाच आदि कल्पित देव, देव रूप में माने गये सर्प आदि क्रूर जन्तु, शनैश्चर यम आदि भयंकर और क्रूर देव आदि अनुपयोगी देव हैं, इनकी पूजा न करना चाहिये।

शंका—महादेव या शिव की उपासना करना चाहिये या नहीं? वह तो संहारक देव होने से क्रूर देव है।

समाधान—भय से उपासना न करना चाहिये। शिव पाप संहारक हैं इसलिये क्रूर नहीं हैं इसलिये गुणदेवों में शिव की गिनती है। अथवा सत्य और अहिंसा में ही हम शिव-शिवा का दर्शन कर सकते हैं। जगत्कल्याण के अंग की दृष्टि से किसी की भी उपासना की जासकती है।

शंका—गोमाता कहना उचित है या अनुचित, गाय तो एक जानवर है।

समाधान—गाय के उपकार काफी हैं कृतज्ञता की दृष्टि से गोमाता कहा जाय तो कोई बुरा नहीं है। गो माता शब्द मे गो जाति के विषय में कृतज्ञता है जोकि उचित है। वास्तव में उसे कोई देवी नहीं मानता। नहीं तो लोग उसे बाँध कर क्यों रखते और मारते पीटते भी क्यों? जानवर के साथ जानवर सरीखा व्यवहार करके उस जाति के उपकारों के विषय में कृतज्ञता प्रकाशित करने के लिये शब्दस्तुति करना अनुचित नहीं है।

४—गुरु के विषय में शिष्टाचार का उतना पालन करना चाहिये जितना पड़ोसी के गुरु के

विषय में रखते हैं। विशेषता इतनी है कि वञ्चना के द्वारा भी गुरु बनजाने की सम्भावना है इसलिये गुरु-मूढ़ता से बचने के लिये कुछ परीक्षा भी करना चाहिये। गुरु जीवित व्यक्ति है इसलिये उसके विषय में अच्छी तरह कुछ कहा नहीं जासकता, न जाने कल उसका क्या रूप दिखलाई दे। इसलिये देव के विषय में आदरभाव की जितनी आवश्यकता है उतनी गुरु के विषय में नहीं। उसको तो परीक्षा करके ही मानना चाहिये। फिर भी स्वपर कल्याण की दृष्टि से जहाँ विरोध करना आवश्यक हो वहीं विरोध करना चाहिये। वह विरोध अहंकारवश परनिन्दाका रूप धारण न करले। धूर्त गुरुओं का विरोध करना तो जनसाधारण की सेवा है।

इन चार प्रकार की सूचनाओं पर ध्यान रक्खा जाय तो बन्धुपूज्यसमादर की नीति का ठीक तरह से पालन होसकता है।

इसप्रकार पारिस्थितिक महत्ता, सार्वजनिक कृतज्ञता और बन्धुपूज्यसमादर से वैकासिक तरतमता रहनेपर भी धर्मसमभाव के पालन में बाधा नहीं आती।

तरतमताका दूसरा भाव भ्रमजन्य (मूढ़ोज) है उसका त्याग करना चाहिये।

कुछ लोगों के मनमें धर्म-संस्थाओं के विषय में यह भ्रम है कि वे अमुक वर्ग के षड्यन्त्र का परिणाम हैं। जैसे कुछ लोग कहते हैं कि, धर्म इसलिये खड़े किये गये जिससे सामन्त और पूंजीपति लोग जनता को चूसते रहें और जनता परलोक की आशा में विद्रोह न करे पिसती रहे और चुप रहे।

पर यह बड़ा भारी भ्रम है। निःसन्देह धर्मसंस्थाओं का काफी दुरुपयोग सामन्तों ने पूंजीपतियों ने उच्च जाति कहलाने वालों ने तथा कुछ चालाक आदमियों ने किया है पर इस दुरुपयोग को धर्मसंस्थाओं का ध्येय बताना ऐसा ही है जैसे सड़कों का निर्माण चोरों के सुभीते के लिये बताना। निःसन्देह चोर सड़कों का उपयोग करलेते हैं पर सड़कें चोरों के लिये बनाई नहीं जातीं।

धर्मों ने अहिंसा का, ईमान का, शील का, त्याग का, दान का, अपरिग्रह का उपदेश दिया और इसी तरह के संस्कार डाले हैं। और इससे जनता ने काफी लाभ भी उठाया है पर इसके साथ किसी किसी पूंजीपति ने भी लाभ उठाया। सैकड़ों लोगों की चोरी रुकी तो दो-चार श्रीमानों की भी चोरी रुकी। इसलिये यह नहीं कहा जासकता कि चोरी रोकने का काम श्रीमानों के स्वार्थ के लिये किया गया था श्रीमान तो अपने बड़े साधनों के बलपर यों ही चोरी से सुरक्षित रह सकते थे। विशेष लाभ तो साधारण लोगों को हुआ।

परलोक फल के भय और आशा ने भी मनुष्य के हृदय में पाप से डरने की और परोपकारादि पुण्य करने की भावना पैदा की। यह भी धर्म-संस्था का काम था।

सामन्तवाद आदि इसके परिणाम नहीं हैं। अगर जनता सामन्तों को मिटा देती तो भी पुण्य-पाप का फल का सिद्धान्त लागू होता। कहा जासकता था कि अब सामन्तों का पुण्य क्षीण होगया इसलिये अब वे सामन्त नहीं रह सकते, पूंजीपति नहीं रह सकते। युद्धों में सैकड़ों सामन्त जवानी में मारे जाते थे या पराजित होकर वनवासी होजाते थे इसमें यदि कर्म सिद्धान्त बाधक नहीं होता था तो जनता क्रान्ति करके यदि सामन्तों को या श्रीमन्तों को मिटा देती तो इसमें कर्मसिद्धान्त—पुण्यपापफल सिद्धान्त क्या बाधा डालता? बौद्ध धर्म के पैदा होने के पहिले ही मगध में गणतन्त्र चालू होगये थे इसमें कर्मसिद्धान्तने या ईश्वरवाद ने कोई बाधा न डाली थी।

आज सारी दुनिया में समाजवाद (योग्यतानुसार कार्य और कार्य- अनुसार लेना) और साम्यवाद अर्थात कुटुम्बवाद (योग्यतानुसार कार्य और आवश्यकतानुसार लेना) भी चालू होजाय तो भी कर्मवाद उसमें बाधा न डालेगा। जब भूकम्प प्लेग आदि के द्वारा सामूहिक संहार

के समय कर्मवाद अपनी उपपत्ति बैठा लेता है तब समाजवाद साम्यवाद के सामूहिक विकास के समय भी बैठा लेता है और बैठालेगा। साधारणतः धर्मों ने धनवाद का निषेध नहीं किया है। हाँ! समाज के राजनैतिक आर्थिक ढाँचे के अनुसार अपना निर्माण किया है। उनका काम तो मनुष्य में ईमानदारी त्याग सेवा सहयोग आदि की भावना पैदा करना रहा है। जैसा भी राजनैतिक और आर्थिक ढाँचा रहा उसी में उनने यह काम किया।

आज राजनैतिक दृष्टि से मानव समाज का काफी विकास होगया है फिर भी अभी मनुष्य इतना विकसित नहीं होपाया है कि राज्य की जरूरत न रहे। वह इतना ही कर सका है कि सामन्ती शासन से प्रजातन्त्री शासन या समाजवादी शासन लेआया है। पर राज्यसंस्था के दुरुपयोग पर दृष्टि डाली जाय तो असंख्य हैं। राज्यसंस्था जब से पैदा हुई तब से जितने युद्ध इस पृथ्वीतल पर हुए, और उनमें जितने जन धन का नाश हुआ, शासकों द्वारा जनता पर जितने अत्याचार हुए, लूटखसोट और रिश्वतखोरी हुई, उतने संसार में और किसी संस्था के द्वारा नहीं हुए, इतने पर भी न हम आज राज्यसंस्था उठाने को तैयार हैं न यह कहना ही ठीक है कि राज्यसंस्था आदमियों को कत्ल करने लूटने रिश्वत खाने आदि के लिये पैदा हुई है। उसकी उत्पत्ति तो व्यवस्था और न्यायरक्षा के लिये हुई थी पर मनुष्यने सहस्राब्दियों तक इसका दुरुपयोग किया, आज भी कर रहा है फिर भी हम उसे मिटाने की नहीं सुधारने की कोशिश कर रहे हैं। उसकी उत्पत्ति को मनुष्य के लिये अभिशाप नहीं समझते हैं। इसीप्रकार धर्मसंस्था भी न्यायरक्षा व्यवस्था सहयोग ईमानदारी आदि के लिये हुई थी, उसका दुरुपयोग हुआ है फिर भी हम उसकी उत्पत्ति को अभिशाप नहीं समझते, उसे विकसित करने की ही कोशिश करते हैं।

चिकित्सा शास्त्रका भी काफी दुरुपयोग हुआ, फीस के लोभ से वैद्य डाक्टरों ने रोगियों को लूटा ठगा और मार भी डाला, आज भी दवाइयों के झूठे विज्ञापन लोगों का धन और प्राण तक हर रहे हैं पर इस दुरुपयोग को रोकने की ही जरूरत है। इससे यह नहीं कहा जासकता कि चिकित्सा शास्त्र लोगों को ठगने या लूटने के लिये बनाया गया था। भले ही चिकित्सा रक्खी जाय पर उसके नामपर ठगने वाले पैदा होजायँगे पर इसीलिये प्राकृतिक चिकित्सा की उत्पत्ति ठगों के लिये कीगई है यह न कहा जायगा।

दुरुपयोग तो शिक्षा संस्थाओं का भी हुआ है, होता है। साम्राज्यवादी शक्तियाँ अपने साम्राज्य यन्त्र के पुर्जे ढालने के लिये शिक्षा संस्थाओं का दुरुपयोग करती हैं, पहिले भी किया गया है, पर इसीलिये यह नहीं कहा जासकता कि शिक्षा संस्था की नींव इसलिये डाली गई थी कि लोगों की बुद्धि और हृदय गुलाम बनें।

मनुष्य ने मानवता के विकास के लिये सैकड़ों तरह की संस्थाएँ बनाई हैं उनसे जहाँ असीम लाभ हुआ वहाँ कुछ समय बाद उससे नुकसान भी काफी हुआ पर मनुष्य इससे घबराया नहीं, वह उन सब में सुधार करता गया, सुधार करता जारहा है। धर्मसंस्था के विषय में भी यही बात है। इसलिये धर्मसंस्था को गाली देने की, या उसका मजाक उड़ाने की जरूरत नहीं है। उनकी तुलना हो तो देशकाल के अनुसार मनुष्य के सह्यविकास को ध्यान में रखकर करना चाहिये।

धर्मसंस्था के विषय में बहुत से भ्रम हैं और अच्छे अच्छे बुद्धिवादियों में भी हैं। ये भ्रम निकल जायें तो धर्म संस्था की तरतमता का उन्हें ठीक भान होजाय और एक तरह का धर्म-समभाव पैदा होजाय। यहाँ इस विषय में ये सूत्र ध्यान में रखना चाहिये।

१ धर्म संस्थाएँ मानवता के विकास के लिये बनी थीं।

२–उनका ढांचा देशकाल परिस्थिति के अनुसार बना है।

३–अन्य संस्थाओं के समान उनका भी दुरुपयोग हुआ पर जैसे अन्य संस्थाएँ हम नहीं मिटाते उनका सुधार ही करते हैं या नई बनाते हैं उसी प्रकार धर्मसंस्था का भी सुधार करना चाहिये या नई बनाना चाहिये।

४–धर्मसंस्था की अभी आवश्यकता है। उसको मिटाने की कोशिश का अर्थ है उसका सुधार रोक देना, और लोगो को धर्म के अविकसित रूप में फसादेना।

५–धर्म की मीमांसा या तरतमता का विचार करते समय धर्मसंस्था के सहज विकास तथा परिस्थितियों के विषय में उपेक्षा या भ्रम न करना चाहिये।

कुछ लोग धर्मसंस्था का इसलिए विरोध करते हैं कि वह श्रद्धामूलक है, पर यह भी एक भ्रम है, इस कारण से धर्म की अवहेलना नहीं की जासकती। धर्म ही नहीं, संसार की प्रत्येक व्यवस्थित प्रवृत्ति के मूल में श्रद्धा रहती है। श्रद्धा न हो तो मनुष्य प्रवृत्ति ही न करे। हां, यह बात विचारणीय है कि श्रद्धा का आधार क्या हो? और वह विवेक के साथ कितना ताल्लुक रक्खे। धर्म में जो श्रद्धा होती है उसके लिए यह जरूरी नहीं है कि वह विवेक के विरुद्ध हो, बल्कि बहुत से धर्म तो इस बात पर काफी जोर देते हैं कि श्रद्धा को विवेक के आधार पर खड़ा होना चाहिये। हां, श्रद्धा की आवश्यकता सभी महसूस करते हैं सो यह बात केवल धर्म में ही नहीं है, हरएक कार्य में है। एक वैज्ञानिक भी अपने निश्चित सिद्धान्तों पर श्रद्धा रखता है, यही बात अन्य शास्त्रों के बारे में भी कही जासकती है, इसलिए इसे धर्मशास्त्र का दोष नहीं कह सकते।

हां! यह बात अवश्य है कि पुराने जमाने में धर्म के जिन बातों पर श्रद्धा करना आवश्यक था वे धर्म के विकास होनेपर आवश्यक नहीं रहीं। जब श्रद्धेय वस्तुएं उपयोगी नहीं रहतीं, उनसे जनकल्याण की सम्भावना नहीं रहती तब उनको बदलना पड़ता है। इसके लिये या तो धर्मों का कायाकल्प होता है या नये धर्म आजाते हैं। इसलिए धर्मों के कायाकल्प या पुनर्जन्म की बात तो कही जासकती है पर उनका बिलकुल अभाव नहीं किया जासकता। यह बात विज्ञानादि हरएक शास्त्र के विषय में लागू है। इसलिए अगर हम इन शास्त्रों को निर्मूल करना आवश्यक नहीं समझते तो धर्मशास्त्र को भी निर्मूल करने की बात न कहना चाहिये।

कुछ लोग धर्मसंस्थाओं पर इसलिए आक्रमण करते हैं कि उनमें किसी एक व्यक्ति की गुलामी करना पड़ती है। और बुद्धि का इस तरह गुलाम होजाना तो मनुष्यता की हानि करना है। इस विषय में भी लोग बड़े भ्रम में हैं। वे दिन रात के अनुभवों को भूल जाते हैं। क्या वे यह सोचते हैं कि संसार का प्रत्येक मनुष्य अपने जमाने की सब विद्या, कलाओं का सर्वज्ञ होगा, यदि नहीं तो उसे अपने विषय को छोड़कर बाकी हर विषय में किसी न किसी का विश्वास करना पड़ेगा। एक वैज्ञानिक अपने विषय में खूब परीक्षाप्रधानी हो सकता है। पर बीमार होनेपर उसे अपनी बुद्धि डाक्टर के हवाले कर देना पड़ती है। राजतन्त्र में भी यही बात होती हैं। जब राजाओं के हाथ में सत्ता थी तब की बात छोड़ दें, हम शुद्ध प्रजातन्त्र की बात लेते हैं जिसमें लाखों आदमी अपनी तरफ से एक प्रतिनिधि बनाकर विधानसभाओं में भेजदेते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि लाखों आदमियों ने अपनी बुद्धि एक आदमी के यहां गिरवी रखदीं। इस तरह संसार में सारी व्यवस्थाओं में विश्वास से काम लेना पड़ता है इसे अगर बुद्धि की गुलामी कहा जाय तो सारा संसार गुलाम है और उस गुलामी के बिना संसार का काम नहीं चल सकता, तब अकेले धर्मशास्त्र को कोसने से क्या होगा।

धर्मसंस्था तो राज्यसंस्था की अपेक्षा काफी उदार होती है। राज्य का कानून चाहे आपको समझ में आवे या न आवे आपको उसका पालन करना ही पड़ेगा और नहीं करेंगे तो दण्ड भोगना पड़ेगा। अगर इतनी कड़ाई न हो तो राज्यसंस्था बिलकुल निरुपयोगी होजाय पर धर्मसंस्था ऐसी किसी कड़ाई का उपयोग नहीं करती। वह समझाती है, संस्कार डालती है, और पालन करने के पहिले परीक्षा करने की छुट्टी देती है। इसमें बुद्धि की गुलामी कहां है? रही एक व्यक्ति की श्रद्धा की बात, सो उसमें भी कोई जबर्दस्ती नहीं की जाती। वह तो बारबार की सफलता देखकर अपने आप होती है।

जब हम किसी व्यक्ति को एक विषय में निष्णात देखते हैं और उसके द्वारा अनेक दिशाओं में सफल पथप्रदर्शन देखते हैं तब उस विषय में श्रद्धा हो ही जाती है। नास्तिकता की पद पदपर दुहाई देनेवाले और धर्म का विरोध करनेवाले साम्यवादी, साम्यवाद की चर्चा में पद-पदपर कार्लमार्क्स की दुहाई देते है, सर्वसाधारण भी विज्ञान के मामलों में अमुक वैज्ञानिक या वैज्ञानिकों की दुहाई देते हैं। इसी तरह हर-एक क्षेत्र में असाधारण कार्य करनेवाले लोगों की दुहाई दी जाती है। यह बुरा नहीं, क्योंकि हरएक आदमी हर विषय की तह तक तो पहुँच नहीं सकता इसलिए वह अपने को हर विषय का निष्णात भी नहीं मानता, इसलिए निष्णातों का या अपने से अधिक निष्णातों का मत उसके लिए मूल्यवान होजाता है यह बात जैसे हरएक शास्त्र और हरएक संस्था के विषय में है उसी तरह धर्मशास्त्र और धर्मसंस्था के विषय में भी है। जब किसी वैज्ञानिक के सिद्धान्त या विचार युग के अनुरूप नहीं रहते तो उसके नाम की दुहाई भी बन्द होजाती है, उसी तरह किसी धर्म-तीर्थंकर या धर्माचार्य के विचार युग के अनुरूप नहीं रहते तब उसकी दुहाई बन्द होजाती है। तब नये तीर्थंकर और नये धर्माचार्य सामने आजाते हैं।

बात यह है कि सत्य की शोध प्रजातन्त्र के आधार से नहीं होती, वह तो किसी ऐसे क्रान्तिकार के जरिये होती है जो जनमत की पर्वाह नहीं करता, जनहित की पर्वाह करता है। जनमत तो शुरु शुरु में उसके विरोध में ही खड़ा होता है। अच्छे अच्छे वैज्ञानिकों के विषय में और तीर्थंकरो के विषय में यही हुआ। और अपनी सूक्ष्म दृष्टि, सत्यसाधना और कठोर तपस्या के बलपर उनने जनमत पर विजय पाई और उसे बदल दिया। ऐसी अवस्था में यदि काफी समय तक लोग ऐसे तीर्थंकरों और वैज्ञानिकों के मत पर काफी श्रद्धा रक्खें, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

धर्मसंस्था जीवन की चिकित्सा करने वाली एक संस्था है या यों कहना चाहिये कि जीवन का शिक्षण देने वाली एक पाठशाला है। इन स्थानों पर डाक्टर वैद्य, या पाठक का मूल्य ही अधिक होता है, रोगियों या विद्यार्थियों का नहीं। हां! रोगियों को यह अधिकार है कि वे यदि किसी डाक्टर को अच्छा नहीं समझते तो उससे चिकित्सा न करायें पर यदि चिकित्सा कराना है तो अन्तिम मत डाक्टर का ही होगा। हां! डाक्टर के सामने वे अपना मत रख सकते हैं, डाक्टर उनपर विचार करेगा और अपना अन्तिम निर्णय देगा। धर्मसंस्था के विषय में भी ठीक यही बात है, तीर्थंकर या धर्माचार्य जीवन की चिकित्सा का डाक्टर है। आप उसे चुनने न चुनने में, मानने न मानने में स्वतन्त्र हैं। लेकिन चिकित्सा में अन्तिम मत उसीका है। जीवन के हरेक क्षेत्र में अमुक व्यक्ति या व्यक्तियों को प्रधान मानकर चलना पड़ता है उसी प्रकार धर्म-संस्था में भी चलना पड़े तो उसमें क्षुब्ध होने की कोई बात नहीं है। खासकर उस अवसर पर जब कि किसी कानून के जरिये आप पर धर्म-संस्था जबरदस्ती लादी न गई हो, आप उसे स्वीकार अस्वीकार करने मे स्वतन्त्र हों।

फिर धर्मसंस्था में किसी एक व्यक्ति की प्रधानता का नियम भी नहीं है धर्मसंस्था में ऐसे अनेक महामानव होजाते हैं, जिनके तर्कबल और अनुभवबल के कारण परम्परा की विचार-धाराएँ काफी बदल जाती है या सुधर जाती हैं। हरेक मनुष्य को इन सब की परीक्षा करके धर्मसंस्था का उपयोग करना चाहिये। अगर कोई धर्मसंस्था न जचती हो तो दूसरी ले लेना चाहिए, अगर ज्यादा बुद्धि वैभव हो तो सुधार करना चाहिये। यदि इतने से भी काम न चले तो दूसरी संस्था खड़ी कर लेना चाहिये या करवाना चाहिये। इतनी स्वतन्त्रता के होते हुए व्यक्ति प्रधानता के कारण धर्मसंस्था मात्र का नाश नहीं किया जासकता।

कुछ लोग धर्मसंस्था का विरोध बड़े विचित्र तरीके से करते हैं। वे किसी युगबाह्य धर्मसंस्था से तो चिपटे रहते हैं पर युगानुकूल धर्मसंस्था का विरोध करते हैं। पर चूंकि वह समर्थ होती है इसलिये उसका विरोध कर नहीं पाते तब वे धर्मसंस्था मात्र की बुराई करने लग जाते हैं। और सबको छोड़कर युगानुरूप धर्मसंस्था का विरोध पहिले करते हैं। ढोंग ऐसा करते हैं कि मानों उन्हें धर्मसंस्था मात्र से विरोध है और इसीलिए वे युगानुरूप धर्मसंस्था का विरोध कर रहे हैं। उनमें इतनी हिम्मत नहीं होती कि वे यह कहदें कि यह नई धर्मसंस्था असत्य है और पुरानी या हमारी धर्मसंस्था ही सत्य है। वे दम्भी हैं, हो सकता है कि उनका दम्भ इतना गहरा हो कि उन्हें भी उसका पता न लगता हो। ऐसे लोगों से जब कहा जाता है कि यदि तुम धर्मसंस्था मात्र को खराब समझते हो तो कम से कम अपनी पुरानी युगबाह्य धर्मसंस्था का तो पिण्ड छोड़दो तब या तो वे चुप रहजाते हैं या "हें हें" करने लगते हैं। ऐसे लोगों का धर्मसंस्था विरोध कोई मूल्य नहीं रखता।

धर्मसंस्था के विषय में ये सब भ्रम उन लोगों के मनमें होते हैं जिनने धर्मसंस्था के इतिहास को और उसके वास्तविक स्वरूप का ठीक विचार नहीं किया होता है इसलिये उसके विरोधी बनजाते हैं। पर कुछ लोग ऐसे हैं जो धर्म के परम समर्थक होनेपर भी कुछ भ्रमों के कारण धर्मसमभाव से दूर हट जाते है। उनकी धर्म-परीक्षा की कसौटी ही गलत होती है, कोई कोई अपने धर्म को इसलिये महान कहने लगजाते हैं कि उसमें त्याग का प्रदर्शन बहुत ऊंचे दर्जे का है, अनेक प्रकार के शारीरिक कष्टों का बवण्डर खड़ा कर दिया गया है, अहिंसा की बड़ी ऊंची व्याख्या की गयी है अथवा उसका क्रियाकाण्ड विशाल है, इत्यादि। धर्मसंस्था की तरतमता जानने के लिए ये सब विचार ठीक नहीं है।

केवल ऊंची बातें लिखने या कहने से कोई धर्मसंस्था ऊंची नहीं होजाती जब तक कि उसकी बातें व्यवहार में उतरने लायक न हों, मनोवैज्ञानिक कसौटी पर ठीक न उतरती हों और उसके व्यवहार में आनेपर जगत की स्थिति ठीक ठीक रूप में न बनी रहती हो।

इस प्रकार धर्मों के विषय में अनेक तरह के भ्रम हैं। इन भ्रमों को दूर करने के लिये हमें पांच बातों का योग्य विचार करना चाहिये।

१—धर्मशास्त्र की मर्यादा (धर्मीन रासो)

२—उचित परिवर्तन (धिन्न भुगो)

३—व्यापक दृष्टि (होलको)

४—अनुदारता के संस्कारों का त्याग। (नोमचो हम्वो मिंचो)

५—मर्मज्ञता की उचित मान्यता (पुमिंगो धिन्न मायो)

१—धर्मशास्त्र की मर्यादा—सभी धर्म सत्य अहिंसा शील त्याग सेवा आदि का उपदेश देते हैं और सभी धर्मों का ध्येय जन समाज को सदाचार में आगे बढ़ाना है। अगर सारा जगत सदाचारी प्रेमी सेवाप्रिय हो जाय तो जगत में दुःख ही न रहे। प्राकृतिक दुःख भी घट जाँय

और जो रहे भी, वे परस्पर सेवा सहानुभूति से मालूम भी न पड़ें। बीमारी का कष्ट इतना नहीं खटकता जितना अकेले पड़े पड़े तड़पने का। मनुष्य दूसरों पर जो अपना बोझ लादता है अत्याचार करता है सेवा नहीं देता वही कष्ट सब से अधिक है सभी धर्म इसको हटाने का प्रयत्न करते हैं इसलिये धर्मशास्त्र का काम सिर्फ नैतिक नियम, उनके पालन का उपाय, उनके न पालने, पालने से होनेवाले हानि लाभ बताता है। अगर सभी धर्मशास्त्र इतना ही काम करते तो उनमें जो परस्पर अन्तर है वह रुपये में बारह आना घटजाता, पर आज धर्मशास्त्र में इतिहास भूगोल ज्योतिष पदार्थविज्ञान दर्शन आदि नाना शास्त्र मिल गये हैं इसलिये एक धर्म दूसरे धर्म से जुदा मालूम होने लगा है।

अगर तुम से कोई पूछे—दो और दो कितने होते हैं? तुम कहोगे चार। फिर पूछे हिन्दू धर्म के अनुसार कितने होते हैं इस्लाम के अनुसार कितने होते हैं जैनधर्म के अनुसार कितने होते हैं ईसाई धर्म के अनुसार कितने होते हैं तो तुम कहोगे—यह क्या सवाल है? धर्मों से इसका क्या सम्बन्ध, यह तो गणित का सवाल है? इसी प्रकार तुमसे कोई पूछे कलकत्ता से बम्बई कितनी दूर है एशिया कितना बड़ा है और फिर इसका उत्तर हिन्दू मुसलमान आदि धर्मों की अपेक्षा चाहे तो उससे भी यही कहना होगा कि यह धर्मशास्त्र का सवाल नहीं है भूगोल का सवाल है। इसी तरह सूर्य चन्द्र तारे पृथ्वी आदि के सवाल [भूगोल खगोल] युग युगान्तर के सवाल (इतिहास) द्रव्यों या पदार्थों के और आत्म-अनात्म, लोक-परलोक आदि के सवाल (विज्ञान और दर्शन) धर्मशास्त्र के विषय नहीं हैं। पर इन्हीं बातों को लेकर धर्मशास्त्रों में इतना विवेचन हुआ है और कल्पनाओं के द्वारा अँधेरे में टटोलने के कारण इतना मतभेद रहा है कि ऐसा मालूम होता है कि एक धर्म दूसरे धर्म से मिल ही नहीं सकता। अगर धर्मशास्त्र स्थान का ठीक ठीक ज्ञान होजाय और धर्मशास्त्र के सिरपर लदा हुआ बोझ दूर होजाय तो धर्मों में इतना भेद ही न रहे। धर्मशास्त्र पर लदे हुए इस बोझ से बड़ी भारी हानि हुई है। धर्मों में अन्तर तो बढ़ ही गया है साथ ही इन विषयों का विकास भी रुक गया है। धर्मशास्त्र के ऊपर श्रद्धा रखना तो जरूरी था और उससे लाभ भी था पर उसमें आये हुए सभी विषयों पर श्रद्धा रखने से सभी विषयों में मनुष्य स्थिर हो गया। सदाचार आदि के नियम इतने परिवर्तनशील या विकासशील नहीं होते जितने भौतिक विज्ञान आदि। सदाचार में मनुष्य हजार वर्ष पहिले के मनुष्य से बढ़ा या बहुत बढ़ा नहीं है कदाचित् घट गया है पर भौतिक विज्ञान आदि में कई गुणी तरक्की हुई है। अब अगर धर्मशास्त्र के साथ भौतिक विज्ञान आदि भी चलें तो जगत की बड़ी भारी हानि हो, और धार्मिक समाज प्रगति के मार्ग में बड़ा भारी अड़ंगा बन जाय, जैसा कि वह बनता रहा है और बहुत जगह आज भी बना है। इसलिये सब से पहिली बात यह है कि धर्मशास्त्र में से दर्शन इतिहास भूगोल आदि विषय अलग कर दिये जाँय। धर्मशास्त्र की मर्यादा का ध्यान रक्खा जाय फिर धर्मों का अन्तर बहुत मिट जायगा।

प्रश्न—धर्मशास्त्र में ये विषय आये क्यों?

उत्तर—पुराने समय में शिक्षण का इतना प्रबन्ध नहीं था। धर्मगुरु के पास ही हरएक विषय की शिक्षा लेना पड़ती थी। धर्मगुरुओं पर अचल श्रद्धा होने से हरएक विषय पर अचल श्रद्धा होने लगी। गुरु लोग भी शिक्षण के सुभीते के लिये धर्मशास्त्र में ही हरएक विषय खींचतान कर भरने लगे इस प्रकार धर्मशास्त्र सर्व विद्या-भण्डार बन गये। शिक्षण की दृष्टि से तो उस जमाने में अवश्य सुभीता हुआ पर इन विद्याओं के विकास रुकने और धर्म-धर्म में भेद बढ़ने का नुकसान भी काफी हुआ।

धर्मशास्त्र में इन विषयों के आने का दूसरा कारण है धर्म के ऊपर श्रद्धा जमाने का और

लोगों की अधिक से अधिक जिज्ञासाओं को किसी तरह शान्त करने का प्रयत्न।

धर्मगुरु ने नीति सदाचार का उपदेश दिया लेकिन शिष्य तो कोई भी काम करने के लिये तभी तैयार होता जब उससे सुख की आशा होती। परन्तु दुनिया का अनुभव कुछ उल्टा था। उसने कहा—दुनिया में तो दुराचारी विश्वास-घाती दम्भी लोग वैभवशाली तथा आनन्दी देखे जाते हैं और जो सच्चे त्यागी हैं परोपकारी हैं नीतिमान हैं सदाचारी हैं वे पद-पद ठोकर खाते हैं तब धर्म का पालन क्यों किया जाय? शिष्य का यह प्रश्न निर्मूल नहीं था। शिष्य को यह समझना कठिन था कि असत्य भी सत्य की ओट में चल पाता है इसलिये सत्य महान है? धर्म के पालन में जो असली आनन्द है वह अधर्मी नहीं पासकता। ऐसे समाधानों से बुद्धि को थोड़ासा सन्तोष मिल सकता था पर हृदय को सन्तोष नहीं मिल सकता था। हृदय तो धर्म के फल में भीतरी सुख ही नहीं, बाहरी फल भी चाहता था। जब गुरु ने कहा—हमारा जीवन पूरा नाटक नहीं है-नाटक का एक अंक है। नाटक का एक अंक देखने से पूरे नाटक का परिणाम नहीं मालूम होता। राम के नाटक में कोई सीताहरण तक खेल देखकर निर्णय करे कि पुण्य का फल गृहनिर्वासन और पत्नीहरण है तो उसका यह निर्णय ठीक न होगा इसी प्रकार एक जीवन से पुण्य-पाप के फल का निर्णय करना अनुचित है। धर्म का असली फल तो परलोक में मिलता है। बीज से फल आने तक जैसे महीनों और वर्षों लगजाते हैं उसी तरह पुण्यपाप फल के बीज भी वर्षों युगों और जन्म जन्मान्तरों में अपना फल देते हैं।

इस उत्तर से शिष्य के मन का बहुतसा समाधान होगया पर जिज्ञासा और भी बढ़गई। परलोक क्या है? वहां कौन जाता है? शरीर तो यहीं पड़ा रह जाता है, परलोक कैसा है फल कौन देता है? पहिले कब किसको कैसा फल मिला है? इन प्रश्नों के उत्तरों में गुरु को ईश्वर स्वर्ग नरक युग युगान्तर उनके महापुरुष आदि का वर्णन करना पड़ा, इसके लिये जो कुछ तर्कसिद्ध मिल वह लिया बाकी कल्पना से भरागया। इसप्रकार धर्मशास्त्र में बहुत से विषय आगये और उनमें कल्पना का भाग काफी होने से विभिन्नता भी हुई, क्योंकि हरएक धर्मप्रवर्तक की कल्पना एकसी नहीं हो सकती थी।

आज हमें इतना ही समझना चाहिये कि धर्म के फल को समझाने के लिये ये उदाहरण मात्र हैं। भिन्न-भिन्न धर्मों के, जुदे-जुदे वर्णन भी सिर्फ इस बात को बताते हैं कि अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा है।

अगर कोई कहानी आज तथ्यहीन मालूम हो तो हमें दूसरी कहानी बना लेना चाहिये या खोज लेना चाहिये। धर्मशास्त्र में आये हुए विषयों को विज्ञान की दृष्टि से न देखना चाहिये, धर्म के स्पष्टीकरण की दृष्टि से देखना चाहिये। ईश्वर का दार्शनिक वर्णन धर्मशास्त्र के भीतर कर्मफल प्रदान के रूप में ही रहेगा। इस दृष्टि से परस्पर विरोधी वर्णनों की भी संगति बैठ जायगी।

प्रश्न—इतिहास आदि को धर्मशास्त्र का अंग न माना जाय तो भले ही न माना जाय पर दर्शनशास्त्र को अगर अलग कर दिया जायगा तो धर्म की जड़ ही उखड़ जायगी। धर्म का काम सदाचार दुराचार का प्रदर्शन कराना तो है ही साथ ही यह बताना भी है कि वह फल कैसे मिलता है। इसके उत्तर में दर्शनशास्त्र का बड़ा भाग आ जाता है इसलिये दर्शन को धर्म से अलग नहीं किया जा सकता।

उत्तर—दर्शन का धर्म से कुछ निरा सम्बन्ध अवश्य है क्योंकि धार्मिक दृष्टि से वि[illegible] की व्याख्या करने वाले शास्त्र को दर्शनशास्त्र कहते हैं। विज्ञान और दर्शन में यही अन्तर है कि विज्ञान धर्म निरपेक्ष है और दर्शन सापेक्ष। फिर भी दो कारणों से धर्म और द[illegible]

अलग अलग शास्त्र है।

१-धर्म और दर्शन का कार्य और आधार भिन्न है। धर्म का कार्य जीवन शुद्धि के नियम या विधि विधान बनाना है। और दर्शनका कार्य विश्व की व्याख्या करना है। धर्म दर्शन का प्रेरक है पर नियन्त्रक नहीं। धर्म के ध्येय की पूर्ति के लिये दर्शन शास्त्र है इसलिये धर्म को दर्शन का प्रेरक कह सकते हैं पर दर्शन पर नियन्त्रण तर्क का रहता है धर्म का नहीं। दर्शन यह नहीं कह सकता कि यह बात धर्मविरुद्ध है इसलिये न मानी जायगी, वह वैज्ञानिक की तरह यही कहेगा कि यह बात तर्कविरुद्ध है इसलिये नहीं मानी जायगी। यही कारण है कि कई दर्शनोंने आगम को प्रमाण तक नहीं माना, और जिनने माना उनने प्रत्यक्ष और तर्क को मुख्यता दी। धर्म मे विवेक को स्थान होनेपर भी अन्त मे श्रद्धा को आधार बनाना पडता है। दर्शन अन्त तक तर्क की दुहाई देता रहता है। इस प्रकार दर्शन और धर्म में काफी अन्तर है।

२-कभी कभी ऐसा होता है कि धर्मके बदल जाने पर भी दर्शन नहीं बदलता, और कभी कभी ऐसा होता है कि दर्शन के बदल जानेपर भी धर्म नहीं बदलता। एक ही बौद्धधर्म में सौत्रान्तिक वैभाषिक योगाचार और माध्यमिक चार दर्शन होगये। जिनने विश्व के पदार्थों की व्याख्या बिलकुल जुदे-जुदे ढंग से की। एक ने बाह्य पदार्थों की सत्ता मानी और एक ने नहीं मानी। कोशिश चारों की यह थी कि जीवन बौद्ध धर्म के अनुसार बने। बहुत से हिन्दू एक ही तरह का धार्मिक जीवन बिताते हैं, लेकिन भिन्न भिन्न दर्शनों को मानते है। यही बात मुसलमानों के बारे मे है। धार्मिक जीवन में करीब करीब समानता होनेपर भी भिन्न भिन्न दर्शनों की उत्पत्ति उसमें हुई। उनमें अद्वैत दर्शन भी आया और द्वैत दर्शन भी आया। इससे पता लगता है कि दर्शन के बदलजाने या भिन्न-भिन्न होनेपर भी धर्म एक होसकता है।

आज का एक हिन्दू दर्शनशास्त्र मे चाहे कोई एक प्राचीन वैदिक दर्शन माने पर पुराने धर्म से वह बहुत दूर होगया है। पुराने युग के पशुयज्ञ, मासभक्षण, मानव में देवत्व की अमान्यता (वैदिक युग मे आज के राम कृष्ण आदि व्यक्तियों को परमात्मा के रूप मे नहीं पूजा जाता था) मूर्ति की अपूजा (आज की मूर्तिपूजा भी उस समय नहीं थी, अग्नि सूर्य आदि की ही उपासना की जाती थी) आदि बहुतसी बातें छोड़ चुका है धर्म का रूप बहुत कुछ बदल गया है पर दर्शन अभी भी वही है।

इससे पता लगता है कि धर्म और दर्शन एक दूसरे के साथ बँधे हुए नहीं है। एक ही दर्शनशास्त्र से धर्म भी निकल सकता है और अधर्म भी निकल सकता है। इसलिये दर्शन को धर्म का अंग न बनाना चाहिये उसके भेद से धर्म में भेद न मानना चाहिये, दर्शन की असत्यता से धर्म मे असत्यता न मानना चाहिये। इससे धर्मों में भिन्नता का बड़ा कारण दूर हो जायगा। यहा दर्शनशास्त्र के परस्पर विरोधी भिन्न भिन्न सिद्धातों का धार्मिक दृष्टि से कैसा सदुपयोग दुरुपयोग किया जासकता है इसका विवेचन किया जाता है।

ईश्वरवाद-(एशवादो) जगत का सृष्टा या नियन्ता कोई एक आत्मा है जो पुण्य-पाप का फल देता है यह ईश्वर-वाद है। कर्मफल दाता-नियन्ता सृष्टा कोई एक आत्मा नहीं है यह अनीश्वरवाद है। दर्शन शास्त्र की दृष्टि से इन दो मे से कोई एक सच्चा है। पर धर्मशास्त्र दोनों को सच्चा और दोनों को झूठा कर सकता है। धर्मशास्त्र की दृष्टि में ईश्वर वाद की सचाई यह है कि हमारे पुण्य पाप निरर्थक नहीं हैं। अगर हम जगत के कल्याण के लिये दिनरात परिश्रम करते हैं फिर भी जगत् हमारी अवहेलना करता है तो हमारा यह गुप्त पुण्य व्यर्थ न जायगा क्योंकि जगत देखे या न देखे पर ईश्वर अवश्य देखता है। इसलिये वह अवश्य किसी न किसी रूप मे

नरकफल देगा। इसी प्रकार अगर हम कोई पाप करते हैं पर दुनिया की आँख में धूल झोंककर उसके अपयश से बचे रहते हैं तो भी वह पाप निरर्थक न जायगा क्योंकि ईश्वर की आँखों में धूल नहीं झोंकी जासकती, वह पाप का फल कभी न कभी अवश्य देगा। इस प्रकार गुप्त पाप से भी भय और गुप्त पुण्य से भी सन्तोष पैदा होना ईश्वरवाद का फल है। ऐसा ईश्वरवाद धर्म की दृष्टि में सत्य है, भले ही ईश्वर हो या न हो अथवा सिद्ध होता हो या न होता हो। पर अगर ईश्वरवाद का यह अर्थ है कि ईश्वर दयालु है प्रार्थनाओं से खुश होकर वह पाप माफ कर देता है इसलिये पाप की चिन्ता न करना चाहिये ईश्वर को खुश करने की चिन्ता करना चाहिये तो यह ईश्वरवाद धर्मशास्त्र की दृष्टि में मिथ्या है भले ही दर्शनशास्त्र ईश्वरवाद को सिद्ध कर देता हो।

इसी प्रकार अनीश्वरवाद के विषय में भी है। अगर अनीश्वरवाद का यह अर्थ है कि ईश्वर युक्ति तर्क से सिद्ध नहीं होता पुण्य पाप फल की व्यवस्था प्राकृतिक नियम के अनुसार ही होती है, जैसे छुपकर भी विष खाया जाय और उसके अपराध की क्षमा याचना की जाय तो विष के ऊपर इसका कुछ प्रभाव न पड़ेगा, विष खाने का निश्चित दण्ड प्राकृतिक नियम के अनुसार मिलगा, इसी प्रकार हम जो पाप करते हैं उस का फल भी प्राकृतिक नियम के अनुसार अवश्य मिलता है, तो इस प्रकार का अनीश्वरवादकर्मवाद तर्क सिद्ध हो या न हो धर्मशास्त्र की दृष्टि में सत्य है। पर अगर अनीश्वरवाद का अर्थ पुण्य पाप के फल की अव्यवस्था है इसलिये किसी न किसी तरह अपना स्वार्थ सिद्ध करना जीवन का ध्येय है, सामूहिक स्वार्थ की या नैतिक नियमों की पर्वाह करना व्यर्थ है तो इस प्रकार का अनीश्वरवाद तर्क-सिद्ध भी हो तो भी धर्मशास्त्र की दृष्टि में मिथ्या है। इस प्रकार धर्मशास्त्र ईश्वरवाद सम्बन्धी दार्शनिक चर्चा का उपयोग करके भी उससे भिन्न है क्योंकि दार्शनिक पद्धति से सिद्ध किये हुए ईश्वरवाद अनीश्वरवाद की उसे पर्वाह नहीं है। उसकी दृष्टि स्वतन्त्र है।

परलोकवाद या आत्मवाद (इम्नवादो)– आत्मा तो हरएक मानता है पर आत्मा कोई मूलवस्तु [तत्व] है या नहीं, इसी पर विवाद है। आत्मा को नित्य मानने से परलोक तो सिद्ध हो ही जाता है क्योंकि आत्मा जब नित्य है तब मरने के बाद कहीं न कहीं जायगा और कहीं न कहीं से मरकर आया भी होगा वही परलोक है। यद्यपि आत्मा को अनित्य या अतत्व मानकर भी परलोक बन सकता है पर धर्म की दृष्टि में इससे कोई अन्तर नहीं होता। जैसे पानी आक्सिजन आदि के संयोग से बना है फिर भी उसका यह रासायनिक आकर्षण भाफ बनने पर भी नहीं टूटता, इस प्रकार संयोगज होनेपर भी भाफ और पानी के रूप में अनेक बार पुनर्जन्म करता रहता है उसी प्रकार आत्मा संयोगज होकर भी पुनर्जन्म कर सकता है। इस प्रकार आत्मवाद और परलोकवाद में अन्तर है। आत्मवाद आत्मा को नित्य सिद्ध करता है और परलोकवाद आत्मा को अनेक भवस्थायी सिद्ध करता है। पर इन दोनों का धर्मशास्त्र में एकसा उपयोग है क्योंकि धर्मशास्त्र आत्मा की नित्यता और परलोक से एक ही बात सिद्ध करना चाहता है कि पुण्य पाप का फल इस जन्म में यदि न मिल सके तो परजन्म में अवश्य मिलेगा पुण्य पाप व्यर्थ नहीं जायगा। यह बात आत्मवाद और परलोकवाद में एक सरीखी है। दर्शनशास्त्र अगर अपनी युक्तियों से परलोक या आत्मा का खण्डन भी करदे तो भी पुण्यपाप फल की दृष्टि से धर्मशास्त्र परलोक या आत्मवाद को सत्य मानेगा।

यदि आत्मवाद का यह अर्थ हो कि आत्मा तो अमर है किसी की हत्या कर देने पर भी

आत्मा मर नहीं सकता इसलिये हिंसा अहिंसा का विचार व्यर्थ है, ऐसी हालत में दर्शनशास्त्र की दृष्टि में आत्मवाद सत्य होने पर भी धर्मशास्त्र की दृष्टि में असत्य हो जायगा। आत्मवाद के विषय में दर्शनशास्त्र बदलता रहे तो भी धर्मशास्त्र न बदलेगा उसकी दृष्टि पुण्यपाप की सार्थकता पर है। यही आत्मवाद के विषय में धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र की जुदाई है।

सर्वज्ञवाद (पुर्मिगवादो)—सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं, या हो सकता है तो कैसा हो सकता है दर्शनशास्त्र के इस विषय में अनेक मत हो सकते हैं और हैं, पर धर्मशास्त्र को इससे कोई मतलब नहीं। धर्मशास्त्र तो सिर्फ यही चाहता है कि मनुष्य नैतिक नियमों पर पूर्ण विश्वास करे और तदनुसार चले। अब इसके लिये चतुर्दशी सर्वज्ञ माना जाय या श्रेष्ठ विद्वान सर्वज्ञ माना जाय, धर्मशास्त्र इसमें कुछ आपत्ति न करेगा। सिर्फ सर्वज्ञता के उस रूप पर आपत्ति करेगा जो धर्मसमभाव का विघातक है और विकास का रोकनेवाला है। इस सर्वज्ञवाद के विषय मे दर्शनशास्त्र परस्पर में जितना विरोधी है उतना धर्मशास्त्र नहीं है। कोई सर्वज्ञ माने या न माने यदि नैतिक नियमों की प्रामाणिकता में उसका विश्वास है तो धर्मशास्त्र की दृष्टि से उसने सर्वज्ञ विषयक सत्य पा लिया। पर दर्शनशास्त्र इस बात पर उपेक्षा करता है। वह तो सर्वज्ञता के रूप का तथ्य जानना चाहता है। यही इन दोनों में अन्तर है।

मुक्तिवाद (जिम्रोवादो)-मुक्तिवाद के विषय में भी दर्शनशास्त्र में अनेक मत हैं। कोई मानता है मुक्ति में आत्मा अनन्त ज्ञान अनन्त सुख में लीन अनन्त काल तक रहता है, कोई कहता है वहां ज्ञान और सुख नहीं रहता उसके विशेष गुण नष्ट हो जाते हैं, कोई कहता है मुक्ति में आत्मा का नाश हो जाता है, कोई कहता है वहां बिना इन्द्रियों के सब भोगों को भोगता है, कोई कहता है उसका पृथक अस्तित्व मिट जाता है, कोई कहता है सदा के लिये ईश्वर के पास पहुँच जाता है, कोई कहता है मुक्ति नित्य नहीं है जीव वहां से लौट आता है, इस प्रकार नाना मत हैं। धर्मशास्त्र इस विषय में बिलकुल तटस्थ है। धर्मशास्त्र के लिये तो स्वर्ग नरक मोक्ष आदि का इतना ही अर्थ है कि पुण्य-पाप अच्छे-बुरे कार्यों का फल अवश्य मिलता है। जिसने इस बात पर विश्वास कर लिया फिर मुक्ति पर विश्वास किया या न किया, उसको धर्मशास्त्र मिथ्या नहीं कहता।

प्रश्न—अगर मुक्ति न मानी जाय तो मनुष्य धर्म क्या करेगा ? मुक्ति हो या न हो, पर मुक्ति का आकर्षण तो नष्ट न होना चाहिये।

उत्तर—मुक्ति पर विश्वास होना उचित है उसमें कोई बुराई नहीं है, पर इसके लिये बुद्धि के हाथों में हथकड़ी नहीं डाली जासकती, बुद्धि तो अपना काम करेगी ही, इसलिये अगर किसी को मुक्ति तर्क-संगत न मालूम हुई तो इसीलिये उसे धर्म न छोड़ देना चाहिये, न छोड़ने की जरूरत है। स्वर्ग की मान्यता से भी या परलोक की मान्यता से भी धर्म के लिये आकर्षण रह सकता है।

प्रश्न—परिमित सुख की आशा में मनुष्य जीवनोत्सर्ग क्यों करेगा ?

उत्तर—मनुष्य सरीखा हिसाबी प्राणी दिन-रात जितने लाभ से सन्तुष्ट रहता है स्वर्ग में उससे कहीं अधिक लाभ है। मनुष्य यह जानता है कि अच्छी रोटी खाने पर भी शाम को फिर भूख लगेगी फिर भी रोटी खाता है और उस रोटी के लिये दुनिया भर की विपदा मोल लेता है। मनुष्य दिनरात कोल्हू के बैल की तरह घर और बाजार में चक्कर काटता है और सब तरह की परेशानियाँ उठाता है तब वह स्वर्ग के लिये यह हठ करके क्यों बैठ जायगा कि मैं तो तभी धर्म करूंगा जब मुझे मोक्ष मिलेगा. स्वर्ग के

लिये मैं कुछ नहीं करता। सच तो यह है कि जो तत्वदर्शी है उसको सदाचार का फल ढूढने के लिये स्वर्ग-मोक्ष की भी जरूरत नहीं होती, वह तो सदाचार का सुफल यहीं देख लेता है, जब बाहर नहीं दिखाई देता तब भीतर देख लेता है। और जो तत्वदर्शी नहीं है वह मोक्ष के आनन्द को समझ ही नहीं सकता। उसे स्वर्ग और मोक्ष मे से किसी एक चीज को चुनने को कहा जाय तो वह स्वर्ग ही चुनेगा। हां, मोक्ष के अर्थ को ठीक न समझकर साम्प्रदायिक राग के मारे कुछ भी कहे। मतलब यह है कि मुक्ति के न माननेसे भी सदाचार का आकर्षण नष्ट नहीं होता इसलिये धर्मशास्त्र मुक्ति के विषय में तटस्थ है।

द्वैताद्वैत (अकोकनो)-द्वैत का अर्थ है जगत दो या दो से अधिक तत्वों से बना हुआ है। जैसे पुरुष और प्रकृति, जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश, पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा मन आदि। ये सब द्वैतवाद हैं। अद्वैत का अर्थ है जगत का मूल एक है जैसे ब्रह्म। दर्शनशास्त्र की यह गुत्थी अभी तक नहीं सुलझी। भौतिक विज्ञान भी इस विषय मे काफी प्रयत्न कर रहा है। बहुत से वैज्ञानिक सोचने लगे हैं कि तत्व बानवे नहीं हैं एक है फिर भले ही वह ईथर हो या और कुछ। अद्वैत की मान्यता मे मूल तत्व चेतन है या अचेतन, यह प्रश्न ही व्यर्थ है। चेतन का अर्थ अगर ज्ञान-जानना-विचार करना आदि है तो उस मूल अवस्था मे यह सब असभव है इसलिये अद्वैत की मान्यता मे मूलतत्व अचेतन ही रहेगा। अथवा बीजरूप मे चेतन और अचेतन दोनो ही उसमे मौजूद हैं इसलिये उसे चैतन्याचैतन्यातीत कह सकते है। द्वैत अद्वैत की यह समस्या सरलता से नहीं सुलझ सकती, पर धर्मशास्त्र को इसकी जरा भी चिन्ता नहीं है। यह समस्या सुलझ जाय तो धर्मशास्त्र का कुछ लाभ नहीं और न सुलझे तो कुछ हानि नहीं।' जगत मूल मे एक हो या दो, सदाचार की आवश्यकता और रूप मे इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। अगर जगत मूल मे एक है तो इसका यह अर्थ नहीं कि हम किसी को तमाचा मारें तो उसे न लगेगा अथवा हमें ही लगेगा। द्वैत हो या अद्वैत, हिंसा-अहिंसा आदि विवेक उसी तरह रखना होगा जैसा आज रक्खा जाता है। इसलिये द्वैत-अद्वैत के दार्शनिक प्रश्न का धर्मशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। द्वैत या अद्वैत मानने से मनुष्य धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि आस्तिक और ईमानदार नहीं बनता।

हां, द्वैत या अद्वैत जो कुछ भी बुद्धि को जच जाय उसका उपयोग धर्मशास्त्र अच्छी तरह कर सकता है। अद्वैत का उपयोग धर्मशास्त्र में विश्वप्रेम के रूप मे हो सकता है। द्वैत का उपयोग आत्मा और शरीर को भिन्न मानकर शारीरिक सुखों को गौण बनाने में किया जा सकता है।

दर्शन के दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त धर्मशास्त्र मे एक सरीखे उपयोगी हो सकते हैं और सत्य अहिंसा की पूजा के काम में आ सकते हैं यह धर्मशास्त्र से दर्शनशास्त्र की भिन्नता का सूचक है।

नित्यानित्यवाद (पुलोहुलोवादो)-वस्तु नित्य है या अनित्य, यह वाद भी धर्म के लिये निरुपयोगी है। अगर नित्यवाद सत्य है तो भी हत्या करना हिंसा है। अगर अनित्यवाद या क्षणिकवाद सत्य है तो भी यह कहकर खून म[illegible] नहीं किया जा सकता कि वह तो हर समय न[illegible] हो रहा था मैंने उसका खून किया तो क्या बि[illegible] गया, इसलिये नित्यवाद अनित्यवाद का आत्म शुद्धि या सदाचार के साथ कोई सम्बन्ध नह[illegible] बैठता। हां, भावना के रूप मे दोनो का उपयो[illegible] किया जा सकता है। नित्यवाद से हम आत्म के अमरत्व की भावना से मृत्यु से निर्भय ह[illegible] सकते हैं और अनित्यवाद से भोगो की या [illegible] की क्षणभगुरता के कारण इससे निर्मोह हो [illegible]

हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्र तो नित्यवाद का और अनित्यवाद का समान रूप में उपयोग करता है। दर्शनशास्त्र भले ही नित्यवाद या अनित्यवाद में से किसी एक को मिथ्या कहे परन्तु धर्मशास्त्र दोनों का सत्य के समान उपयोग करेगा. यह धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का भेद है।

इस प्रकार धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र आदि को अलग कर देने से, अर्थात धर्मशास्त्र के सत्य को दर्शनशास्त्र या अन्य किसी शास्त्र के सत्य पर अवलम्बित न करने से धर्मों का पारस्परिक विरोध बहुत शान्त हो जाता है। इसलिये धर्मशास्त्र का स्थान समझलेना चाहिये। और इस विषय का भ्रम दूर कर देना चाहिये।

प्रश्न—धर्मशास्त्र का स्थान समझ लेने से दर्शनशास्त्र तथा और दूसरे शास्त्रों से सम्बन्ध रखनवाले झगड़े अवश्य शान्त हो जायगे, पर धर्मों में इतना ही विरोध नहीं है। प्रवृत्ति निवृत्ति, हिंसा अहिंसा, वर्ण अवर्ण तथा और भी आचार शास्त्र सम्बन्धी भेद हैं। इन बातो मे प्राय सभी परस्पर विरुद्ध हैं तब धर्मसमभाव कैसे रह सकता है ?

उत्तर-इन बातोको लेकर जो धर्मों मे विरोध मालूम होता है उसके कारण हैं उचित परिवर्तन का अभाव और व्यापक दृष्टि की कमी। पहिले धर्म-विरोध-भ्रम हटाने के पाच कारण बताये हैं उनमे से दूसरे तीसरे के अभाव से आचार-विषयक भ्रम होते हैं।

२-उचित परिवर्तन—ऋतु के अनुसार जैसे हमे अपने रहन-सहन भोजन आदि मे कुछ परिवर्तन करना पड़ता है उसी प्रकार देशकाल बदलने पर सामाजिक विधानो मे परिवर्तन करना पड़ता है। इसलिये एक जमाने मे जो विधान सत्य होता है दूसरे जमाने मे वही विधान असत्य बन जाता है इसलिये एक जमाने का धर्म दूसरे जमाने के धर्म से अलग हो जाता है। परन्तु अपने अपने समय में दोनों ही समाज के लिये हितकारी होते हैं। जो लोग परिवर्तन के इस मर्म को समझ जाते हैं उन्हे धर्मों में विरोध नहीं मालूम होता वे परस्पर विरुद्ध मालूम होनेवाले आचारो में समन्वय करके उनसे लाभ उठा सकते हैं। परन्तु जो परिवर्तन पर उपेक्षा करते हैं उन्हे इस बात में विरोध ही नजर आता है, वे इस विषय में विषमता और विरोध के अन्तर को ही नहीं समझते। विषमता तो नर और नारी मे भी काफी है पर इससे उनमें विरोध सिद्ध नहीं होता। व्यवहार की यह साधारण बात धर्म के विषय में भी अगर काम मे लाई जाय तो सुधारक और उदार बनने के मार्ग मे कठिनाई न रहे।

एक जमाने मे समाज की आर्थिक व्यवस्था के लिये वर्ण-व्यवस्था की जरूरत पड़ी तो धर्म मे वर्ण-व्यवस्था को स्थान मिलगया उससे समाज ने काफी लाभ उठाया, लोग आजीविका की चिन्ता से मुक्त हो गये, परन्तु इसके बाद वर्ण-व्यवस्था ने जातीयता का रूप धारण करके खान-पान विवाहादि सम्बन्धमे अनुचित बाधाएँ डालना शुरु कर दिया, जाति के कारण गुणहीनों की पूजा होने लगी, उनके अधिकारों से गुणी और निरपराध पिसने लगे, तब वर्ण-व्यवस्था को नष्ट कर देने की आवश्यकता हुई। इस समयानुसार परिवर्तन मे विरोध किस बात का ? वैदिक धर्म की वर्ण-व्यवस्था और जैनधर्म का वर्ण-व्यवस्था-विरोध, ये दोनों ही अपने अपने समय में समाज के लिये कल्याणकारी रहे है। इसलिये धर्म-समभावी को उचित परिवर्तन के लिये सदा तैयार रहना चाहिये और परिवर्तन पर उपेक्षा कभी न करना चाहिये।

३ विशाल दृष्टि—दृष्टिकी विकलता या सकुचितता से किसी चीज का पूरा रूप या पर्याप्त-रूप नहीं दिखता. इसी से हिंसा अहिंसा और प्रवृत्ति निवृत्ति के विरोध पैदा होते हैं। सभी धर्म अहिंसा के प्रचारक हैं परन्तु अहिंसा का पूर्णरूप हरएक आदमी नहीं पालसकता और न हर समय अहिंसा का बाह्यरूप एकसा होता है। इस-

किन्तु कभी कभी अहिंसा में भी हिंसा का भाव हो जाता है, क्योंकि [illegible] हिंसा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होगा।

[illegible]

जैनधर्म ने अहिंसा पर भारी [illegible] इस्लाम [illegible] है, पर ईसाई धर्म [illegible] अहिंसा [illegible] है। इस्लाम में पशुबलि आदि जो विधान पाये जाते हैं वे अहिंसा [illegible] हिंसा के घटाने के [illegible] उस ज़माने में हिंसा [illegible] है। [illegible] उस पशुबलि ने [illegible] मर्यादित रक्खा, [illegible] पशुहत्या [illegible] [illegible] पशुहत्या [illegible] मर्यादित रक्खा, जो मर्यादित पशुहत्या [illegible] उससे कभी कभी पशुहत्या [illegible], जो [illegible] पर भी [illegible] के लिए पशुहत्या करना [illegible] इस निर्देश [illegible] के लिये अनिवार्य प्रसंग पर पशुहत्या करने देना आदि हिंसात्मक कार्य अहिंसा की दिशा तरफ होने से अहिंसात्मक हैं। इसलिये सभी धर्म अहिंसा का समर्थन करते हैं।

प्रश्न—यह ठीक है कि सभी धर्म अहिंसा की तरफ दृष्टि रखते हैं उनमें जो हिंसा-विधान पाये जाते हैं उनमें उन धर्मों का कोई अपराध नहीं है इसलिये सभी धर्म आदरणीय हैं। यहां तक ठीक है, पर सभी धर्म समानरूप से पालनीय नहीं हो सकते। जो धर्म कम विकसित लोगों में पैदा हुआ है उसका दर्जा कुछ न कुछ नीचा अवश्य है। ऐसी हालत में सभी धर्मों में समभाव कैसे पैदा होगा। और जो लोग छोटी सी ही धर्म को मानते हैं उनके कार्य का समर्थन कैसे किया जा सकेगा ? या उन्हें धर्म के विषय में समान कैसे माना जा सकेगा ?

उत्तर—धर्म को अभिमान का विषय बनाना अमृत को विष बनाने के समान है इसलिये अमुक का धर्म छोटा और हमारा धर्म बड़ा यह अभिमान न रखना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि हरएक धर्म में कोई ऐसी बात निकल आती है जो दूसरे धर्मों में उतनी मात्रा में नहीं पाई जाती इसलिये किसी एक दृष्टि से बड़ेपन का विचार न करना चाहिये। अहिंसा की दृष्टि से यदि जैनधर्म महान है तो दीन-सेवा की दृष्टि से ईसाई धर्म महान है, भ्रातृभाव और ब्याज न खाना (अपरिग्रह) की दृष्टि से इसलाम प्रधान है। बौद्धधर्म में इसलाम और ईसाई धर्म की दोनों विशेषताएँ काफी मात्रामें हैं हिन्दूधर्मकी समन्वयात्मक भिन्नता असाधारण है। इसलिये सब दृष्टियों से किसी को बड़ा नहीं कहा जा सकता और एक एक दृष्टि से तो प्राय: सभी बड़े हैं।

तीसरी बात यह कि अभिमान की चीज धर्म नहीं है धर्माचरण है। यद्यपि धर्माचरण का भी अभिमान न करना चाहिये फिर भी महत्ता धर्माचरण की है। कोई बड़े शहर में भिखारी और मूर्ख हो सकते हैं और छोटे शहर में लखपति और चतुर हो सकते हैं महत्ता अपनी योग्यता से है शहर से नहीं। इसी प्रकार महत्ता धर्माचरण [नैतिक जीवन] से है धर्म संस्था की सदस्यता से नहीं। यह तो जन्म की बात है किसी भी धर्मसंस्था में जन्म हो गया।

चौथी बात यह है कि धर्म संस्था की महत्ता से धर्म संस्थापक की महत्ता का माप नहीं लगाया जा सकता। जैसे एक ही योग्यता के चार पाठक छोटी बड़ी चार कक्षाओं को ऊँचा नीचा पाठ्य विषय पढ़ायेंगे पर उनकी कक्षा की तरतमता उनके ज्ञान की तरतमता की सूचक नहीं है।

पहिली कक्षा पढ़ाने वाला और चौथी कक्षा पढ़ानेवाला, ये दोनों समान योग्यता रखकर भी कक्षा के छात्रों की योग्यता के अनुसार ऊँचा-नीचा कोर्स पढ़ावेंगे। इसी प्रकार दो धर्मों के संस्थापक समान योग्यता रखकर भी परिस्थिति के अनुसार ऊँचा-नीचा कोर्स पढ़ावेंगे। यह बहुत सम्भव है कि हजरत मुहम्मद अगर ढाई हजार वर्ष पहिले भारतवर्ष में पैदा होते तो महात्मा महावीर और महात्मा बुद्ध से बहुत कुछ मिलते जुलते होते। और महात्मा महावीर या महात्मा बुद्ध डेढ़ हजार वर्ष पहिले अरब में पैदा होते तो हजरत मुहम्मद से मिलते जुलते होते। इसलिये धर्म संस्थाओं की तुलना से धर्म संस्थापकों की तुलना न करना चाहिये।

पाँचवीं बात यह है कि सभी धर्म अपूर्ण हैं अथवा यह कहना चाहिये कि वे अमुक देश-काल व्यक्ति के लिये पूर्ण हैं इसलिये किसी युग में सभी धर्म समान पालनीय नहीं हो सकते। उनमें से अनावश्यक बातें निकाल देना चाहिये। या गौण करना चाहिये। और आवश्यक बातें जोड़ देना चाहिये।

जैसे-हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था आज विकृत होगई है, वह मुर्दा होकर सड़ रही है, उसे या तो मूल के रूप में लाना चाहिये या नष्ट कर देना चाहिये। इस समय नष्ट करना ही सम्भव है इसलिये वही करना चाहिये। वर्ण व्यवस्था नष्ट हो जाने से शूद्राधिकार की समस्या हल हो जायगी। रही स्त्रियों की बात, सो हिन्दू शास्त्रों में नारी के अधिकारों में जो कमी है वह पूरी करना चाहिये। जैन धर्म की साधु संस्था आज अकर्मण्य या निरुपयोगी हो गई है, आज ऐसी एकान्त निवृत्तिमय साधु संस्था शुभप्रवृत्तिमय होकर पाप बन गई है उसे नष्ट करना चाहिये और सांख्ययोग के स्थान में कर्मयोग को मुख्यता देना चाहिये। बौद्ध धर्म में अहिंसा का रूप विकृत हो गया है मृतमांस-भक्षण का विधान दूर करना चाहिये। मांस-भक्षण-निषेध को जोरदार बनाना चाहिये। महायान सम्प्रदाय के द्वारा आये हुए अनेक कल्पित देव-देवी दूर होना चाहिये। ईसाई धर्म का पोपडम तो नष्ट हो ही चुका है। बाइबिल में ऐसे अधिक विधिविधान नहीं हैं जिनपर कुछ विशेष कहा जा सके। जो अव्यवहार्य बातें थीं वे सब तोड़ी जा चुकी हैं बल्कि उनकी प्रतिक्रिया हो चुकी है। धनियों को स्वर्ग में प्रवेश न मिलने की बात की प्रतिक्रिया आज भयंकर साम्राज्यवाद के रूप में हो रही है। इन सब में सुधार होने की जरूरत है। और जो बाइबिल में नैतिक उपदेश हैं वे ठीक हैं। महात्मा ईसा के जीवन में जो अतिशयों की कल्पना है वह जाना चाहिये। अन्य धर्मों में भी यह बीमारी है वह वहाँ से भी जाना चाहिये। मांस भक्षण आदि का जो कम प्रतिबन्ध है वह कुछ अधिक होना चाहिये इसलाम में जो पशुबलि आदि के विधान हैं जो उस समय अधिक हिंसा रोकने के लिये बनाये गये थे वे आज अनुचित हैं। मूर्तिपूजा का विरोध भी अब आवश्यक नहीं है ये सुधार कर लेना चाहिये।

ये तो नमूने हैं सुधार करने की सब जगह काफी जरूरत है। इसलिये धर्मों की पालनीयता सब में समान नहीं है। पर सब में इतनी समानता जरूर है कि देशकाल के अनुसार उनमें सुधार कर लिया जाय और उनकी नीति व्यापक और उदार बनाई जाय।

इन पाँच बातों का विचार कर लेने पर धर्मों की तरतमता पर दृष्टि न जायगी और तरतमता के नाम से पैदा होनेवाला मद दूर होजायगा। सभी धर्मों में भगवती अहिंसा की छत्र छाया दिख पड़ेगी। यह दृष्टि की विकलता का ही परिणाम है कि हमें सब धर्मों में विराजमान भगवती अहिंसा के दर्शन नहीं होते।

दृष्टि की विकलता के कारण प्रवृत्ति निवृत्ति आदि का रहस्य समझ में नहीं आपाता है। अन्यथा सभी धर्मों में पाप से निवृत्ति और विश्व-

कल्याण में प्रवृत्ति का विधान है। साधु-संस्था आदि के रूप में कहीं निवृत्ति प्रधानता या प्रवृत्ति-प्रधानता पाई जाती है वह देशकाल के अनुसार थी उसमें आज के देशकाल के अनुसार सुधार कर लेना चाहिये। मूर्तिपूजा अमूर्तिपूजा आदि का विरोध भी दृष्टि की विकलता का परिणाम है। साधारणतः मूर्तिपूजा किसी न किसी रूप में रहती ही है उनके किसी एक रूप का विरोध देशकाल को देखकर करना पड़ता है, जैसे इसलाम को करना पड़ा। देवदेवियों की मूर्तियाँ दलबन्दी का कारण थीं इसलिये वे हटादी गई। पर मक्का की पवित्रता, अमुक पत्थर का आदर (जो कि एक तरह का मूर्तिपूजा है) रहा, क्योंकि इससे दलबन्दी नहीं होती थी बल्कि एकता होती थी। मूर्तिपूजा के अमुक रूप के विरोध को देखकर किसी धर्म को मूर्तिपूजा का विरोधी समझ लेना व्यापक दृष्टि के अभाव का परिणाम है।

यों भ्रूणोपम धर्मों को छोड़कर किसी धर्म में मूर्ति की पूजा नहीं की जाती, सब में मूर्ति के द्वारा किसी भगवान की या आदर्श की पूजा की जाती है। जहां मूर्ति के द्वारा प्रभु का गुणगान किया जाता है मूर्ति का गुणगान नहीं किया जाता, वहां मूर्ति की पूजा नहीं कही जासकती मूर्ति का अवलम्बन ही कहा जासकता है अवलम्बन लेने में कोई बुराई नहीं है। मूर्ति पूजा का विरोध करने वाला मुसलमान भी मसजिद का अवलम्बन लेता है, उसके विषय में मन में आदर भी रखता है, किब्ला की तरफ मुँह करके ही नमाज पढ़ता है, यह सब मूर्ति अवलम्बन है। दूसरे धर्मों में भी मूर्ति अवलम्बन पाया जाता है। हां! पुराने जमाने में जहां भ्रूणोपम तीर्थों के कारण मूर्ति की पूजा की जाती थी और उससे अनेक अनर्थ भी होते थे, उसे रोकने के लिये मूर्ति के उपयोग का निषेध किया गया, जैसे इस्लाम ने किया यह उस जमाने को देखते हुए ठीक ही था। पर आजकल मूर्ति का जो अवलम्बन है, जो इस्लाम सरीखे मूर्तिपूजा विरोधी धर्म में भी पाया जाता है वह उचित और अमुक अंश में आवश्यक है। मूर्ति की पूजा का निषेध और मूर्ति के द्वारा पूजा (मूर्ति अवलम्बन) का विधान इन दोहों में स्पष्ट हुआ है—

मूर्ति-अमूर्ति विरोध क्या दोनों सद्व्यवहार।
दोनों का उपयोग है रुचि अवसर अनुसार॥
'मूर्ति बिना पूजा नहीं यह कहते नादान।
मूर्ति में न भगवान है मन में है भगवान॥
समझ रहे जो भूल से पत्थर को भगवान।
उनकी पूजा व्यर्थ है वे भोले नादान॥
अतिशय माना मूर्ति में किया मूर्ति गुणगान।
तो पत्थर पूजा हुई दिख न सका भगवान॥
है न मूर्ति की प्रार्थना है प्रभु का गुणगान।
प्रभु को पढ़ने के लिये है यह ग्रन्थ समान॥
जिसे अपढ़ भी पढ़ सकें ऐसा है यह ग्रन्थ।
बाल वृद्ध सब के लिये सरल मूर्ति का पंथ॥
मूर्ति की न पूजा हुई हुआ देव गुणगान।
अवलम्बन ले मूर्ति का पूजलिया भगवान॥

इस प्रकार विशाल दृष्टि से काम लिया जाय तो धर्मों में विरोध का भ्रम दूर हो जाय।

४ अनुदारता के संस्कारों का त्याग—समभाव में बाधा डालनेवाले कारणों में चौथा कारण है अनुदारता के संस्कार। हमारा धर्म ही सच्चा है बाकी सब धर्म झूठे हैं मिथ्यात्व हैं नास्तिक हैं इस प्रकार के संस्कार बाल्यावस्था से ही डाले जाते हैं इसका फल यह होता है कि उसे अपनी हरएक बात में सच्चाई ही सच्चाई दिखाई देने लगती है और दूसरे की बातों में बुराई ही बुराई। हिन्दू सोचता है नमाज भी कोई प्रार्थना है। न कोई स्वर संगीत न कोई आकर्षण। मुसलमान सोचता है गलाफाड़ फाड़ कर चिल्लाना भी क्या कोई प्रार्थना है! एक पूर्व दिशा की बुराई करता है एक पश्चिम की। एक संस्कृत की बुराई करता है एक अरबी की। कुसंस्कारों के कारण वह यह नहीं सोच सकता कि कभी किसी को स्वर संगीत की जरूरत होती है कभी शान्ति और ...

की। जिसकी जैसी रुचि हो उसको उसी ढंग से काम करने देना चाहिये। खेद तो इस बात का है कि परनिन्दा आदि के संस्कार जितने डाले जाते हैं उतने असली धर्म के (सत्य अहिंसा सेवा शील त्याग इमानदारी आदि के) नहीं डाले जाते। अगर असली धर्म की तरफ हमारा ध्यान आकर्षित किया जाय तो सभी धर्मों में हमें असली धर्म दिखाई देने लगे। और धर्म के नाम पर हम सब से प्रेम करने लगें, एक दूसरे के घर के समान एक दूसरे के धर्मस्थानों में आने लगें, जिस विविधता में हमें विरोध दिखाई देता है उसमें अनेक रसवाले भोजन की तरह विविधता का आनन्द आने लगे। इसलिये बालकों के ऊपर ऐसे ही समभावी संस्कार डालना चाहिये जिससे वे एकरूपता के गुलाम न हों एकता के प्रेमी हों। इस प्रकार के संस्कारों से धर्मों का पारस्परिक विरोध दूर हो जायगा।

५ सर्वज्ञता की उचित मान्यता-प्राय हर-एक धर्मवाले ने यह मानलिया है कि हमारे धर्म का प्रणेता सर्वज्ञ था। किसी ने मनुष्य को सर्वज्ञ माना, किसी ने ईश्वर को सर्वज्ञ मानकर अपने धर्म की जड़ वहां बताई किसी ने अपने धर्म को अपौरुषेय-प्राकृतिक-मानकर प्राणिमात्र की शक्ति से परे बताया। मतलब यह कि प्राय हरएक धर्म का अनुयायी यह दावा करता है कि जो कुछ जानने लायक था वह सब जानलिया गया। उससे अधिक जाना नहीं जासकता। इससे अधिक जानने का जो दावा करते हैं वे झूठे हैं। सर्वज्ञता के इस अनुचित रूप ने सुधार का और विकास का रास्ता तो बन्द कर ही दिया, साथ ही अपने ही धर्म के समान जनकल्याण करनेवाले अन्य धर्मों का तिरस्कार कराया, घृणा कराई।

सर्वज्ञता की मान्यता अनेक तरह की है।

१-अनन्तकाल और अनन्त क्षेत्र के समस्त पदार्थों का प्रतिसमय युगपत् प्रत्यक्ष।

२-उपर्युक्त पदार्थों का क्रम से प्रत्यक्ष।

३-किसी भी समय के किसी भी क्षेत्र के पदार्थ का इच्छानुसार प्रत्यक्ष।

४-समस्त शास्त्रों का ज्ञान

५-धर्मशास्त्र का परिपूर्ण ज्ञान।

६-अपने जमाने की सब से बड़ी विद्वत्ता।

७-लोगों की जिज्ञासाओं को शान्त करने योग्य ज्ञान।

८-आत्मज्ञान।

९ कल्याण मार्ग के लिये उपयोगी बातों का अनुभवमूलक पर्याप्त ज्ञान।

१-यह मान्यता असम्भव और अनर्थकर है। इसमें बहुतसी बाधाएं हैं पहिली बाधा यह है कि पदार्थ की अवस्थाएँ अनन्त हैं और सबका प्रत्यक्ष करने के लिये एक अन्तिम अवस्था का जानना जरूरी है परन्तु वस्तु की कोई अन्तिम अवस्था ही नहीं है। तब उसका पूर्ण प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। अन्तिम अवस्था जान लेने पर वस्तु का अन्त आजायगा जोकि असम्भव है। दूसरी बाधा यह है कि एक समय में एक ही उपयोग हो सकता है अगर हम दस मनुष्यों को एक साथ देखें तो हमें सामान्य मनुष्यज्ञान होगा दस मनुष्यों का जुदा-जुदा विशेषज्ञान नहीं। इसलिये अगर कोई त्रिकाल त्रिलोक का युगपत् प्रत्यक्ष करे तो उसे सब पदार्थों की सब अवस्थाओं में होनेवाली समानता का ज्ञान होगा। सब वस्तु और सब अवस्थाओं का ज्ञान नहीं।

प्रश्न—बहुत से लोग एक ही समय में अनेक तरफ उपयोग लगा सकते हैं। साधारण लोग भी एक ही समय में बहुत सी चीजों का प्रत्यक्ष कर लेते हैं तब युगपत् प्रत्यक्ष में क्या आपत्ति है?

उत्तर—अग्नि की एक छोटी सी मशाल अगर जोर से घुमाई जाय तो वह मशाल जितनी जगह में घूमेगी उतनी जगह में सब जगह एक साथ दिखाई देगी पर एक समय में वह रहती

है एक ही जगह। इसी प्रकार जब बहुत जल्दी-जल्दी उपयोग बदलता है तब वह ऐसा मालूम होता है मानों सब जगह एक साथ है। यह एक भ्रम है जो शीघ्रता के कारण हो जाता है।

तीसरी बाधा यह है कि असत् का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जब पदार्थ किसी माध्यम के द्वारा हमारी इन्द्रिय और मन पर प्रभाव डालता है तब उसका प्रत्यक्ष होता है जो पदार्थ नष्ट ही हो चुके या पैदा ही नहीं हुए वे क्या प्रभाव डालेंगे तब उनका प्रत्यक्ष कैसे होगा इसलिये भी त्रिकाल-त्रिलोक के पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

२-क्रम से प्रत्यक्ष भी असम्भव है। क्यों कि अनन्त क्षेत्र और अनन्त काल का क्रम से प्रत्यक्ष किया जाय तो अनन्त काल लग जायगा। और मनुष्य का जीवन तो बहुत थोड़ा है। इसलिये अनन्त का क्रम से भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि क्रम से प्रत्यक्ष में पहिले जानी हुई बातों की धारणा करना पड़ती है। जब मर्यादा से अधिक धारणा की जायगी तब पुरानी बातों की धारणा मिटने लगेगी। इस प्रकार क्रम से प्रत्यक्ष मे न तो सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं और-अगर किसी तरह जाने भी जाँय तो-न उनका धारण करना सम्भव है।

३-यह भी असम्भव है क्योंकि असत् पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। बिना माध्यम के हम किसी पदार्थ को नहीं जान सकते।

४-शास्त्र रचना की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसी सर्वज्ञता सम्भव थी। अब शास्त्र नाम का वृक्ष इतना महान और शाखाप्रशाखा-बहुल हो गया है कि उन सब को छू सकना एक मनुष्य की शक्ति के बाहर है।

पांच में आठ तक की परिभाषाएँ साधारणत. ठीक हैं। भूतकाल में इन परिभाषाओं का उपयोग भी काफी हुआ है। अन्तिम अर्थात् नवमी अधिक अच्छी है। तीर्थंकर पैगम्बर आदि इसी परिभाषा के अनुसार सर्वज्ञ होते हैं। इसलिये उनके वचन काफी विश्वसनीय हैं।

इस सर्वज्ञता से सब विषयों के विशेष ज्ञान की आशा न करना चाहिये और न अन्य विषयों में इनके वचन प्रमाण मानना आवश्यक है। धर्म विषय में भी यही कहा जा सकता है कि वह अपने युग का सर्वज्ञ था। देशकाल पात्र के बदलने से जो जो परिस्थितियाँ पैदा होसकती हैं और भविष्य में हो जायँगी उन सब का पूर्ण ज्ञान उसे नहीं था। इसलिये आज अगर ऐसी परिस्थितियाँ पैदा होगई हैं जिसके लिये पुराने विधान काम नहीं देसकते तो हमें अपने युग के अनुकूल विधान बना लेना चाहिये, दूसरे धर्मों में अगर कोई विशेष बात पाई जाती है तो उसे अपना लेना चाहिये। इस प्रकार सुधार के लिये सदा तैयार रहना चाहिये। अपने धर्म को सदा के लिये परिपूर्ण न समझना चाहिये।

इन पांच बातों पर विचार करने से धर्म विरोध दूर होजाता है।

धर्म ने जीवन का सभ्यता संस्कृति का बहुत बड़ा भाग घेर लिया है, उसमें समन्वय या सम-भाव न होने पर जीवन का विकास रुकजाता है और सहयोग भी टूट जाता है। इसलिये धर्म-समभाव आवश्यक है।

इसका पूरा मतलब यह है कि जीवन के प्रत्येक आचार-विचार में निष्पक्षता होना चाहिये जो मेरा है वह सत्य है, इसके बदले जो सत्य है वह मेरा है, यह भावना होना चाहिये।

इसके सिवाय एक बात यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि कोई बात हमारे लिये हितकर नहीं है किन्तु दूसरा उससे लाभ उठा रहा है तो उसके प्रति सहानुभूति रखना चाहिये हम जो भाषा बोलते हैं, हम जिसप्रकार के विचार का पालन करते हैं, हम जिसप्रकार [illegible]

भोजन पसन्द करते हैं उसके सिवाय दूसरे प्रकारों की हँसी उड़ाना, या द्वेष करना ठीक नहीं। इसकी अगर आलोचना करना हो तो अपने पराये का भेद भूलकर, सुविधा-असुविधा का विचार कर, तथा अन्य हानि लाभका विचारकर, करना चाहिये।

धर्म समभाव सब की चापलूसी नहीं है, विवेक को तिलाञ्जलि नहीं है किन्तु सब के दोषों तथा युगबाह्यताओं को दूर कर गुणों का ग्रहण है, धार्मिक अहंकार और पक्षपात का त्याग है, और निःपक्षतापूर्वक विनयपूर्ण आलोचना भी।

योगी होने के लिये यह सवधर्म-समभाव आवश्यक है।

गीत

मिलायें सब धर्मों का सार।
हम सब का निचोड़ लेआयें।
धर्म और विज्ञान मिलायें॥
युगयुग की यह प्यास बुझायें, पियें पिलायें प्यार।
मिलायें सब धर्मों का सार॥ १॥

सब रस मिलें सजायें थाली।
भिन्न भिन्न फूलों के माली॥
संस्कृतियाँ सब बने समन्वित सुधरें लोकाचार।
मिलायें सब धर्मों का सार॥ २॥

भूत भविष्य न लड़ने पायें।
वर्तमान से हिल मिलजायें॥
देश देश की काल काल की बहे समन्वय धार।
मिलायें सब धर्मों का सार॥ ३॥

मानवता का गाना गायें।
सर्वधर्म समभाव सुनायें॥
भिन्न भिन्न हों तार किन्तु हो मिली जुली झंकार।
मिलायें सब धर्मों का सार॥ ४॥

३ जाति-समभाव (जीनो सम्मभावो)

योगी का तीसरा चिह्न जातिसमभाव है। हाथी घोड़ा सिंह ऊंट आदि जिस प्रकार एक एक तरह के प्राणी हैं उसी प्रकार मनुष्य भी एक तरह का प्राणी है। मनुष्य शब्द पशु शब्द की तरह नाना तरह के प्राणियों के समुदाय का वाचक नहीं है, किन्तु सिंहादि शब्दों की तरह एक ही तरह के प्राणी का वाचक है। यों तो व्यक्ति व्यक्ति में भेद हुआ करता है और उन भेदों का थोड़ा बहुत वर्गीकरण भी हो सकता है परन्तु उन वर्गों को जातिभेद का कारण नहीं कह सकते। जातिभेद के लिये सहज दाम्पत्य का अभाव और आकृति की अधिक विषमता आवश्यक है। मनुष्यों में ऐसी विषमता नहीं पाई जाती और उनमें दाम्पत्य स्वाभाविक और सन्तानोत्पादक होता है। किसी भी जाति के पुरुष का सम्बन्ध किसी भी जाति की स्त्री से होने पर सन्तानोत्पत्ति होगी। शरीरपरिमाण आदि के अन्तर की बात दूसरी है। इससे मालूम होता है कि मनुष्यमात्र एक जाति है।

प्रायः सभी धर्मशास्त्रों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि सभी मनुष्यों की एक जाति है। आज जो इनके भेद-प्रभेद दिखाई देते हैं वे मौलिक नहीं हैं। वातावरण आदि के कारण पैदा होनेवाले भेद मनुष्य की एक जातीयता को नष्ट नहीं कर सकते।

वैदिक शास्त्रों में मनुष्यों को मनुसन्तान कहा है इससे उनमें एकजातीयता ही नहीं एक कौटुम्बिकता भी सिद्ध होती है। इसलाम और ईसाई धर्म के अनुसार सब मनुष्य आदम की सन्तान हैं इसलिये भी उनमें भाईचारा सिद्ध होता है। जैनशास्त्रों के भोगभूमि युग के वर्णन से मनुष्यमात्र की एक जाति की मान्यता सर्व-सम्मत मालूम होती है। इस प्रकार प्राकृतिक दृष्टि से और शास्त्रों की मान्यता से सब मनुष्यों

की एक जाति सिद्ध होती है।

इतना होने पर भी आज मनुष्य जाति अनेक भागों में विभक्त है। इसके कारण कुछ भी हों, परन्तु इससे जो अधर्म हो रहा है, जो विनाश हो रहा है, दुःख और अशान्ति का जो विस्तार हो रहा है, वह मनुष्य सरीखे बुद्धिमान प्राणी के लिये लज्जा की बात है। बुद्धि तो पशुओं में भी होती है, परन्तु मनुष्य की बुद्धि कुछ दूर तक की बात विचार सकती है। लेकिन इस विषय में उसकी विचारकता व्यर्थ जाती देखकर आश्चर्य और खेद होता है।

मनुष्य भी एक सामाजिक प्राणी है, बल्कि अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह बहुत अधिक सामाजिक है। इसलिये सहयोग और प्रेम उसमें कुछ अधिक मात्रा में और विशाल रूप में होना चाहिये। परन्तु जातिभेद की कल्पना करके मनुष्य ने सहयोग के तत्व का नाश सा कर दिया है, इससे अन्य अनेक अन्यायों और दुःखों की सृष्टि कर डाली है। जाति की कल्पना से जो कुछ हानियाँ हुई हैं और होती हैं उनमें मुख्य मुख्य ये हैं।

१-विवाह का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। इससे योग्य चुनाव में कठिनाई होने लगती है। और अल्पसंख्यक होने पर जाति का नाश हो जाता है।

२-कभी कभी जब युवक-युवती में आपस में प्रेम हो जाता है, और वह दाम्पत्य-रूप धारण करना चाहता है, तब यह जातिभेद की दीवाल उनके जीवन का नाश कर देती है। या तो उनको आत्महत्या करना पड़ती है अथवा बहिष्कृत जीवन व्यतीत करने से अनेक प्रकार की दुर्दशा भोगना पड़ती है।

३-जाति के नामपर बने हुए दल लड़-झगड़ कर एक दूसरे का नाश करते हैं। न खुद चैन से बैठते हैं, न दूसरों को चैन से बैठने देते हैं।

४-जातीय पक्षपात के कारण मनुष्य अपनी जाति के अन्याय का भी पोषण करता है, और दूसरी जाति के न्याय का भी विरोध करता है। अन्त में न्याय के पराजय और अन्याय के विजय का जो फल हो सकता है, वह मनुष्य-जाति को ही भोगना पड़ता है।

५-विवश होकर मनुष्य को कूपमंडूक बनना पड़ता है, क्योंकि वह घर के बाहिर निकल कर सजातीयों के अभाव से वहां टिक नहीं सकता। जब सारी जाति की जाति इस विषय में विशेष उद्योग करती है, तब कहीं थोड़ा-बहुत क्षेत्र बढ़ता है। परन्तु इस कार्य में शताब्दियाँ लग जाती हैं तथा बाहिर निकलने पर भी कूपमंडूकता दूर नहीं होती।

६-अपना क्षेत्र बढ़ानेके लिये दूसरी जातियों का नाश करना पड़ता है। इससे दोनों तरफ के मनुष्यों का नाश और धन नाश होता है तथा चिरकाल के लिये वैर बन जाता है।

७-एक ऐसा अहंकार पैदा होता है जिसे मनुष्य पाप नहीं समझता जब कि द्वेषात्मक तथा अनेक पापों का कारण होने से वह महा-पाप है।

८-ईमानदार मनुष्यों में भी जातिभेद के कारण अविश्वास रहता है। इससे सहयोग नहीं होने पाता। इससे उन्नति रुकती है। लोकोप-कारक संस्थाएँ भी पारस्परिक उपेक्षा और वैर के कारण सारहीन तथा अकिञ्चित्कार हो जाती हैं।

इस प्रकार की अनेक हानियाँ हैं। यदि जातिभेद की दुर्वासना को नष्ट कर दिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्यजाति के [illegible] का एक बड़ा भारी भाग नष्ट हो जाय। [illegible] सुविधा के लिये कुटुम्बी, सम्बन्धी तथा मित्र [illegible] की आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को होती है, उसकी रचना हुआ करे। ये सब रचनाएँ तो [illegible] किक जीवन में समाजाती हैं। इनमें कोई [illegible] गत बुराई नहीं है। सम्बन्ध तो चाहे जिस मनु[illegible] के साथ किया जा सकता है और उसे मित्र

बनाया जा सकता है। इसलिये इसमें जन्मगत या उसके समान कट्टरता नहीं है और न इसका क्षेत्र इतना विशाल हो सकता है कि समाज को क्षुब्ध करने वाला बुरा असर डाल सके।

जातिभेद की कल्पना के द्वारा अगणित हैं अहंकार का पुजारी यह मनुष्य-प्राणी न जाने कितने ढंग से जातिमद की पूजा किया करता है। उन सबका गिनाना तो कठिन है और उनको गिनाने की इतनी जरूरत भी नहीं है, क्योंकि जातिमद के दूर हो जाने से इसके विविधरूप दूर हो जाते हैं। फिर भी स्पष्टता के लिये उदाहरण के तौरपर उनपर विचार कर लेना उचित है, जिससे यह मालूम हो जाय कि किस तरह का जातिभेद किस तरह की हानि कर रहा है, और उसे हटाने के लिये हमें क्या करना चाहिये।

रंग भेद (रंगो थको)—जिन लोगों के यहां छोटा छोटा जातिभेद नहीं है, उनके यहां भी भूरी, पीली, काली लाल जातियों का भेद बना हुआ है। चीन और जापान पीली जाति के लोग माने जाते हैं। इसमें अवसिष्ट एशिया के अन्य दक्षिणी प्रदेशों का बहुभाग तथा आफ्रिका के मूल निवासी काली जाति के माने जाते हैं। अमेरिका में भी ये लोग बसे हुए हैं। अमेरिका के मूलनिवासी लाल जाति के [रेड इंडियन] कहलाते हैं जिनकी संख्या अब बहुत थोड़ी है। यूरोपीय लोग, वे यूरोप में हों या अन्यत्र, भूरी जाति के लोग कहलाते हैं। यह जातिभेद काफ़ी व्यापक रूप में बहुत जगह फैला हुआ है।

इसी रंगभेद की अंधांधता का फल है कि एक रंगवाले लोगों ने दूसरे रंग के खासकर आफ्रिका के काले रंग के लोगों को पशु की तरह पैदा कराया और मौत के घाट उतारा। कानून में उनकी हत्या का कोई दण्ड नहीं था। अभी भी यह भेद मिटा नहीं है यद्यपि कम है फिर भी काफी मात्रा में यह भेद बना हुआ है। आज भी [illegible] होते हैं आज भी नीग्रो के [illegible] में [illegible] मौजूद है।

यह वर्णभेद मौलिक है, यह बात कोई सिद्ध नहीं कर सकता। जहां हम रहते हैं, वहां के जलवायु का जो प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है, उसीसे हम काले गोरे आदि बन जाते हैं। वही रंग सन्तान प्रति सन्तान से आगे की पीढ़ी को मिलता जाता है। परन्तु अगर जलवायु प्रतिकूल हो तो कई पीढ़ियोंमें वह बिलकुल बदल जाता है। हां, इसमें सैकड़ों वर्ष अवश्य लग जाते हैं क्योंकि जलवायु का प्रभाव बाहिरी होता है और माता-पिताके रजवीर्यका प्रभाव भीतरी। परन्तु मौलिक रूप में यह रंग-भेद शीत उष्ण आदि वातावरण के भेद का ही फल है। गोरी जातियाँ अगर गरम देशों में बस जाँय तो कुछ शताब्दियों के बाद वे काली हो जाँयगी और काली जातियाँ अगर ठंडे देशों में बस जाय तो वे कुछ शताब्दियों के बाद गोरी हो जायगी। इसलिये काले गोरे आदि भेदों से मनुष्य-जाति के टुकड़े कर डालना, न्याय की पर्वाह न करके एक रंग का दूसरे रंग पर अत्याचार करना मनुष्यता का दिवाला निकाल देना है।

मनुष्य की जो मौलिक विशेषताएँ हैं, वे सभी रंग के मनुष्यों में पाई जाती हैं। गोरे मनुष्य दयालु भी होते हैं और क्रूर भी, ईमानदार भी होते हैं, और बेईमान भी। यही हाल काले, पीले आदि का भी है। एक काला आदमी गोरे की सेवा करे, सहायता दे और दूसरा गोरा आदमी उसे धोखा दे, लूटले, तो उस गोरे को वह काला आदमी अच्छा मालूम होगा और वह गोरा बुरा। मनुष्यता की, हृदय की, न्यायकी आवाज यही है मनुष्य पशुओं तक से मित्रता रखता है। एक गोरा मनुष्य काले घोड़ेसे प्रेम कर सकता है, और एक काला आदमी सफेद घोड़े से, तब रंग-भेद के कारण मनुष्य मनुष्य से भी प्रेम न कर सके, यह कैसी आश्चर्यजनक मूढ़ता है।

सभी रंग के [illegible] नहीं आते कभी एक रंगवालों का प्रभुत्व होता है, कभी दूसरे रंगवालों का। उन्नत अवस्था में दूसरा रंग उन्नत बनाता

मनुष्यता है उसको पीस डालने की चेष्टा करना मनुष्यता का नाश है। इससे वंश परंपरा के लिये वैर ही बढ़ता है, और बारी बारी से सभी का नाश होता है। और वर्तमान में भी हम चैन से नहीं रहने पाते। ईमानदारी प्रेम आदि सद्गुण ही एक दूसरे को सुख देनेवाले हैं। ये जिनमें हो उन्हें ही अपना मित्र, बन्धु और सजातीय समझना चाहिये, भले ही वे किसी भी रंग के हो। जिन में ये न हो उन्हें ही विजातीय समझना चाहिये फिर भले ही वह अपना सगा भाई ही क्यों न हो। इस प्रकार की निःपक्षता को अगर हम रख सकें और उसका उदारता से उपयोग कर सकें तो मनुष्य में जो पशुत्व है उसका अधिकांश दूर हो जाय, ईर्ष्या, अशांति आदि का ताडव कम हो जाय। अगर ऐसा न होगा तो एक दिन ऐसा आयगा जब दुनिया के मनुष्य रंग के नामपर दो दल में बँटकर राक्षसी युद्ध करेंगे और जिसकी परम्परा सैकड़ों वर्षों तक जायगी और उस अग्नि में मनुष्य जाति स्वाहा हो जायगी।

जातिभेद को तोड़ने का उपाय तो हृदय की उदारता ही है। परन्तु इसका एक मुख्य निमित्त पारस्परिक विवाह सम्बन्ध है। जाति के नाम पर मनुष्यमात्र में वैवाहिक-क्षेत्र की कैद न होना चाहिये। अगर अधिक परिमाण में ऐसे विवाह सम्बन्ध होने लगें तो दोनों के बीचका अन्तर अवश्य ही कम हो सकता है। हां, इस काम में विवाह-सम्बन्धी समस्त सुविधाओं का खयाल अवश्य रखना चाहिये।

कहा जाता है कि काली, गोरी आदि जातियों के शरीर में गन्धकी एक विशेषता होती है जो एक दूसरे को दुर्गन्ध मालूम होती है। यह ठीक है। मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि यह रंगभेद जलवायु, भोजन आदि के भेदसे सम्बन्ध रखता है, इसलिये वर्णके समान गन्धमें भी थोड़ा बहुत भेद हो, यह स्वाभाविक है। परन्तु यह तो व्यक्तिगत बात है। अगर विभिन्न वर्णके दम्पति में प्रेम है, शारीरिक मिलन में भी उन्हें कष्ट नहीं मालूम होता तो इसमें किसी तीसरे व्या समाज को कुछ कहने की क्या जरूरत है इसमें दोनों को ही अपना अपना खयाल व लेना चाहिये।

जिनमें यह वर्णाभिमान अच्छी तरह घुस हुआ है, किन्तु नैतिक दृष्टि से जब वे इस जा[ति]मद का सहारा नहीं ले पाते, तब इस प्रकार व छोटी छोटी बातों को अनुचित महत्व देने लग है। अगर गंधभेद की यह बात इतनी भयंकर होती तो भारत में यूरेशियन—जो कि अपने व ऐंग्लोइंडियन कहते हैं—क्यों बनते? अमेरिक आदि देशों में इतना विरोध रहने पर भी ऐसे सम्बन्ध होते ही हैं। भारतीयों के पूर्वज भी ऐसे सम्बन्ध कर चुके हैं, इसलिये आज भी उनमें काले गोरे का भेद बना हुआ है, और यह भेद छोटी छोटी उपजातियों में भी पाया जाता है फिर जातियों में ही क्यों? प्रत्येक व्यक्ति के शरीर की गंध जुदी होती है, परन्तु इसीसे वैवाहिक सम्बन्ध का विस्तार नहीं रुकता। बल्कि वैवाहिक सम्बन्ध के लिये अमुक परिमाण में शारीरिक विषमता आवश्यक और लाभकर मानी जाती है, इसीलिये बहिन-भाई का विवाह शारीरिक दृष्टि से भी बुरा समझा जाता है। स्त्री-पुरुष के शरीर में ही रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की विषमता अमुक परिमाण में पाई जाती है। इसलिये ऐसी विषमताओं की दुहाई देकर मनुष्यजाति के टुकड़े नहीं करना चाहिये। अगर इस विषय पर कुछ विचार भी करना हो तो यह विचार व्यक्ति पर छोड़ना चाहिये। विवाह करनेवाला व्यक्ति इस बात को विचार ले कि जिसके साथ मैं सम्बन्ध जोड़ रहा हूँ उसकी गन्ध और रंग स्पर्श आदि मुझे सह्य हैं कि नहीं। यदि उसे कोई आपत्ति न हो तो फिर क्या चिन्ता है? एक बात और है कि कोई भी गंध हो, जिसके संसर्ग में हम आते रहते हैं उसकी उग्रता या कटुता चली जाती है। एक शाकभोजी मछलियों के बाजार में वमन कर देगा, परन्तु मछुओं को वहां सुगन्ध ही आती है। इसलिये गंधादि की दुहाई देना

अनर्थ है। हां, कोई शारीरिक विकार ऐसा हो जिसका दूसरे के शरीर पर बुरा प्रभाव पड़ता हो तो बात दूसरी है, उसका बचाव अवश्य करना चाहिये। परन्तु ऐसे शारीरिक विकार एक जाति उपजाति के भीतर भी पाये जा सकते हैं और दूर के जातिभेद में भी नहीं पाये जा सकते हैं इसलिये जातिभेद के नाम पर इन बातों पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है।

इस जातिभेद के नामपर एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि इस प्रकार के वर्णान्तर-विवाहों से सन्तान ठीक नहीं होती। अमुक जगह कुछ गोरों ने हब्शी स्त्रियों से शादी की परन्तु उनकी सन्तान गोरों के समान वीर, साहसी और बुद्धिमान न निकली। यह आक्षेप भी शताब्दियों के अंध-संस्कार का फल है। ऐसे आक्षेप करते समय वे उसके असली कारण को भूल जाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जिस बालक को समाज में लोग बराबरी की दृष्टि से नहीं देखते उसे नीच पतित और विजातीय समझकर थोड़ी बहुत घृणा रखते हैं, उसमें उस समाज के गुण नहीं उतरते। बच्चे को यदि समाज से बाहर कर दिया जाय तो पशु में और उसमें कुछ अन्तर न होगा। अभी मनुष्य में जातिभेद इतना अधिक है कि वर्णान्तर विवाह होनेपर भी साधारण मनुष्य उससे घृणा ही करता है। फल यह होता है कि इस विवाह की सन्तान को एक प्रकार का असहयोग सहन करना पड़ता है। इसलिये समाज के गुण बालक को अच्छी तरह नहीं मिलते। दूसरा कारण यह है कि सन्तान के ऊपर माता और पिता दोनों का थोड़ा थोड़ा प्रभाव पड़ता है। अब अगर उसमें से एक पक्ष अच्छा हो और दूसरा पक्ष हीन हो तो यह स्वाभाविक है कि सन्तति मध्यम श्रेणी की हो। इसलिये अपने अनुरूप व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। ऐसी हालत में सन्तति अवश्य ही अपने अनुरूप होगी। वीरता, बुद्धिमत्ता सदाचार आदि गुण ऐसे नहीं हैं कि उनका ठेका किसी जाति-विशेष ने लिया हो। सभी जातियों में इन गुणों का सद्भाव पाया जाता है। अगर कहीं किसी बात की बहुलता देखी जाती है तो उसका कारण परिस्थिति है, जाति नहीं। परिस्थिति के बदलने से बुरी जाति का मनुष्य अच्छा से अच्छा होजाता है। आफ्रिका के जो हब्शी अभी जंगली अवस्था में रहते हैं सदाचार और सभ्यता का विचार जिनमें बहुत ही कम पाया जाता है, उन्हीं में से बहुत से हब्शी अमेरिका में बसने पर अमेरिकनों सरीखे सभ्य सुशिक्षित हो गये हैं, हालांकि उनको जैसे चाहिये वैसे साधन नहीं मिले इससे मालूम होता है कि किसी भी गुण का ठेका किसी जाति विशेष-वर्ण-विशेष ने नहीं लिया है।

इसका यह मतलब नहीं है कि एक सुसभ्य नागरिक को जंगली लोगों से वैवाहिक सम्बन्ध अवश्य स्थापित करना चाहिये। उदारता के नाम पर अनमेल विवाह करने की कोई जरूरत नहीं है जरूरत सिर्फ इस बात की है कि हम जातिभेद के नामपर किसी को वैवाहिक सम्बन्ध में जुदा न समझें। एक जंगली व्यक्तिके साथ हम सम्बन्ध नहीं करते इसका कारण यह न होना चाहिये कि उसकी जाति बुरी है किन्तु यह होना चाहिये कि उसकी शिक्षा, सभ्यता, स्वभाव आदि से मेल नहीं खाता। जाति के नामपर जब हम किसी के साथ सम्बन्ध नहीं करते, तब उसका अर्थ यह होता है कि अगर वह सब बातों में हमारे समान और अनुकूल हो जाय तो भी हम उसे जुदा ही समझेंगे इस प्रकार हमारा भेदभाव सदा के लिये होगा। यही एक बड़ा भारी अनर्थ है इसलिये जातिभेद को दूर करने के लिये हम इस बात का दृढ़ निश्चय करले कि अगर हमें किसी के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ना है तो इसके कारण में हजार बातें कहें परन्तु उनमें जातिभेद का नाम न आना चाहिये सच्चे दिल से इस बात का पालन करना चाहिये।

राष्ट्रभेद (शौरअको)-जातिभेद के अन्य रूपों से राष्ट्र के नाम पर बने हुए जातिभेद में एक बड़ा भारी भेद है। अन्य जातिभेद राजनीति

से परम्परा-सम्बन्ध रखते हैं और बहुत सी जगह नहीं रखते है, परन्तु राष्ट्र के नामपर बना हुआ जातिभेद राजनीति के साथ साक्षात सम्बन्ध रखता है। और इसके नामपर बात की बात मे तलवारें निकल आती है, मनुष्य भाजी-तरकारी की तरह काटा जाने लगता है, और इसे कहते हैं देशप्रेम, देशभक्ति, राष्ट्रसेवा आदि।

राष्ट्र या देश आखिर है क्या वस्तु? पर्वत समुद्र आदि प्राकृतिक सीमा से रुद्ध मनुष्यों के निवासस्थान ही तो है। परन्तु क्या ये सीमाएँ मनुष्यों के हृदय को कैद कर सकती हैं? क्या ये मिट्टी के ढेर और पानी की राशि मनुष्यता के टुकड़े टुकड़े करने के लिये हैं? इन सीमाओं को तो मनुष्य ने इतिहासातीत काल से पार कर लिया है। न पहाड़ों के अभ्रङ्कश शिखर उसकी गति को रोक सके हैं, न अगाध जलराशि। और आज तो मनुष्यजाति ने इनपर इतनी अधिक विजय पाई है कि मानो ये सीमाएँ उसके लिये हैं ही नहीं। फिर समझ मे नहीं आता कि मनुष्य सीमाओं से घिरे हुए इन स्थानो के नामपर क्यों अहंकार करता है? क्यो लड़ता है? क्यों मनुष्यता का नाश करता है?

राष्ट्रीयता का जब यह नशा मनुष्य के सिर पर भूत की तरह सवार होता है, और जब मनुष्य हुंकार हुंकार कर दूसरे राष्ट्र को चबा डालना चाहता है, तब नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह मनुष्यता का यह सन्देश उसके कानो मे नहीं पहुँचता। परन्तु नशा उतरने के बाद जब उसके अंग अंग ढीले होजाते है, तब वह अपनी मूर्खता का अनुभव करता है। परन्तु शराबी इतने ही अनुभव से शराब नहीं छोड़ता। यही दशा राष्ट्रीयता के नशेबाजों की है। वे नशे के कटु अनुभव को शीघ्र ही भूलकर फिर वही नशा करते है। इस प्रकार राष्ट्रीयता के नशे मे चिरकाल से मनुष्यजाति का ध्वंस होता आ रहा है।

बड़े बड़े साम्राज्य खड़े हुए जिनने मनुष्य-जाति के अस्थि-पञ्जरासे अपना सिंहासन बनाया, कराहती हुई मनुष्यता की छाती पर जिनने रत्न-जटित सिंहासन जमाये, पर कुछ समय तक उन्मादी अत्याचारी जीवन व्यतीत करके अन्त मे धराशायी हो गये।

साम्राज्यवाद की यह भयंकर प्यास और राष्ट्रीयता का उन्माद प्रायः समस्त स्वतन्त्र राष्ट्रों को अशान्त और पागल बनाये हुए है। राज्य की जो शक्तियाँ मनुष्य की सुख-शान्ति के बढ़ाने मे काम आ सकती हैं, उनका अधिकांश मनुष्य के संहार मे लगा हुआ है। राज्य की आमदनी का बहुभाग सेना और लड़ाई की तैयारी मे खर्च होता है, मशीनें मनुष्य संहार की सामग्री तैयार करने मे लगी हुई है, वैज्ञानिकों की अधिकांश शक्तियाँ मनुष्य-संहार के आविष्कार में डटी हुई है, मानो इस पागल मनुष्यजाति ने मनुष्य जाति को नष्ट करना अपना ध्येय बनालिया हो आत्महत्या या नरक की सृष्टि करना ही इसका उद्देश बन गया हो।

यदि ये ही शक्तियाँ प्रकृति पर विजय पाने मे, उसका रहस्योद्घाटन करने में, उसके स्तन, से अमृतोपम दूध पीने मे, मनुष्य की मनुष्यता अर्थात मनुष्योचित गुणों के विकास करने में लगाई जाती तो सबल और निर्बल सभी राष्ट्र आज की अपेक्षा बहुत अधिक सुखी होते। जो आज असभ्य, अर्धसभ्य तथा निर्बल है, वे सबल और सभ्य बन होते और जो सबल हैं, सभ्य कहलाते हैं, वे घृणापात्र होने के बदले आदरपात्र बने होते। इस प्रकार उन्हे भी शान्ति मिली होती, तथा दूसरों को भी शान्ति मिली होती।

एक न एक दिन मनुष्य को यह बात समझना पड़ेगी। इस राष्ट्रीयता के उन्माद के कारण प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा तबाह होरही है। जिस प्रकार लुटेरे बड़ी बड़ी लूटें करके भी चैन से रोटी नहीं खा सकते, और आपस में ही एक दूसरे से डरते हैं, यही हालत साम्राज्यवादी लुटेरे राष्ट्रों की होती है। हरएक देश की प्रजा-पर लड़ाईके खर्च का बोझ इतना भारी होता है कि

उसकी कमर टूट जाती है, और भय तथा चिन्ता के मारे चैन से नींद नहीं आती। मनुष्य आज अपनी ही छाया से डरकर काप रहा है, मनुष्य जाति अपने ही अंगों से अपने अंग तोड़ रही है। प्राचीन युग में जिस प्रकार छोटे छोटे सरदार दल बांधकर आपस में लड़ने में अपना जीवन लगा देते थे, इस प्रकार कभी दूसरों को सताते थे, और कभी दूसरों से सताये जाते थे, इसी प्रकार आज मनुष्य जाति राष्ट्रीयता के क्षुद्र स्वार्थों के नाम पर लड़ रही है। पुराने सरदारों की क्षुद्र मनोवृत्ति पर आज का मनुष्य हँसता है, परन्तु क्या वही मनोवृत्ति कुछ विशाल रूप में राष्ट्रीयता के उन्माद में नहीं है? क्या वह भी हँसने लायक नहीं है? क्या मनुष्य किसी दिन अपनी इस मूर्खता और क्षुद्रता को न समझेगा?

हां! कभी कभी मनुष्य में राष्ट्रीयता पवित्र रूप में भी आती है, वह तब, जब कि वह मनुष्यता की दासी पुत्री-अंश बन जाती है। उस समय वह मनुष्यता का विरोध नहीं करती, सेवा करती है। सिपाही यदि सरकार का सेवक बन कर हमारे पास आवे तो हम उसका आदर करेंगे परन्तु यदि वह स्वयं सरकार बनकर हमारे सिर पर सवारी गाठना चाहे तो वह हमारा शत्रु है। इसी प्रकार जब राष्ट्रीयता, मनुष्यता की दासी बनकर, मनुष्यता के रक्षण के लिये आती है तब वह देवी की तरह पूज्य है। परन्तु जब वह मनुष्यता का भक्षण करने के लिये हमारे पास आती है तब वह शत्रु के समान है। मनु- के रक्षण के लिये, जीवन की शांति के लिये, हमें उसका परित्याग करना चाहिये।

यदि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के ऊपर आक्रमण करता है, उसे पराधीन बनाता है, या बनाये हुए है, इसलिये पीड़ित राष्ट्र अगर राष्ट्रीयता की उपासना करता है, तो वह मनुष्यता की ही उपासना है, क्योंकि इसमें अत्याचार या अत्याचारी का ही विरोध किया जाता है, मनुष्यता का नहीं। जिस प्रकार हिंसा पाप होने पर भी आत्मरक्षण [अन्याय्य आक्रमण से अपने को बचाना] में होनेवाली हिंसा पाप नहीं है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता पाप होने पर भी आत्मरक्षण के लिये—अत्याचार के विरोध के लिये- राष्ट्रीयता की उपासना पाप नहीं है। बल्कि जो राष्ट्र से भी छोटी छोटी दलबन्दियों के चक्कर में पड़ कर राष्ट्रीयता से भी अधिक मनुष्यता का नाश कर रहे हैं, उनके लिये राष्ट्रीयता आगे की मंजिल है। इसलिये वे अभी राष्ट्रीयता की पूजा करके मनुष्यता की ही पूजा करेंगे। उनकी राष्ट्रोपासना दूसरा के कट्टर राष्ट्रीयतारूपी पाप को दूर करने के लिये होगी।

राष्ट्रीयता के ऐसे अपवादों को छोड़कर अन्य किसी ढंग से राष्ट्रीयता की उपासना करना मनुष्य जाति के टुकड़े करके उसे विनाश के पथपर आगे बढ़ाना है। राष्ट्र को जाति का रूप दे देना तो एक मूर्खता ही है। मनुष्य में कोई जाति तो है ही नहीं परन्तु जिनको मनुष्य ने जाति समझ रक्खा है, उनका मिश्रण प्रत्येक जाति में हुआ है। भारतवर्ष में आर्य और द्रविड़ मिलकर बहुत कुछ एक होगये हैं। शक, हूण आदि भी मिल गये हैं। मुसलमानों के साथ भी रक्त-मिश्रण होगया है। अमेरिका तो अभी कल ही अनेक राष्ट्रों के लोगों से मिलकर एक राष्ट्र बना है। इसी प्रकार दुनिया के अन्य किसी भी देश के इतिहास को देखो तो पता लगेगा कि उसमें अनेक तरह के लोगों का मिश्रण हुआ है इससे मालूम होता है कि राष्ट्रभेद से भी जाति-भेद का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टि से भी मनुष्य-जाति एक है।

अहंकार का पुजारी यह कभी कभी पाप की पूजा को भी धर्मपूजा का रूप देता है शैतान को खुदा के वेष में सजाता है और स्तुति के लिये अच्छे शब्दों की रचना करता है। वह अहंकारपूर्ण कट्टर राष्ट्रीयता की पूजा के लिये सभ्यता संस्कृति आदि की दुहाई देता है। परंतु जुदे जुदे देशों की सभ्यता संस्कृति आदि आखिर क्या चीज़ है? और उसकी उपासना का क्या

अर्थ है? वेषभूषा और भाषा को अगर किसी राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति कहा जाय तब तो उसकी दुहाई देना व्यर्थ है। प्रत्येक देश की भाषा कुछ शताब्दियों के बाद बदलती रही है। जो प्राकृत भाषाएँ दो हजार वर्ष पहिले भारत में प्रायः सर्वत्र बोली जाती थी और जो अपभ्रंश भाषाएँ हजार वर्ष पहिले ही प्राकृत की तरह बोली जाती थीं, आज इनेगिने पंडितों को छोड़कर उन्हें कोई समझता भी नहीं, फिर बोलनेकी तो बात ही दूर है। अगर भाषा का नाम संस्कृति हो तब तो हम उसका त्याग ही कर चुके हैं। यह बात दूसरी है कि अहंकार की पूजा करने के लिये हम उन मृत भाषाओं के नाम के गीत गाते हों, परन्तु हमारे जीवन में उनका कोई व्यावहारिक स्थान नहीं रह गया है। लेटिन, संस्कृत आदि सभी भाषाओं की यही दशा है। इसलिये वह सभ्यता तो गई।

वेष-भूषा बदलने के लिये तो शताब्दियाँ नहीं, दशाब्दियाँ ही बहुत हैं। भारत के आर्य जो पोशाक पहिना करते थे, उसका कहीं पता भी नहीं है। उसके आगे की न जाने कितनी पीढ़ियाँ गुजर गईं? उत्तरीय वस्त्र के पीछे अंगरखा, कुरता, कोट, कमीज आदि पीढ़ियाँ चली आती हैं। यही बात नारियों की पोशाक के विषय में है। वाहन, नगर रचना आदि सभी बातों में विचित्र परिवर्तन होगये हैं। संसार के सभी देशों की यह दशा है। पुराने युग के चित्र तो अब अजायबघरों और नाटक-सिनेमा के ऐतिहासिक चित्रणों में ही देखने मिलते हैं। सभ्यता और संस्कृति के नाम पर उन पुरानी चीजों को छाती से चिपटाये रहने की जरूरत नहीं रही है। सभ्यता और संस्कृतियों के नामपर एक भारतवासी अंग्रेज गर्मी के दिनों में भी जब अपनी चुस्त पोशाक से अपने शरीर को बदल की तरह कस डालता है, तब उसका यह पागलपन अजायबघर की चीज होती है। परन्तु यह पागलपन सभी देशों में पाया जाता है, इसलिये अजायबघर में कहां तक रक्खा जा सकता है? संगमर्मर को भी गोबर से लीपना, बिजली के उजेले में भी समाई जलाना शायद संस्कृति और सभ्यता का रक्षण है! वास्तव में इस प्रकार के अन्धानुकरणों को संस्कृति और सभ्यता की रक्षा कहना उन अच्छे शब्दों की मिट्टी पलीत करना है।

मनुष्य, जन्म के समय पशु के समान होता है। उसको युग के अनुरूप अच्छा से अच्छा मनुष्य बनाने के लिये जो प्रभावशाली प्रयत्न किया जाता है उसका नाम है संस्कृति, और दूसरे को कष्ट न हो इस प्रकार के व्यवहार का नाम है सभ्यता। इस प्रकार की सभ्यता और संस्कृति का रूढ़ियों के अन्ध-अनुकरण के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

यदि किसी जमाने में चोर डाकुओं के डर के मारे हम मकानों में अधिक खिड़कियाँ नहीं रखते थे, और अब परिस्थिति बदल जाने से रखते हैं तो इसका अर्थ सभ्यता और संस्कृति का त्याग नहीं है। समयानुसार स्वपरसुखवर्द्धक परिवर्तन करने से संस्कृति का नाश नहीं होता, बल्कि संस्कृति का नाश होता है रूढ़ियों की गुलामी से। क्योंकि रूढ़ियों की गुलामी से बुद्धि-विवेक की कमी मालूम होती है जोकि मनुष्यत्व की कमी है, और जड़ता की वृद्धि मालूम होती है जोकि पशुत्व की वृद्धि है। संस्कृति का काम प्राणी को पशुत्व से मनुष्यत्व की ओर लेजाना है, न कि मनुष्यत्व से पशुत्व की ओर लौटाना। यदि कोई देश अपनी पुरानी अनावश्यक चीजों से चिपट रहा है और दूसरों के अच्छे तत्वों को ग्रहण नहीं कर रहा है या ग्रहण करने में अपमान समझ रहा है तो वह संस्कृति की रक्षा नहीं, नाश कर रहा है।

भोगोपभोग की पुरानी चीजों के रक्षण में सभ्यता और संस्कृति नहीं रहती। यदि पुराने जमाने में हमारे पास गोंद से अच्छा खाना नहीं था तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारी सभ्यता और संस्कृति गोंद में जा बैठी है। यदि किसी देश में आम नहीं थे, खजूर थे, तो इसका भी यह मतलब नहीं है कि उसकी सभ्यता खजूर पर

लटक रही है। मनुष्य एक समझदार प्राणी है, इसलिये उसका काम है कि उसके वर्तमान युग में जो जो अच्छी, सुलभ और दूसरों को हानि न पहुँचानेवाली वस्तुएँ हों उनका उपयोग करे। इसी बुद्धिमत्ता में उसकी संस्कृति और सभ्यता है। पुराने जमाने की अविकसित वस्तुओं को अपनाये रहने में सभ्यता और संस्कृति की रक्षा नहीं है।

इसके विरोध में यह बात अवश्य कही जा सकती है कि-" कोई देश यन्त्रों के द्वारा फैली हुई बेकारी को दूर करने के लिये चरखा युग का सहारा ले, दूसरों के आर्थिक आक्रमण से बचने के लिये पुरानी चीजों के उपयोग करने की ही कोशिश करे तो क्या इसको अनुचित कहा जायगा ? "

आर्थिक आक्रमण से बचने के लिये यह मार्ग कहां तक ठीक है यह बात दूसरी है, परन्तु अगर कोई इसी दृष्टि से पुरानी चीजों का उपयोग करना चाहे तो इसमें मुझे बिलकुल विरोध नहीं है। उसकी दृष्टि उपयोगिता, सुविधा, सुखवृद्धि सुव्यवस्था पर होना चाहिये, न कि प्राचीनता पर, इनका प्रचार संस्कृति और सभ्यता के रक्षण के लिये नहीं, किन्तु समाज को रोटी देने के लिये होना चाहिये।

कोई भाई कहेंगे कि "जो नवयुवक मौज शौक में जीवन बिताकर सादगी छोड़कर अपने साहिबी खर्चसे माँबापको परेशान करते हैं, क्या उनको न रोकना चाहिये ? इसीप्रकार जो अपने देश की वेषभूषा छोड़कर विदेशी वेषभूषा अपनाकर अपनी एक नई जाति बना लेते हैं, क्या उनका यह कार्य उचित है ? "

निःसन्देह ये काम अनुचित हैं परन्तु इसलिये नहीं कि वे विदेशी सभ्यता को अपनाते हैं, किन्तु इसलिये कि उनसे माबाप को परेशान किया जाता है, अपने को अनुचित रूप में बड़ा या विशेष समझकर अभिमान का परिचय दिया जाता है, दूसरों का अपमान किया जाता है, उन्हें रोकें; परन्तु प्राचीन संस्कृति या सभ्यता की दुहाई देकर नहीं, किन्तु आर्थिक सुविधा की दुहाई देकर, विनय और प्रेम की दुहाई देकर।

इस प्रकार भोगोपभोग की दृष्टि से सभ्यता का जो रूप बनाया जाता है वह तो बिलकुल व्यर्थ है। अब रह गया सभ्यता का मानसिक और कौटुम्बिक रूप। कहा जाता है कि " प्रत्येक देश की एक विशेष मनोवृत्ति होती है। इंग्लैण्ड का मनुष्य मात्रा में कुछ अधिक गम्भीर है, जब कि फ्रान्स का आदमी मात्रा में कुछ अधिक गप्पी। भारत के वायव्य कोण का मनुष्य या एक पठान स्वभावतः अधिक उग्र और असहिष्णु होगा जब कि भारत का मनुष्य मात्रा से अधिक शान्त होगा। मनुष्य स्वभाव की ये विशेषताएँ एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को जुदा करती हैं। अगर राष्ट्रीय भेद न माना जाय तो ये विशेषताएँ नष्ट हो जाँय। क्या इनका नष्ट करना उचित है ?"

इसके उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं। पहिली तो यह कि मनुष्य की ये विशेषताएँ स्वाभाविक नहीं हैं—ये राजनैतिक आर्थिक आदि परिस्थितियों का फल हैं। क्रान्ति के पहिले टर्की और रूस के साधारण जन की जो मनोवृत्ति थी और आज उसकी जो मनोवृत्ति है, अब्राहम लिंकन के पहिले अमेरिका के हब्शी की जो मनोवृत्ति थी और आज जो मनोवृत्ति है, रोमनसाम्राज्य के नीचे कचड़ाते हुए इंग्लैण्ड की जो मनोवृत्ति थी और आज जो मनोवृत्ति है, उनमें जमीन-आसमान से भी अधिक अन्तर है। आर्थिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों के बदल जाने से मनुष्य के स्वभाव में जो परिवर्तन हो जाता है, उसे राष्ट्रीयता न रोक सकती है, न रोकना चाहिये। इसलिये राष्ट्रीयता का इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरी बात यह है कि राष्ट्रीय विशेषता होने से ही कोई वस्तु अच्छी नहीं हो जाती। अफीम खाना अगर किसी देश की विशेषता हो, बात बात में उखड़ बैठना, मार बैठना, हत्या कर डालना अगर किसी देश की विशेषता हो अथवा

त्रियों को पददलित करना अगर किसी देशकी विशेषता हो तो उसे अपनाये रहना पाप है। ऐसी विशेषता का जितनी जल्दी नाश हो उतना ही अच्छा है। हमें विशेषता नहीं किन्तु उन गुणों का पुजारी होना चाहिये जो मानवजीवन को सुखमय बनाते हैं। इसलिये हमारा यह महान कर्तव्य है कि हम राष्ट्रों की सब विशेषताओं को मिटा दें। जो विशेषताएँ खराब हैं दुःखकर हैं उनको तो नाश करके मिटा देना चाहिये परन्तु जो विशेषताएँ सुखकर हैं अच्छी हैं उनको बिना नाश किये मिटा देना चाहिये अर्थात् उनका सभी राष्ट्रों में प्रचार कर देना चाहिये जिससे वे विशेषरूप छोड़कर सामान्य रूप धारण करलें।

ऊपर जो बात स्वभाव के विषय में कही गई है, वही बात कौटुम्बिक रीतिनीति के विषय में कही जासकती है। जिन देशों की कौटुम्बिक व्यवस्था खराब है, वे अपनी वह कौटुम्बिक दुर्व्यवस्था छोड़दें और किसी देश की अच्छी से अच्छी कौटुम्बिक व्यवस्था अपना लें। अगर कोई विशेषता रहे भी तो परिस्थिति की दुहाई देकर रहना चाहिये राष्ट्रीयता सभ्यता आदि की दुहाई देकर नहीं।

इस प्रकार किसी भी प्रकार की सभ्यता या संस्कृति की दुहाई देकर मनुष्य जाति के टुकड़े करने की कोई जरूरत नहीं है, बल्कि ऐसा करना पाप है। सभ्यता और संस्कृति मनुष्य के टुकड़े करने के लिये नहीं किन्तु उसके प्रेम के क्षेत्र को विशालतम बनाने के लिये हैं, उन्नति के लिये हैं, पारस्परिक सहयोग के लिये हैं। इसलिये राष्ट्र के नामपर चलता हुआ यह जातिभेद भी नष्ट होना चाहिये।

कोई भाई कहेंगे कि 'यदि राष्ट्रीयता नष्ट करदी जायगी तब तो सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों को पीस डालेंगे, लूट डालेंगे और आपका यह वक्तव्य उनके कार्यों को नैतिक बल प्रदान करेगा। निर्बल राष्ट्र अगर सबल राष्ट्र के मालपर इसलिये कर लगायगा कि उसका व्यापार सुरक्षित रहे और उसकी आर्थिक अवस्था खराब न हो जाय, बेकारी न बढ़ जाय, तो आपके शब्दोंमें वह राष्ट्रीयता की पूजा होने से पापरूप होगी। इस सिद्धान्तसे तो सबल राष्ट्र सबल होते जायँगे और निर्बल पिसते जायँगे।"

इस प्रश्न का कुछ उत्तर दिया जाचुका है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अगर आर्थिक आक्रमण करता है तो आयात पर प्रतिबन्ध लगाकर उस आक्रमण को रोकना अनुचित नहीं है। दूसरे राष्ट्र में अगर राष्ट्रीय कट्टरता है और वह किसी राष्ट्र पर आर्थिक आक्रमण करता है तो उसका उसी तरह सामना करना चाहिये, इसमें कोई पाप नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु प्रत्येक राष्ट्र को-जबकि उसका शासनतन्त्र जुदा है—कर्तव्य है कि वह आर्थिक योजना के रक्षण के लिये आयात निर्यात पर नियन्त्रण रक्खे। इस आर्थिक योजना का प्रभाव समाज की सुख-शान्ति पर भी निर्भर है। मानलो एक राष्ट्र ऐसा है जो मजदूरों से दस घंटे काम लेता है और ऐसे यन्त्रों का उपयोग करता है जिससे थोड़े आदमी बहुत काम कर सकते हैं, इससे बहुत से आदमी बेकार हो जाते हैं अथवा मजदूरों को सख्त मजूरी करना पड़ती है। परन्तु दूसरा राष्ट्र ऐसा है कि वह ऐसे यन्त्रों का उपयोग करता है जिससे बेकारी न बढ़े, तथा वह मजदूरों से सख्त मिहनत भी नहीं लेना चाहता ऐसी हालत में उसका माल महँगा पड़ेगा। इसलिये आर्थिक दृष्टि से जीवित रहने के उसके सामने दो ही मार्ग होंगे—या तो वह आयात पर प्रतिबन्ध लगावे, या मजदूरों से ज्यादा मिहनत ले। मनुष्य की सुख शान्ति के लिये पहिला मार्ग ही ठीक है। इसलिये आयात पर कर लगाना उचित है। वास्तव में यह राष्ट्रीयता की पूजा नहीं, मनुष्यता की पूजा है। दूसरे देश पर आक्रमण करने में कट्टर राष्ट्रीयता है, परन्तु दूसरे के आक्रमण से अपनी रक्षा करने में, अपनी सुखशान्ति बढ़ाने में तो मनुष्यता की ही पूजा है।

इस विषय में एक बात यह कही जा सकती है कि "यदि मनुष्यता के नामपर भी आयात निर्यात का प्रतिबन्ध बना ही रहा तब राष्ट्रीय कट्टरता का नाश कैसे होगा? प्रत्येक राष्ट्र की कठिनाइयाँ बढ़ जाँयगी। मानलो कि एक राष्ट्र ऐसा है जिसमें लोहा और कोयला बहुत है, परन्तु कृषि के योग्य स्थान नहीं है, और दूसरा देश ऐसा है कि जो इससे उल्टा है। अब यदि दूसरा देश पहिले के मालपर प्रतिबन्ध लगाये तो पहिला देश भूखों मर जायगा। ऐसी अवस्था में मनुष्यता की भावना कैसे रह सकती है?"

यदि मनुष्यता की भावना हो, अहंकार और आक्रमण का दुर्विचार न हो तो यह समस्या कठिन नहीं है। जिस राष्ट्र के पास अनाज नहीं है, वह अनाज के आयात पर प्रतिबन्ध क्यों लगायगा? और जिसके पास लोहा नहीं है वह लोहे के आयात पर प्रतिबन्ध क्यों लगायगा? इस प्रकार का माल तो आपस में बदल लेना चाहिये। स्वेच्छा और सुविधा से एक माल से दूसरा माल बदलना कोई आपत्तिजनक नहीं है। हां, अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में जो सम्पत्ति का माध्यम हो उसे खींचने की कोशिश न करना चाहिये। मानलो कि सोना माध्यम है, या चाँदी माध्यम है तो अपना माल अधिक से अधिक देने की कोशिश करना और बदले में माल न लेकर सोना चान्दी लेना आक्रमण है। आक्रमण का विचार छोड़ दिया जाय और फिर जो अदला बदली हो उससे दोनों राष्ट्रों को लाभ होगा। इतने पर भी अगर किसी ऐसे देश की जो प्राकृतिक सम्पत्ति से गरीब है-समस्या हल नहीं होती तो उसका काम है कि वह किसी ऐसे देश से जुड़ जाय जो प्राकृतिक सम्पत्ति से अधिक पूर्ण हो। परन्तु दोनों में शास्य-शासक भाव न होना चाहिये, क्योंकि दो राष्ट्रों में शास्य-शासक भाव होना मनुष्यता की दिनदहाड़े हत्या करना है। जिन राष्ट्रों के पास जीवन निर्वाह की पूरी सामग्री नहीं है, वे जनसंख्या का नियन्त्रण करें अथवा बढ़ी हुई जनसंख्या को किसी ऐसी जगह बसाने का प्रयत्न करे जहां जनसंख्या कम हो। परन्तु वहां जाकर अगर अपनी कोई विशेषता की रक्षा करने की कोशिश की जायगी, उसके लिये कोई विशेष सुविधा मांगी जायगी तो यह नीति सफल न होगी। इसलिये आवश्यक यह है कि जिस राष्ट्र में हम जाकर बसें वहां के निवासियों में हम मिल जावें। इसके लिये मनुष्योचित सद्-गुणों को छोड़ने की या वहां के दुर्गुणों को अप-नाने की जरूरत नहीं है, सिर्फ आत्मीयता प्रगट करने की, भाषा आदि को अपनालेने की तथा अपनी जातीय कट्टरता का त्याग करदेने की जरू-रत है। इस नीति से न तो किसी राष्ट्र को भूखों मरना पड़ेगा न किसी को दूसरे राष्ट्र का बोझ उठाना पड़ेगा।

विश्वशांति और मनुष्य की उन्नति के लिये इस प्रकार की व्यवस्था आवश्यक है। जब तक मनुष्य राष्ट्र के नाम पर जातिभेद की कल्पना लिये रहेगा, तब तक वह एक दूसरे पर अत्याचार करता ही रहेगा। इसलिये एक न एकदिन राष्ट्र के नाम पर फैले हुये जातिभेद को तोड़ना ही पड़ेगा, एक मानव राष्ट्र बनाना पड़ेगा, तभी वह चैन से बैठ सकेगा।

अन्तराष्ट्रीय विवाह का रिवाज भी इसके लिये बहुत कुछ उपयोगी हो सकता है इसलिये उसका भी अधिक से अधिक प्रचार करना चाहिये। इस विषय में कानून का अन्तर है, परन्तु रूढ़िकी गुलामी दूर कर देने पर कानून की वह विषमता दूर हो जायगी और जो कुछ थोड़ी बहुत रह जायगी उसे सहन कर लिया जायगा। विवाह के पात्रों को यह बात पहिले ही समझ लेना चाहिये।

कहा जा सकता है कि "यों ही तो नारीअ-पहरण की घटनाएँ बहुत होती हैं। एक राष्ट्र की युवतियों को फुसला कर दूसरे राष्ट्र में ले जाना और वहाँ उन्हें असहाय पाकर वेश्या बना देना और उनकी शारीरिक शक्ति का क्षय होने पर उन्हें भिखारिन बनाकर छोड़ देना, ये सब घट-नाएँ दिल दहलादेने वाली हैं। अन्तराष्ट्रीय

विवाहोंसे ये घटनाएँ और बढ़जायगी।" पर यह भूल है, यह पाप एकही देश के भीतर भी हो रहा है। इसका अन्तराष्ट्रीय विवाह-पद्धति के प्रचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके हटाने के लिये सब सरकारों को मिलकर सम्मिलित प्रयत्न करना चाहिये, तथा इस प्रकार के लोगों के दमन के लिये विशेष कानून और विशेष प्रयत्न की जरूरत है।

राष्ट्रीय संस्कृति की विभिन्नता के कारण दाम्पत्य जीवन के अशान्तिमय हो जाने की बाधा भी बताई जा सकती है। परन्तु इसका उत्तर वर्ण-भेद के प्रकरण में दे चुका हूँ। यहाँ इतनी बात फिर कही जाती है कि राष्ट्रीय जातिभेद मिट जाने पर एक तो संस्कृति की विभिन्नता भी कम हो जायगी, दूसरी बात यह है कि यह सब व्यक्तिगत प्रश्न है। दोनों को पारस्परिक अनुरूपता का विचार कर लेना चाहिये, तथा एक दूसरे की मनो-वृत्ति से परिचित हो जाना चाहिये। इस प्रकार राष्ट्रीयताकी भेदक दीवालोंको गिराने के लिये यह वैवाहिक सम्बन्ध भी अधिक उपयोगी हो सकता है, और इससे मनुष्यजाति एक दूसरे के गुणों को शीघ्रता से प्राप्त कर सकती है।

इस प्रकार विश्वकी शान्ति तथा उन्नति के लिये आवश्यक है कि राष्ट्रीयता के नामपर फैले हुए जातिभेद का नाश करके मनुष्य जाति की एकता सिद्ध की जाय और व्यवहार में लाई जाय।

बड़े बड़े देशों में प्रान्तीयता का भी विष राष्ट्रीयता के विष के समान फैलता है यह तो और भी बुरा है। इसमें कट्टर राष्ट्रीयता का पाप तो है ही, साथ ही मनुष्यता के साथ राष्ट्रीयता का नाशक होने से यह दुहरा पाप है।

वृत्तिभेद (कामो भको)—अभी तक जो जातिभेद के रूप बतलाये गये हैं, उनके विषय में धर्मशास्त्रों में कोई विधिविधान न होने से वे धर्म के बाहर की चीज समझे जाते हैं। परन्तु आजी-विका के भेद से जो जातिभेद बना, उसके विषय में धर्मशास्त्रों में बहुत से विधिविधान मिलते हैं, इसलिये बहुत से लोग धर्म के समान इसे भी समझने लगे हैं। सच पूछा जाय तो धर्म के साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। वृत्तिभेद से बना हुआ जातिभेद एक समय की आर्थिक योजना है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार भेद सभी देशों में पाये जाते हैं, क्योंकि शिक्षण, रक्षण, वाणिज्य और सेवा की आवश्यकता सभी देशों को है। परन्तु इनके नामपर जैसा जाति-भेद भारतवर्ष में बना वैसा अन्यत्र नहीं। यहाँ आर्थिक योजना की दृष्टि से बनाये गये इन संघों का सम्बन्ध रोटी-बेटी व्यवहार से भी हो गया है, धार्मिक क्रियाकांडो से भी होगया है, परलोक की ठेकेदारी से भी हो गया है।

जिस समय यह वर्णव्यवस्था की गई थी, उस समय इसका यही लक्ष्य था कि समाज में आर्थिक सुव्यवस्था और शान्ति हो। जो जिस कार्य के योग्य है वह वही कार्य करे तथा अनुचित प्रतियोगिता से धन्धों को नुकसान न पहुँचे और न बेकारी की समस्या लोगों के सामने आवे। सैकड़ो वर्षों तक इस व्यवस्था से भारतीयों ने लाभ उठाया। परन्तु पीछे से जब अकर्मण्य और अयोग्य व्यक्तियों की अधिकता होगई तथा इस व्यवस्था ने अन्य धार्मिक सामाजिक अधिकारों को कैद कर लिया, तब इससे सर्वनाश होने लगा।

वर्णभेद के नाम से प्रचलित इस वृत्तिभेद का जाति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और न मनुष्य जाति के विभाग करने का इसमें कोई गुण है। रंग-भेद से तो फिर भी कुछ शारीरिक भेद मालूम होता है, तथा देशभेद में भाषाभेद आदि हो जाते हैं—यद्यपि इससे भी मनुष्यजाति के भेद नहीं हो सकते—परन्तु वृत्तिभेद से तो इतना भी भेद नहीं होता। एक ही वंश में पैदा होनेवाले अनेक मनुष्यों की योग्यता में इतना अन्तर होता है कि उनमें कोई ब्राह्मण कोई क्षत्रिय कोई वैश्य और कोई शूद्र कहा जा सकता है।

इस वर्णभेद का मुख्य प्राण था आजीविका की व्यवस्था, सो इस दृष्टि से तो उसका सर्वनाश होगया है। आज ब्राह्मण कहलाने वाले रोटी पकाते हैं, झाड़ लगाते हैं, दूकानदारी करते हैं, क्षत्रिय कहलाने वाले खेती व्यापार करते हैं, अथवा कोई कोई अध्यापन आदि ब्राह्मण-वृत्ति करते हैं वैश्य और शूद्र कहलाने वाले भी चारों वर्णों की आजीविका करते हैं। और जो लोग इस वर्णव्यवस्था में नहीं मानते वे भी सब कुछ करते हैं। इस प्रकार वर्णव्यवस्था का जो असली ध्येय था, वह तो शताब्दियों से नष्ट हो गया है। इस अवस्था में वर्णव्यवस्था की दुहाई देना व्यर्थ ही है। पुराने ज़माने में इस प्रकार का नियम बनाने की कोशिश की गई थी कि "प्रत्येक मनुष्य को अपनी अपनी आजीविका करना चाहिये, अगर न करे तो शासक से वह दण्ड-नीय हो, क्योंकि ऐसा न करने में वर्णसंकरता फैल जायगी अर्थात् वर्णव्यवस्था गड़बड़ हो जायगी।"

आज इस प्रकार की वर्णसंकरता निर्विवाद और निर्विरोध फैली हुई है ऐसी अवस्था में वर्णव्यवस्था की दुहाई देकर अहंकार और मूढ़ता की उपासना क्यों करना चाहिये? और अगर करना भी हो तो उसे कर्मसे मानना चाहिये कर्म से वर्णव्यवस्था मानने की आवाज़ पुरानी है।

ख़ैर, वर्णव्यवस्था को जन्म से मानो या कर्म से मानो, परन्तु उसका सम्बन्ध आर्थिक योजना से ही है, खानपान और बेटीव्यवहार से नहीं।

खानपान के विषय में हमें तीन बातों का विचार करना चाहिये—अहिंसा, आरोग्य, और स्वच्छता। भोजन ऐसा न हो जिसके तैयार करने में अधिक हिंसा हुई हो। इस दृष्टि से मांसादिक का त्याग करना चाहिये। इसका वर्णव्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि प्रत्येक वर्ण का आदमी इस प्रकार हिंसारहित भोजन कर सकता है। प्रकृति का कुछ ऐसा नियम नहीं है कि अमुक [illegible] की भोजन में अमुक परिमाण में हिंसा हो जाय। शरीर तो जैसा ब्राह्मण का होता है वैसा शूद्र का होता है, इसलिये एक दूसरे के हाथ का भोजन करने में हिंसा अहिंसा की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं आ सकता।

आरोग्य का तो वर्णव्यवस्था से बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। वह भोजन की जाति और अपनी प्रकृति पर ही निर्भर है। तीसरी बात है स्वच्छता। सो स्वच्छता भी दूर एक के हाथ से बने हुए भोजन में हो सकती है। हाँ, यह हो सकता है कि अगर अपने को मालूम हो जाय कि अमुक व्यक्ति के यहाँ स्वच्छता नहीं रहती तो हम उसके यहाँ भोजन न करेंगे। परन्तु अपने घर आकर अगर वह स्वच्छता से भोजन तैयार करदे तो हमारी क्या हानि है? अथवा अपने घर या अन्यत्र वह हमारे साथ बैठकर भोजन करले तो इसमें क्या अस्वच्छता हो जायगी? इसलिये स्वच्छता के नामपर भी वर्णभेद में सह-भोज का विरोध करना निरर्थक है।

इस प्रकार सहभोज का विरोधी कोई भी कारण न होने पर भी लोगों के मन में एक अन्ध-विश्वास जमा हुआ है कि अगर हम शूद्र के हाथ का खा लेंगे तो शूद्र हो जायँगे। अमुक के हाथ का खालेंगे तो जाति चली जायगी। अगर सचमुच यह बात होती तो अभी तक हमारी मनुष्यता कभी की चली गई होती। भैंस का दूध पीते पीते हम भैंस हो गये होते और गाय का दूध पीते पीते गाय हो गये होते। अगर पशुओं का दूध पीने पर भी हम पशु नहीं होते तो किसी मनुष्य के हाथ का खा लेने से हम उसकी जाति के कैसे हो जायँगे? हमारी जाति कैसे चली जायगी?

आश्चर्य तो यह है कि जो लोग मांसभक्षी हैं, वे भी भोजन में जाति-पाँति का ख़याल करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि जो कुछ वे खाते हैं वह इतना अपवित्र है कि उससे अधिक अपवित्र दूसरी वस्तु नहीं हो सकती। इस प्रकार कहाँ तो वर्णव्यवस्था जो कि एक आर्थिक योजना रूप

थी ? और कहां ये खानपान के नियम ? इन दोनों में कोई सम्बन्ध न होने पर भी इनका कैसा विचित्र सम्बन्ध जोड़ लिया गया है! सच बात तो यह है कि इसमें अहंकार की पूजा के सिवाय और कुछ नहीं है। मनुष्य धर्म के नाम पर मदोन्मत्तता की या खुदा के नामपर शैतान की पूजा कर रहे हैं।

मनुष्य-जाति की एकता को नष्ट करने वाले ये आत्मघाती प्रयत्न यहीं समाप्त नहीं हो जाते, किन्तु वे छुआछूत के रूप में एक और भयंकर रूप बतलाते हैं। अछूतता के लिये अगर बहाने बनाये जायँ तो वे ये ही हो सकते हैं-एक तो आचार-शुद्धि के लिये दुसंगति का बचाव, दूसरा स्वच्छता की रक्षा का भाव। पहिला कारण यहां बिलकुल नहीं है, क्योंकि जिन मद्यमांस-भक्षण आदि दुष्कार्यों से बचने के लिये अछूतता का समर्थन किया जाता है, उनका सेवन स्पृश्य कहलाने वालों में भी है। अनेक प्रान्तों में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य इन वस्तुओं का सेवन करते हैं। फिर भी ये अछूत नहीं समझे जाते! और आश्चर्य तो यह है कि ये मांसभक्षी भी अछूत कहलाने वालों को उतना ही अछूत समझते हैं जितना कि अन्य शाकभोजी समझते हैं इसलिये मांसभक्षण आदि आचार की खराबियों से बचने के लिये यह अछूतता नहीं है। अगर होती तो भी उचित न कहलाती, क्योंकि मांसभक्षी का स्पर्श करने से उसका दोष नहीं लगता, और न उससे पांच पापों में से कोई पाप होता है। हां, जो लोग हृदय से दुर्बल हैं वे खानपान में ऐसे लोगों की संगति का बचाव कर सकते हैं। परन्तु बड़े बड़े भोजों में अथवा और भी ऐसे स्थानों में जहां मांस भक्षण के उत्तेजन की सम्भावना नहीं है, ऐसे बचाव की आवश्यकता नहीं है। खैर, अछूतता के साथ तो इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

स्वच्छता की रक्षा का भाव भी अछूतपन का समर्थक नहीं है। इस दृष्टि से अगर किसी को अछूत माना जाय तो सिर्फ उतने समय के लिये ही माना जाना चाहिये जितने समय वे अछूतता का काम करते हों। स्नानादि से शुद्ध होनेपर उनको अछूत मानना मूढ़ता है। फिर जो अछूतता का काम करे वही अछूत है न कि सारा कुटुम्ब या जाति। आज तो होता यह है कि जिसकी जाति अछूत नहीं कहलाती, वह कैसा भी घृणित क्यों न हो वह अछूत न माना जायगा, और जिसकी जाति अछूत कहलाती है वह कैसा भी स्वच्छ हो वह अछूत माना जायगा वह किसी भी हालत में स्पृश्य नहीं हो सकता। इस अन्धेरशाही का स्वच्छता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

कुछ लोग अछूत कहलानेवालों के शरीर को ही अशुद्ध बता दिया करते हैं। परन्तु शरीर में शुद्धि-अशुद्धि का विचार करना ही व्यर्थ है। सभी मनुष्यों के शरीर में हाड़ मांस रक्त होता है और ये चीजें कभी शुद्ध नहीं होतीं। हां, रोगियों का शरीर अमुक दृष्टि से अशुद्ध और स्वस्थ मनुष्यों का शरीर अमुक दृष्टि से शुद्ध कहा जाता है परन्तु उस दृष्टि से तो अछूत कहलाने वाले भी परम शुद्ध हो सकते हैं और उच्च कहलाने वाले भी परम अशुद्ध होसकते हैं।

अगर मानसिक अशुद्धि की बात कही जाय तो वह भी व्यर्थ है, क्योंकि उच्च कहलाने वालों की मानसिक अशुद्धि अछूत कहलानेवालों की मानसिक अशुद्धि से कम नहीं होती। प्रेम तथा भक्ति विश्वसनीयता आदि में स्पृश्य और अस्पृश्यों की जाति जुदी जुदी नहीं होती।

कई लोग अछूत कहलाने वालों के साथ किये गये दुर्व्यवहार को पूर्व जन्म का पाप कहकर स्वयं सन्तोष करते हैं तथा उनको भी सन्तुष्ट करना चाहते हैं। यदि इसे पूर्व जन्म के पाप का फल भी मानलिया जाय तो इस तरह अज्ञात पापफल देने का हमें कोई अधिकार नहीं है। यों तो हम बीमार पड़ते हैं तो यह भी पाप-फल है परन्तु इसीलिये बीमार की चिकित्सा न की जाय, एक सती के ऊपर गुण्डे आक्रमण करें तो यह विपत्ति भी सती के पूर्वजन्म के पाप का फल है,

इसीलिये गुंडों को न रोका जाय, हमारी चोरी होती है, खून होता है तो यह भी पूर्वजन्म के पाप का फल है इसीलिये चोरों और खूनियों को न रोका जाय तो समाज की क्या दुर्दशा हो? अछूत कहलाने वालों के साथ जो दुर्व्यवहार किया जाता है वह अत्याचार है, इसे पाप फल कहकर नहीं टाला जासकता। अन्यथा मनुष्य को न्याय, भलाई सुव्यवस्था करने का कोई अवसर ही न रह जायगा, मनुष्य की अवस्था पशुओं से भी भयंकर हो जायगी।

धार्मिक अधिकारों की दृष्टि से भी छूतों अछूतों में कोई जातिभेद नहीं है। अहिंसा, सत्य ईमान आदि धर्म हैं। धर्म के नाम पर चलनेवाले अन्य आचार तो सब इन्हीं के साधन मात्र हैं। अहिंसा, सत्य आदि के पालन का ठेका किसी भी जाति विशेष को नहीं दिया जासकता। अछूत कहलानेवालों को यह नहीं कह सकते कि तुम सत्य मत बोलो, शील से मत रहो, अहिंसा का पालन मत करो। जब अहिंसा, सत्य आदि का अधिकार सब को है तब धर्म का ऐसा कोई अंग नहीं है जिसका अधिकार सबको न हो। इस प्रकार वर्णव्यवस्था के नामपर मनुष्य जाति के टुकड़े करना, स्पृश्यास्पृश्य की पापमय वासना का संरक्षण करना, महान अपराध है।

वर्णव्यवस्था का जिस प्रकार धार्मिक अधिकारों से, छूने न छूने से, असहभोज आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार विवाह से भी कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो आजीविका की सुव्यवस्था के लिये थी, इसलिये विवाह की क्षेत्र का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु जब आजीविका के भेद से पूरापूरतता का सम्बन्ध जुड़ गया तब एक जटिल समस्या खड़ी हो गई। ब्राह्मण कुल में पैदा होनेवाली एक कन्या का अगर ऐसे कुल में विवाह हो जो लोक में सन्मान की दृष्टि से न देखा जाता हो तो इससे उसके चित्त को क्षोभ होना स्वाभाविक है। इसलिये अनुलोम विवाह का रिवाज बन गया। इसके अनुसार पहिले वर्ण की कन्या दूसरे वर्ण वाले को नहीं दी जा सकती थी, किन्तु दूसरे वर्ण की कन्या पहिले वर्णको दी जासकती थी। परन्तु यह रिवाज भी बहुत समय चल नहीं सकता था क्योंकि इससे शूद्र वर्ण को बहुत आपत्ति का सामना करना पड़ता था। शूद्र कन्याओं को अन्य वर्ण के लोग ले तो लेते थे, परन्तु देते नहीं थे, इसलिये शूद्रों को कन्याओं की कमी होना स्वाभाविक था। अमुक अंश में वैश्य को भी इस कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इसलिये एक दूसरा रिवाज चल पड़ा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तो अनुलोम प्रतिलोम रूपमें विवाह सम्बन्ध करें, और शूद्र शूद्र के साथ ही करे।

प्रारंभ के तीन वर्णों के जीवन के साधन में इतना अन्तर नहीं था कि एक वर्ण की कन्या दूसरे वर्ण के कुटुम्ब को सहन न कर सके। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य कुटुम्बों में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र करीब करीब एक सरीखा ही रहता है, जब कि शूद्र वर्ण की स्त्रियों को अन्य वर्णों की स्त्रियों की सेवा करने को जाना पड़ता है। इस विषमता के कारण अन्य वर्णों की स्त्रियाँ शूद्र वर्ण में नहीं आती थीं।

इससे यह तो मालूम होता ही है कि पुराने समय में असवर्ण विवाह का निषेध नहीं था। हाँ, स्त्रियों को मानसिक कष्ट न हो, इस खयाल से शूद्रों के साथ प्रतिलोम विवाह नहीं होता था। फिर भी स्वयंवर में इस नियम का पालन नहीं किया जाता था, क्योंकि स्वयंवर में वरका चुनाव कन्या ही करती थी। दूसरे लोग इस विषय में सलाह रूपमें भी हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे।

असवर्ण विवाह का विधान और रिवाज होने पर भी ऐसे विवाह अल्पसंख्या में हों, यह स्वाभाविक है, क्योंकि विवाह सम्बन्ध मैत्री का एक उत्कृष्ट रूप है। इसीलिये "मैत्री प्राय समान स्वभाव समान रहन सहन वालों में होती है" इस कहावत के अनुसार सवर्ण विवाह अधिक होते थे, असवर्ण विवाहों की संख्या घटने लगी और घटते घटते यहाँ तक घटी कि ये बातें इतिहास की हो गई। परन्तु असवर्ण विवाह के विरोध में

कोई नैतिक बात नहीं कही जा सकती।

आजकल भी असवर्ण विवाह होते हैं, परन्तु उनका रूप बदल गया है। जो लोग कार्य से जुदे जुदे वर्ण के हैं उनमें आपस में शादी हो जाती हैं। एक अध्यापक एक व्यापारी की पुत्री से शादी कर लेगा, एक व्यापारी अध्यापक की पुत्री से शादी कर लेगा। ये सब असवर्ण विवाह हैं, परन्तु इनका विरोध नहीं होता। परन्तु जो लोग जन्म से दूसरे वर्ण के है और कर्म से एक ही वर्ण के हैं उनमें अगर शादी हो तो विरोध होता है। इस मनोवृत्ति की मूढ़ता इतनी स्पष्ट है कि उसे अधिक स्पष्ट करने की जरूरत नहीं है। असवर्ण विवाह में अगर कोई आपत्ति खड़ी की जा सकती है तो उसका सम्बन्ध कर्म से ही होगा जन्म से नहीं। क्योंकि एक स्त्री ब्राह्मण कुल में पैदा हुई हो तो उसे शूद्र या व्यापार करनेवाले के घर जाने में संकोच हो सकता है, परन्तु शूद्र कुल में पैदा होनेवाले किन्तु विद्यापीठ में अध्यापकी करनेवाले के घर जाने में क्या आपत्ति हो सकती हैं? असवर्ण विवाह का अगर विरोध भी किया जाय तो कर्म से असवर्ण विवाहों का विरोध करना चाहिये न कि जन्म से, और कम से असवर्ण विवाह का विरोध भी वहीं करना चाहिये जहाँ कन्या का विरोध हो।

बहुत से लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों को जाति का रूप देकर असवर्ण विवाहों का विरोध करते हैं, परन्तु इन वर्णों को जाति का रूप देना ठीक नहीं, क्योंकि जाति की दृष्टि से तो मनुष्य एक ही जाति हैं। वर्ण व्यवस्था तो आर्थिक व्यवस्था के लिये बनाई गई है। जाति का सम्बन्ध आकृति आदि के भेद से हैं। जैसे हाथी, घोड़ा, ऊंट आदि में आकृति भेद से जातिभेद माना जाता है वैसा मनुष्यों के भीतर कहीं नहीं माना जाता।

जहाँ जातिभेद होता हैं वहाँ लैङ्गिक सम्बन्ध कठिन होता है। अगर होता है तो सन्तान की विषमाकृति दिखलाई देती है, और कहीं कहीं आगे संतति नहीं चलती। असवर्ण विवाह में यह बात बिलकुल नहीं देखी जाती। जिन देशों में वर्णव्यवस्था का ऐसा कट्टर रूप नहीं है और अबाध रूप में असवर्ण विवाह होते है, वहाँ सन्तान परम्परा बराबर अच्छे ढंग से चलती है। ब्राह्मणी का शूद्र के साथ भी सम्बन्ध किया जाय तो भी सन्तान-परम्परा अबाध रूप में चलेगी। इसलिये वर्णों को जाति का रूप देना ठीक नहीं।

हाँ, जाति शब्द का साधारण अर्थ समानता है। वर्णों में अर्थोपार्जन के ढंगकी समानता पाई जाती है, इसलिये इन्हें इस दृष्टि से जाति भले ही कहा जाय, परन्तु इस ढंग से तो टोपीवालों की एक जाति, और पगड़ीवालोंकी दूसरी जाति कही जा सकती है। इसलिये विवाह सम्बन्ध अर्थात् लैंगिक सम्बन्ध के लिये जो जातिभेद हानिकर है, वैसा जातिभेद ही वास्तव में जातिभेद शब्द से कहना चाहिये, जोकि वर्णभेद में नहीं हैं। इसलिये जातिभेद की दुहाई देकर असवर्ण विवाह का निषेध नहीं किया जा सकता।

आज तो वर्णव्यवस्था है ही नहीं, अगर हो तो उसका क्षेत्र बाजार में है, रोटी-बेटी-व्यवहार में नहीं। इसलिये उसके नाम पर मनुष्य जाति के टुकड़े करने की कोई जरूरत नहीं है। घृणा और अहंकार की पूजा करना मनुष्य सरीखे समझदार प्राणी को शोभा नहीं देता। इसलिये इस दृष्टि से भी हमें मनुष्यब्रह्म की उपासना करना चाहिये।

उपजाति कल्पना—देश, रंग और आजीविका के भेद से मनुष्यने जिन जातियों की कल्पना की, उन सबसे अद्भुत और संकुचितता-पूर्ण इन उपजातियों की कल्पना है। कहीं कहीं इनको जाति कहते हैं। परन्तु इनको जाति समझना जाति शब्द का मखौल उड़ाना है। हाँ, रूढ़ शब्द के समान इसका उपयोग किया जाय तो बात दूसरी हैं।

अनेक प्रांतो में इन उपजातियों को 'ज्ञाति' कहते हैं। इसका अर्थ है कुटुम्ब। इस दृष्टि से यह उपयुक्त है। 'न्यात' शब्द भी इसी शब्द का अपभ्रंश रूप है, जो इसी अर्थ में प्रचलित है।

वास्तव में ये उपजातियाँ एक बड़े कुटुम्बके समान हैं। इनकी उत्पत्ति की जो किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, उनसे भी यही बात मालूम होती हैं। जैसे अग्रवालों की उत्पत्ति राजा अग्रसेन से मानी जाती है, उनके अठारह पुत्रों से अठारह गोत्र बने, इस दृष्टि से अग्रवाल एक बड़ा कुटुम्ब ही कहलाया। इस प्रकार ये उपजातियाँ बड़े बड़े कुटुम्ब ही हैं। मित्रवर्ग नातेदार वर्ग भी इसमें शामिल हुआ है।

ये उपजातियाँ मतभेद स्थानभेद आदि के कारण बनी हैं। इनके गोत्र भी इन्हीं कारणों से बने हैं, जिनमें आजीविका वगैरह के भेद भी कारण हैं। जिस जमाने में आने जाने के साधन बहुत कम थे और लोग दूसरे प्रान्तों में बस जाते थे, तब अपने मूलग्राम या प्रान्त के नाम से प्रसिद्ध होते थे। ये ही नाम गोत्र या उपजाति बन जाते थे। कभी कभी प्रधान पुरुषों के नामसे ये गोत्र बन जाते थे।

सरयू के उस पार बसने वाले सरयूपारि आदि के समान भारत में सैकड़ों टुकड़ियाँ बनी हैं और ये जाति नामसे प्रचलित हैं, यदि सबका इतिहास खोजा जाय तो एक बड़ा पोथा बनेगा। सबका विधिवद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है। परन्तु उनके नाम ही इतिहास की बड़ी भारी सामग्री हैं। साथ ही कुछ इतिहास मिलता भी है, उस परसे बाकी का अनुमान किया जा सकता है धर्मग्रन्थों में भी इन जातियों की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ लिखा है।

इन जातियों के भीतर शारीरिक, मानसिक या व्यापारिक ऐसी कोई विशेषता नहीं है जो इन की सीमा कही जा सके। अवसर पड़ने पर किसी सुविधा के लिये कुछ लोगोंने अपना संघ बना लिया और उसीके भीतर सारे व्यवहारों को कैद कर लिया। आज इस प्रकार की उपजातियों में ऐसी अनेक उपजातियाँ हैं जिनकी जनसंख्या कुछ सैकड़ों या हजारों में है। ऐसे छोटे छोटे क्षेत्रों में विवाह-सम्बन्ध के लिये बड़ी अड़चन पड़ती है और चुनाव के लिये इतना छोटा क्षेत्र मिलता है कि योग्य चुनाव करना बड़ा कठिन है। फिर जो लोग व्यापारिक आदि सुविधा के कारण दूर बस जाते हैं, उनको दूरस्थ देशों में विवाह-सम्बन्ध की सुविधा होना चाहिये। अन्यथा उनकी वैवाहिक कठिनाइयाँ और बढ़ जायेंगी।

इस प्रकार उपजाति विवाह के विषय में तथा अन्य प्रकार के विजातीय विवाहों के विषय में लोग अनेक प्रकार की शंका करने लगते हैं, सङ्कुचित क्षेत्र में विवाह-सम्बन्ध करने के लाभ बतलाने लगते हैं। उन पर विचार करना आवश्यक है। इसलिये संक्षेप में शंका समाधान के रूप में विचार किया जाता है।

शंका— विजातीय विवाह से जातीय संगठन नष्ट होजायगा। संगठन जितने छोटे क्षेत्र में रहे उतना ही दृढ़ होता है। उसमें व्यवस्था भी बड़ी सरलता से बनाई जा सकती है।

समाधान— संगठन की दृढ़ता क्षेत्र की लघुता पर नहीं, भावना की विशेषता पर है। मुसलमान लोग भारत में करोड़ों हैं, परन्तु उनका जो संगठन है वह हिन्दुओं की किसी जाति का नहीं है। संख्या में छोटी होने पर भी वह संगठन में मुसलमानों की बराबरी नहीं कर सकती। इधर इन छोटे छोटे संगठनों को महत्व देने से बड़ा संगठन रुकता है। हिंदुओं की छोटी छोटी उपजातियों का संगठन समग्र हिंदुओं के संगठन में बाधा पैदा करता है। फिर राष्ट्र का संगठन तो और भी दूर है। इस प्रकार यह छोटा छोटा संगठन दृढ़ता तो पैदा करता ही नहीं है परन्तु विशाल संगठन के मार्ग में रोड़े अटकाता है। अगर यह दृढ़ता पैदा भी करता तो भी विशाल संगठन को रोकने के कारण यह हेय ही होता। दूसरी बात यह है कि छोटी छोटी जातियों के संगठन का आखिर मतलब क्या है? क्या इनका कोई ऐसा स्वार्थ है जिस का संगठन के द्वारा रक्षण करना हो? आर्थिक स्वार्थ तो विशेष प्रकार की राजनैतिक सीमा के साथ बंधा हुआ है, उसका इन टुकड़ियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक राष्ट्र के आर्थिक और राजनैतिक स्वार्थ रक्षण के लिये एक संगठन की बात कही जाय तो

किसी प्रकार ठीक भी है, परन्तु जाति नामक टुकड़ियों का ऐसा विशेष स्वार्थ नहीं है जो एक जाति का हो और दूसरी का न हो। धार्मिक स्वार्थ की दुहाई दी जाय तो भी ठीक नहीं है। पहिले तो धर्मों के स्वार्थ ही क्या हैं ? एक धर्मवाले दूसरे धर्म पर आक्रमण करें तो धर्म के नाम पर संगठन होना चाहिये, न कि जाति के नामपर, फिर इन उपजातियों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। एक उपजातिके भीतर अनेक धर्म पाये जाते हैं और एक ही धर्म के भीतर अनेक उपजातियाँ पाई जाती हैं। इस प्रकार धर्मरक्षण के लिये भी ये उपजातियाँ कुछ नहीं कर सकतीं।

कहा जा सकता है कि थोड़ासा दान करके या शक्ति खर्च करके छोटी जाति को लाभ पहुँचाया जा सकता है, बड़ी जाति में यह काम नहीं किया जा सकता, अगर समग्र भारत की एक ही जाति हो तो हमारी थोड़ीसी शक्ति किस काम आयगी ? उतने बड़े क्षेत्र के लिये उसका उपयोग ही न होगा।

इस प्रकार का प्रश्न करनेवाले यह बात भूल जाते हैं कि छोटी छोटी जातियों की कैद न रहने से जिस प्रकार क्षेत्र विशाल होजायगा उसी प्रकार शक्तियों लगानेवालो की संख्या भी भी तो बढ़ जायगी। आज जो हम अपनी छोटीसी जाति के लिये दान करते हैं या जो शक्ति लगाते हैं उसका लाभ दूसरे नहीं उठापाते, परन्तु दूसरे भी तो इसी प्रकार अपनी जाति के लिये कार्य करते हैं जिसका लाभ हम नहीं उठापाते। अगर इस प्रकार छोटी छोटी जातियों में सब लोग अपनी शक्ति लगाने लगे तो सभी का विकास रुक जाय क्योंकि जीवन के लिये जिन कार्यों की आवश्यकता है उनका शतांश भी एक एक जाति पूरा नहीं कर सकती। एक दूसरे को अवलम्बन दिये बिना कोई आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिये विशाल दृष्टि रखकर ही काम करने की आवश्यता है इस प्रकार के छोटे छोटे संगठन जितने साधक हो सकते हैं, उससे कई गुणे बाधक होते है। इसलिये इनका त्याग करना ही श्रेष्ठ है।

अथवा थोड़ी देर को इनकी जरूरत हो तो भी विजातीय-विवाह से इनका नाश नहीं होता। जैसा कि गोत्रों का नाश नहीं होता। स्त्री जन्म से जिस गोत्र की होती है, विवाह के बाद उसका गोत्र बदलकर पति का गोत्र हो जाता है। फिर भी गोत्रों की सीमा नहीं टूटती। इसी प्रकार इन छोटी छोटी जातियों का भी हो सकता है। साधारणतः स्त्री पुरुष के घर में जाती है, इसलिये स्त्री की जाति वही हो जायगी जो उसके पति की है। इस प्रकार जाति संगठन का गीत गानेवालों के लिये ये जातियाँ बनी रहेंगी, और विवाह का क्षेत्र विशाल हो जाने से सुभीता भी हो जायगा।

इस विषय में एक बार एक भाई ने कहा था कि यह तो स्त्रियों का बड़ा अपमान है कि विवाह से उन्हें अपनी जाति से भी हाथ धोना पड़े। परन्तु ऐसे भाइयों को समझना चाहिये कि अगर इसे अपमान माना जाय तो यह अपमान विजातीय विवाह से सम्बन्ध नहीं रखता, इसकी जड़ बहुत गहरी है। आज कल आखिर स्त्रियों को गोत्र से और कुटुम्ब से तो हाथ धोना ही पड़ता है। जहां सूतक पातक माना जाता है, वहां विवाह के बाद पितृकुल का सूतक तक नहीं लगता, और पतिकुल का लगता है। इसलिये यह अन्याय बहुत दूर का है। जब स्त्रियों का कुल, गोत्र आदि बदल जाता है तब एक कल्पित जाति और बदल गई तो क्या हानि हुई ? असली बात तो यह है कि यह मानापमान का प्रश्न ही नहीं है। विवाह के बाद स्त्री और पुरुष का एकत्र रहना तो अनिवार्य है, ऐसी हालत में किसी एक को दूसरे के यहां जाना पड़ेगा, और अपने को हर तरह उसी घर का बना लेना पड़ेगा। अगर ऐसा न किया जायगा और कुल गोत्र गृह का भेद बना रहेगा तो दाम्पत्य-जीवन अत्यन्त अशान्तिमय हो जायगा। इसलिये दोनों का एक करना अनिवार्य है। ऐसी हालत में सुव्यवस्था के लिये स्त्री का गोत्र बदल दिया गया तो क्या हानि है ? अगर कहीं पुरुष को स्त्री के घर जाकर रहना पड़े और पुरुष का गोत्र

बदल दिया जाय तो भी कोई हानि नहीं है। घर-जमाई के विषय में यही रीति काम में लाई जा सकती है। इसे मानापमान न समझकर समाज की सुव्यवस्था के लिये किया गया त्याग समझना चाहिये। यह त्याग चाहे स्त्री को करना पड़े चाहे पुरुष को। अगर इस प्रकार पदपद पर मानापमान की कल्पना की जायगी तो समाज का निर्माण करना असम्भव हो जायगा।

खैर, विजातीय विवाह से जातियों का नाश नहीं होता, जिससे संगठन न हो सके। तथा इन छोटे छोटे संगठनों के अभाव से कुछ हानि नहीं होती बल्कि संगठन का क्षेत्र बढ़ जाने से संगठन विशाल होता है।

प्रश्न—विवाह के लिये जातियों की सीमा तोड़ दी जायगी तो अनमेल विवाह बहुत होंगे, क्योंकि छोटी जातियों में पारस्परिक परिचय अधिक होने से एक दूसरे को अच्छी तरह समझ कर विवाह किया जा सकता है। विजातीय विवाह में परिचय की गुंजाइश कहाँ है? इसलिये अनमेल विवाह या विषम विवाह बहुत होंगे।

उत्तर—विजातीय विवाह का अर्थ अपरिचित के साथ विवाह नहीं है। इन छोटी जातियों के कुछ जुदे जुदे देश या राष्ट्र नहीं हैं कि परिचय क्षेत्र में जातियाँ सीमित रहें। हमारा पड़ौसी, चाहे वह दूसरी जातिका हो, उसका जितना परिचय हमें हो सकता है उतना परिचय अपनी जाति के दूरस्थ व्यक्ति से नहीं हो सकता। यह आवश्यक है कि विवाह के पहिले वर कन्या एक दूसरे के स्वभाव शिक्षण आदि से परिचित हो जाँय, परन्तु ऐसा परिचय तो विजातीयों में भी सरल है और सजातीयों में भी कठिन है। सच पूछा जाय तो सजातीय-विवाह में अल्प क्षेत्र होने से अनमेल विवाह अधिक होते हैं। विजातीय विवाह में चुनाव का क्षेत्र अधिक हो जायगा इसलिये अनमेल विवाह की सम्भावना कम होगी।

प्रारम्भ में अवश्य ही दिक्कत होगी, क्योंकि हरएक जाति का प्रत्येक मनुष्य इस कार्य को तैयार नहीं होता इसलिये विजातीय विवाह का क्षेत्र सजातीय विवाह से भी छोटा मालूम होता है। परन्तु अन्त में विजातीय विवाह का क्षेत्र बढ़ेगा। प्रारम्भ में जो पीड़ा होती हो उसे सहन करना चाहिये। तथा इस सुप्रथा के प्रचारार्थ थोड़ी बहुत मात्रा में ऐसी विषमता को सहन करना चाहिये जो विवाह के बाद थोड़े से प्रयत्न से सुधारी जा सकती हो।

प्रश्न—विजातीय-विवाह से सन्तान संकर हो जायगी। माँ की एक जाति, बाप की दूसरी जाति। तो सन्तान की तीसरी खिचड़ी जाति होगी यह सब ठीक नहीं मालूम होता।

उत्तर—माँ का एक गोत्र, बाप का दूसरा गोत्र होने पर भी जिस प्रकार सन्तान का खिचड़ा गोत्र नहीं होता, उसी प्रकार खिचड़ी जाति न होगी। पितृ परम्परा से जिस प्रकार गोत्र चला आता है उसी प्रकार जाति भी चली आयगी। दूसरी बात यह है कि जब तक इन जातियों की कल्पना का भूत सिर पर सवार है तभीतक खिचड़ी और खिचड़ा की चिन्ता है। जब कि वास्तव में इनका कोई मौलिक अस्तित्व ही नहीं है तब माँ बाप की दो जातियाँ ही कहा हुई जिनके संकर की बात कही जाय? इन जातियों की कोई शारीरिक या मानसिक विशेषता नहीं है जिससे इनमें जुदापन माना जाय।

प्रश्न—मन में प्रेम ही क्यों न पैदा किया जाय, जातिपाति तोड़ने से क्या फायदा?

उत्तर—प्रेम की भी आवश्यकता है और जातिपाति तोड़ने की भी आवश्यकता है, बल्कि प्रेम को व्यवहार में लाने के लिये जातिपाति तोड़ना आवश्यक है। बहुत से लोगों में प्रेम पैदा होजाता है पर जातिपाति के कारण सहयोग नहीं होपाता है। दोनों की अपनी अपनी उपयोगिता है। यों प्रेम तो पशुओं से भी होजाता है पर इससे जातिपाति टूटने से होनवाला सहयोग नहीं होजाता।

प्रश्न—भेदभाव तो प्रकृति ने ही पैदा किया है उसे तोडना क्या सम्भव है ?

उत्तर—जो भेदभाव प्रकृति ने पैदा किया है, जो अनिवार्य है, उसे नहीं तोडना है। किन्तु जो प्राकृतिक नहीं है अनिवार्य नहीं है हानिकारक है, उसे ही तोड़ना है। रंग राष्ट्र जीविका आदि के कारण बनी हुई जातियाँ तथा अन्य उपजातियाँ न प्राकृतिक हैं न अनिवार्य हैं बल्कि काफी हानिकारक हैं इसलिये उन्हें तोडकर एक मानवता पैदा करना चाहिये।

प्रश्न—छोटी छोटी जातियाँ होने से कभी कभी धनिक की लड़की को धनिक वर नहीं मिलता इसलिये गरीब वर के साथ उसका विवाह होजाता है। जातिपाति न रहने से धनिक की लड़की को कहीं न कहीं धनिक वर मिल ही जायगा इसप्रकार कभी कभी गरीब वर को जो सौभाग्य प्राप्त होजाता है वह छिन जायगा।

उत्तर—ऐसे सम्बन्धों के मूल में अगर प्रेम नहीं है किसी विशेष कारण से परस्पर आकर्षण नहीं है, योग्य पात्र न मिलने की विवशता है तो यह दोनों का दुर्भाग्य है। लड़की गरीब की हो या अमीर की, धन के कारण उसके मन में या शरीर में कोई सुखकर विशेषता होने का नियम नहीं है। इसलिये गरीब वर को धनिक की पुत्री से कोई विशेष लाभ नहीं है। बल्कि धनिक की पुत्री खर्चीली होगी, शरीरश्रम में कम होगी इसलिये उस वर की पूरी परेशानी है। पर अगर मानलिया जाय कि यह उस वर का सौभाग्य है तो इसी कारण एक धनिक लड़की को गरीब के गले बाध देना पड़े यह उस लड़की का बड़ा दुर्भाग्य भी तो है।

सारा टोटल मिलाने पर ऐसे सम्बन्धों से समाज को लाभ नहीं। एक का जितना लाभ, दूसरे का उससे ज्याद. नुकसान। यों जिसका लाभ बताया जाता है उसका भी काफी नुकसान है।

हां ! ऐसे सम्बन्धों के मूल में प्रेम हो तब कोई हानि नहीं, पर ऐसे प्रेमसम्बन्धों के लिये जातिपांति के बन्धन बाधा ही डालते हैं। प्रेमसम्बन्धों के लिये भी जातिपांति तोड़ना जरूरी है।

इसप्रकार और भी शंकाएँ उठाई जासकती हैं जिनका समाधान सरल है। पहिले जो अनेक प्रकार का जातिभेद बताया गया है और वहां जो शंकाएँ उठाई गई हैं वे यहां भी उठाई जासकतीं हैं और उनका समाधान भी वही है जो वहां किया गया है। तथा यहां की शंकाएँ वहां भी उठाई जासकती थीं और उनका समाधान भी यहीं के समान होता।

इस प्रकार मनुष्य-जाति की एकता के लिये हरएक तरह का विजातीय विवाह आवश्यक है। हां, इतनी बात अवश्य है कि स्त्री-पुरुष एक दूसरे को अनुकूल और सह्य अवश्य हों। अगर किसी को काला साथी पसन्द नहीं है, दूसरी भाषा बोलने वाला पसन्द नहीं है तो भले ही वह ऐसा साथी न चुने। परन्तु उसमें इन कारणों की ही दुहाई देना चाहिये, न कि जाति की। दूसरी बात यह है कि अगर दो व्यक्तियों ने अपना चुनाव कर लिया उनमें एक ब्राह्मण है दूसरा शूद्र, एक आर्य है दूसरा अनार्य, एक गुजराती है दूसरा मराठी, इतने पर भी दोनों प्रेम से बँधना चाहते हैं तो इसमें तीसरे को—समाज को—हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। विवाह के विषय में "मियाँ बीबी राजी तो क्या करेगा काजी" की कहावत प्राय: चरितार्थ होना चाहिये। अनेक तरह का जो कल्पित जातिभेद है, किसी को उसी के भीतर सुयोग्य सम्बन्ध मिल रहा है और कारणवश अन्यत्र नहीं मिलता तो वह कल्पित सीमा के भीतर ही सम्बन्ध कर सकता है, इसमें कोई बुराई नहीं है। परन्तु सीमा के भीतर रहने के लिये सुपात्र को छोड़ना और अल्प पात्र को ग्रहण करना बुरा है।

विवाह और सहभोज, ये मनुष्य जाति की एकता के लिये बहुत आवश्यक हैं। यद्यपि कहीं कहीं इनके होने पर भी एकता में कमी रहजाती है, परन्तु इसका कारण विजातीय विवाहों का बहुत अल्प संख्या में होना है। इसलिये इनकी

संख्या बढ़ना चाहिये।

इतना होने पर भी अमुक अंश में जाति मद रह सकता है उसको भी निर्मूल करना चाहिये। उसका उपाय अपनी भावनाओं को उदार बनाना है। जब हम पूरे गुणपूजक हो जॉयगे, तब हममें से पक्षपात निकल जायगा। जातिमद के निकलने पर सर्वजातिसमभाव के पैदा होने पर मनुष्य में सहयोग बढ़ेगा, अनावश्यक झगड़े नष्ट होने से शान्ति मिलेगी, शक्ति की बचत होगी, प्रगति होगी। आज मनुष्य की जो शक्ति एक दूसरे के भक्षण में तथा आत्मरक्षण में खर्च होती है, वह मनुष्यजाति के दुःख दूर करने में जायगी। उस शक्ति के द्वारा वह प्रकृति के रहस्यों को जानकर उनका सदुपयोग कर सकेगा। इसलिये हर तरह से मनुष्यजाति की एकता के लिये प्रयत्न करना चाहिये। यह पूर्ण जातिसमभाव योगी का तीसरा चिह्न है।

४ व्यक्ति-समभाव (सुम सम्मभावो)

संयम, ईमानदारी, और सामाजिक सुव्यवस्था की जड़ है व्यक्ति-समभाव। जगत में जितने पाप होते हैं वे सिर्फ इसलिये कि मनुष्य अपने स्वार्थ को मर्यादा से अधिक मुख्यता देता है और दूसरों के स्वार्थ को मर्यादा से अधिक गौण बनाता है। हिंसा इसलिये करता है कि दुनिया भले ही मरे हमें जीवित रहना चाहिये, झूठ इसलिये बोलता है कि दुनिया भले ही ठगी जाय हमारा काम बनना चाहिये, इसी प्रकार सारे पापों की जड़ यही स्वार्थान्धता है। व्यक्ति-समभाव में मनुष्य अपने स्वार्थ के समान जगत के स्वार्थ का भी खयाल रखता है इसलिये उसका जीवन स्वपरसुखवर्धक और निष्पाप होता है।

ध्येयदृष्टि अध्याय में बताया गया है कि विश्वसुखवर्धन जीवन का ध्येय है। इस ध्येय की पूर्ति व्यक्ति समभाव के बिना नहीं हो सकती इसलिये उस ध्येय के अनुकूल व्यक्ति-समभाव अत्यावश्यक है।

व्यक्ति समभाव के लिये दो तरह की भावना सदा रखना चाहिये। १ स्वोपमता २ चिकित्स्यता।

स्वोपमता (एमूगे)- स्वोपमता का मतलब है दूसरे के दुःख को अपने दुःख के समान समझना। जिस काम से हमें दुःख होता है उस से दूसरों को भी होता है इसलिये वह काम नहीं करना चाहिये यह स्वोपमता भावना है। कर्तव्याकर्तव्य निर्णय के लिये यह भावना बहुत उपयोगी है।

चिकित्स्यता (चिचगेरो) - चिकित्स्यता का मतलब है पापी को बीमार समझकर दया करना, उसको दंड देने की अपेक्षा सुधार करने की चेष्टा करना, अगर क्षमा करने का उस पर अच्छा प्रभाव पड़ने की सम्भावना हो तो उसे क्षमा करना।

प्रश्न—अगर मनुष्य सब जीवों को स्वोपम समझने लगे तब तो उसका जीना मुश्किल हो जाय क्योंकि वनस्पति आदि के असंख्य प्राणियों का नाश किये बिना वह जीवित नहीं रह सकता उनको स्वोपम-अपने समान-समझने से कैसे काम चलेगा ?

उत्तर—ध्येयदृष्टि अध्याय में अधिक से अधिक प्राणियों के अधिक से अधिक सुख का वर्णन किया गया है, स्वोपमता का विचार करते समय उस ध्येय को न भुलाना चाहिये उसमें चैतन्य की मात्रा का विचार करके आत्मरक्षा के लिये काफी गुंजाइश बताई गई है।

प्रश्न—जहां चैतन्य की मात्रा में विषमता है वहाँ ध्येय दृष्टि का उक्त सिद्धांत काम आ जायगा पर मनुष्यों मनुष्यों में भी स्वोपमता का विचार नहीं किया जासकता। एक न्यायाधीश अगर यह सोचने लगे कि अगर मैं चोर के स्थान पर होता तो मैं भी चाहता कि मुझे दंड न मिले इसलिये चोर को दंड न देना चाहिये। इस प्रकार की उदारता से पापियों की बन आयगी। जगत में पाप निरंकुश हो जायँगे।

उत्तर—पर न्यायाधीश को यह भी सोचना चाहिये कि अगर मेरे घर की चोरी हुई होती तो मैं भी चाहता कि चोर को दण्ड मिले। इसप्रकार स्वोपमता का विचार सिर्फ चोर के विषय में ही नहीं करना चाहिये किन्तु उसके विषय में भी करना चाहिये जिसकी चोरी हुई है। अपराधी या पापी लोगों का विचार करते समय सामूहिक हित के आधार पर बने हुए नैतिक नियमों की अवहेलना नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—यदि अपराधी को दण्ड-विधान का नियम ज्यों का त्यों रहा तो चिकित्सता का क्या उपयोग हुआ ?

उत्तर—दंड भी चिकित्सा का अंग है। अपराध एक बीमारी है उसकी चिकित्सा कई तरह से होती है। सामाजिक सुव्यवस्था के लिये जहाँ दण्ड आवश्यक हो वहाँ दंड देना चाहिये पर दंड्य व्यक्ति पर रोषवश अतिदण्ड न हो जाय इसका खयाल रखना चाहिये। और हृदय के भीतर उसके दुःख से सहानुभूति और दया होना चाहिये। यही दंड के चिकित्सापन का चिह्न है।

प्रश्न—दण्ड यदि चिकित्सा है तो मृत्यु-दंड तो किसी को दिया ही क्यों जायगा ? क्योंकि मरने पर उसकी चिकित्सा कैसे होगी ?

उत्तर—चिकित्सा का काम सिर्फ आये हुए रोग को दूर हटाना ही नहीं है किन्तु रोगों को पैदा न होने देना और उनको उत्तेजित न होने देना भी है। मृत्यु-दंड का भय लाखों पापियों के मन में पाप उत्तेजित नहीं होने देता इसलिये उसका विधान भी चिकित्सा का अंग है। निसन्देह मृत्युदण्ड पानेवाले की चिकित्सा इसमें अच्छी नहीं हो पाती है परन्तु अन्य लाखों की चिकित्सा होती है। समाज शरीर के स्वास्थ्य के लिये उसके किसी विषैले अंश को हटाना पड़े तो हटाना चाहिये।

प्रश्न—मानलो क्षमा करने का उसपर अच्छा प्रभाव पड़ता है पर जिसका उसने अपराध किया उसको असन्तोष रहता है। तब चिकित्सा के लिहाज से उसे क्षमा किया जाय या पीड़ित के सन्तोष के लिये पीड़क को दंड दिया जाय ?

उत्तर—यदि पीड़ित को सन्तोष न हो तो पीड़क को उचित दंड मिलना चाहिये। अन्यथा पीड़ित के मन में प्रतिक्रिया होगी और वह किसी दूसरे उपाय से बदला लेने की कोशिश करेगा ? बदलेमें मर्यादाका अतिक्रम और अन्धाधुन्धी होने की पूरी सम्भावना है। अगर वह बदला न भी ले तब भी उसका हृदय जलता रहेगा उसे न्यायके प्रति अविश्वास हो जायगा। क्षमा का उपयोग अधिकतर अपने विषय में करना चाहिये। अगर अपना हृदय निर्वैर होगया हो और क्षमासे पीड़क के सुधरनेकी आशा हो तब क्षमा करना उचित है।

प्रश्न—कभी कभी ऐसा अवसर आता है कि कोई कोई काम अपने को बुरा नहीं मालूम होता और दूसरे को बुरा मालूम होता है। जैसे अपने को एकान्त में बैठना अच्छा मालूम होता हो दूसरों को बुरा मालूम हो, घास खाना अपनेको बुरा मालूम होता हो और घोड़ेको अच्छा मालूम होता हो, अपने को कपड़ा पहिनना अच्छा मालूम हो दूसरों को बुरा मालूम होता हो, ऐसी हालत में स्वोपमता का विचार हम उनके बारे में करलें तो हमारी और उनकी परेशानी है। व्यवहार में भी बड़ी अड़चन आयगी।

उत्तर—स्वोपमता का विचार कार्य की रूपरेखा देखकर न करना चाहिये किन्तु उसका प्रभाव देखकर करना चाहिये। अन्तिम बात यह देखना चाहिये कि वह कार्य सुखजनक है या दुखजनक। सुख जैसा हमें प्यारा है वैसा दूसरों को भी प्यारा है इसलिये जैसे हम अपने सुख की पर्वाह करते हैं उसी प्रकार दूसरों के सुख की भी करना चाहिये। विचार सुखदुखका है इसलिये जो काम हमें दुखजनक हो और दूसरे को सुखजनक हो वह काम हम करेंगे। अगर बीमारी के कारण हमें भोजन की जरूरत नहीं है और भूख के कारण दूसरे को है तो अपने समान

दूसरे को उपवास कराना स्वोपमता नहीं है, स्वोपमता है यह कि हम अगर नीरोग होते और भूखे होते तो हम क्या चाहते वही दूसरे को देना चाहिये।

प्रश्न—जगत में सुखी अल्पसुखी दुःखी आदि अनेक तरह के प्राणी हैं उन सब को अगर अपने समान समझा जाय तो सब को बराबर समझना पड़ेगा। पर यह तो अन्धेर ही हुआ। अगर उनको बराबर न समझा जाय तो स्वोपमता कैसे रहेगी?

उत्तर—स्वोपमता के लिये सब को एक बराबर समझने की जरूरत नहीं है किन्तु योग्यतानुसार समझने की जरूरत है। जैसे हम चाहते हैं कि हमारी योग्यता की अवहेलना न हो उसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि दूसरों की योग्यता की अवहेलना न हो। यही स्वोपमता है। जगत्सेवक और स्वार्थी को एक समान समझना स्वोपमता नहीं है। पर अपने समान सभी को निःपक्ष न्याय देना स्वोपमता है।

प्रश्न—निःपक्ष न्याय देना एक प्रकार से अशक्य है क्योंकि अगर हम अपनी उन्नति करते हैं तो भी दूसरों के साथ अन्याय करते हैं। बड़े बनना यशस्वी श्रीमान बनना एक प्रकार से दूसरों के साथ अन्याय ही है क्योंकि इससे दूसरों पर बोझ पड़ता है। जहां दूसरे से बढ़ जाने का विचार है वहां स्वोपमता कैसे रह सकती है?

उत्तर—व्यक्तिसमभाव या स्वोपमता से मनुष्य का विकास नहीं रुकता और न उचित विकास मानव समाज के ऊपर बोझ हो सकता है। जब हम किंकर्तव्य-विमूढ़ हो रहे हों अपनी वैयक्तिक या सामूहिक विपत्ति से छुटकारा पाना चाहते हों तब कोई हम से अधिक बुद्धिमान विद्वान या परोपकारी हमारी विपत्ति दूर करने के लिये प्रयत्न करे तो वह हमें बोझ न होगा। [illegible] संसार सेवा करके अपने को [illegible] मानसे प्रसन्न होंगे। सेवा परोपकार आदि से जो मनुष्य महान बनता है उससे जगत को आनन्द ही मिलता है। इस महत्ता का मूल स्वोपमता है। जैसे हम चाहते हैं कि विपत्ति में हमें कोई सहारा दे, अंधेरे में रास्ता बताये, उसी तरह दुनिया भी चाहती है तब हम दुनिया के लिये अपनी शक्ति का उपयोग करते हैं तो उसकी चाह पूरी करते हैं। इसमें दुनिया पर बोझ क्या?

हां, जहां मनुष्य दुनिया को कुछ देता तो है नहीं, और अधिकार यश आदर सम्पत्ति आदि पाजाता है तब वह अवश्य दुनिया को बोझ हो जाता है। इसमें स्वोपमता का नाश भी होता है।

जैसे हम नहीं चाहते कि हमें कुछ सेवा दिये बिना कोई हमसे उसका बदला धन यश आदर विनय पूजा आदि के रूप में ले जाय उसी प्रकार दूसरे भी चाहते हैं। ऐसी हालत में हम अगर जनता से छल बल से धन यश आदर पूजा अधिकार की लूट कर लेते हैं तो यह जनता पर अन्याय है, स्वोपमता का अभाव है।

स्वोपमता या व्यक्तिसमभाव न तो कोई अन्धेरशाही है न अविवेक है, न इसमें विकास की रोक है, इसमें तो सिर्फ अपने न्यायोचित अधिकारों के लिये जैसी भावना रहती है वैसी ही दूसरों के लिये रखने की बात है। विश्व-कल्याण के विचार का भी ख़याल रखना आवश्यक है।

संयम या चारित्र का वर्णन व्यक्तिसमभाव का विशेष भाष्य समझना चाहिये। योगी में संयम का मूल यह व्यक्तिसमभाव होता ही है।

५ अवस्था-समभाव

(जिज्जो सम्मभावो)

सुखदता की निशानी योगी जीवन की अन्तिम श्रेणी यह अवस्थासमभाव है। यद्यपि सुख दुःख का सम्बन्ध बाह्य परिस्थितियों से काफी है फिर भी अवस्था समभावी बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव मनपर नहीं पड़ने देता। वह बाहर के दुःख में भी शान्त रहता है और बाहर के सुख में भी शान्त रहता है।

अवस्थासमभाव तीन तरह का होता है सात्त्विक, राजस, तामस। योगी का समभाव सात्त्विक होता है।

सात्त्विक (पुमोपेर)– जिस समभाव मे दुःखकारणो पर मोह नही होता, जीवन को एक खेल समझकर सुखदुःख को शान्तता से सहा जाता है, जिस का मूल मन्त्र रहता है—

दुःख और सुख मन की माया।
मनने ही संसार बसाया॥
मन को जीता दुनिया जीती हुआ भवोदधिपार
नहीं है दूर मोक्ष का द्वार॥

राजस (पुवोपेर)- राजस अवस्थासमभाव मे एक जोश या उत्तेजना रहती है। वह मारने की आशा में मरने से भी नहीं डरता, गिरी हुई परिस्थिति में वह शान्तता से सब सहता है पर हृदय निर्वैर नहीं होता। जरा ऊँची श्रेणी के योद्धाओं में यह भाव पाया जाता है।

तामस (घुमोपेर)– यह जड़ तुल्य या पशु-तुल्य प्राणियों में पाया जाता है। इसमें न तो संयम है न वीरता, एक तरह की जड़ता है। इसमें अपनी विवशता का विचार कर अन्याय या अत्याचार सहन कर लिया जाता है। अन्याय और अत्याचारी का भी अभिनन्दन किया जाता है। इसका मन्त्र रहता है—

कोउ नृप होय हमे का हानी।
चेरि छोड़ होवब नहिं रानी॥

पराधीन देश के गुलामी मनोवृत्ति वाले मनुष्यो में यही तामस समभाव पाया जाता है। जानवरों में या जानवर के समान मनोवृत्ति रखनेवाले मनुष्यों में भी यही समभाव होता है।

सात्त्विक समभाव संयम पर, राजस सम-भाव साहस पर, तामस समभाव जड़तापर निर्भर है। योगी सात्त्विक समभावी होता है।

इस सात्त्विक समभाव को स्थिर रखने के लिये नाट्यभावना, क्षणिकत्व भावना, लघुत्व भावना, महत्त्व भावना, अनृणत्व भावना, कर्मण्य भावना, अद्वैत भावना आदि नाना तरह की भावनाएँ हैं।

१ नाट्यभावना (नटभावो)– एक सुपात्र नाटक मे कभी राजा बनता है कभी भिखारी बनता है कभी जीतता है कभी हारता है पर नाटक के खिलाड़ी का ध्यान इस बात पर नही रहता। वह जीतने हारने की चिन्ता नही करता वह तो सिर्फ यही देखता है कि मैं अच्छी तरह खेलता हूँ या नहीं? इसी प्रकार जीवन भी एक नाटक है इसमें किसी से वैर और मोह क्यो करना चाहिये। यह तो खेल है। दो मित्र भी विरोधी बनकर खेल खेलते हैं तो क्या उनमे वैर होजाता है। पति पत्नी भी आपस में शतरंज चौपड़ आदि के खेल खेलते हैं और एक दूसरे को जीतना चाहते हैं तो क्या वैर हो जाता है। अपने प्रति-द्वन्द्वियों को खिलाड़ी की तरह प्रेम की नजर से देखो। सच्चे खिलाड़ी जिस प्रकार नियम का भंग नही करते भले ही जीत हो या हार, इसी प्रकार जीवन में भी नीति का भंग मत करो भले ही जीत हो या हार। नाट्यभावना ऐसी ही होती है।

प्रश्न—खेल में प्रतिस्पर्द्धा होने पर भी जो मन मे मित्रता रहती है उसका कारण यह है कि खेल के बाहर जीवन मित्रतामय रहता है उसका ध्यान हमें बना रहता है, खेल के पहिले और पीछे हमे व्यवहार भी वैसा करना पड़ता है, पर जीवन का खेल तो ऐसा है जो जीवनभर रहता है उसके आगे पीछे का सम्बन्ध तो हमें ज्ञात ही नहीं रहता जिसके स्मरण से हम जीवन का खेल मित्रता के साथ खेल सकें। पतिपत्नी दिनरात प्रेम से रहते हैं इसलिये घड़ी दो घड़ी को खिलाड़ी बनकर प्रतिस्पर्द्धी बन गये तो दिनभर के सम्बन्ध के कारण घडी दो घड़ी की प्रतिस्पर्द्धा विनोद का रूप ही धारण करेगी परन्तु जीवन का खेल तो जीवन भर खलास नहीं होता तब खेल के बाहर का समय हम कैसे पा सकते हैं जब समभाव आदि रहे। जीवनभर खेलना है तो खिलाड़ी की तरह लड़ना झगड़ना भी है यहाँ

समभाव कैसे आयगा ?

उत्तर—दिन में एक समय ऐसा भी रक्खो जिस समय यह सोच सको कि हम नाटकशाला के बाहर हैं। यह समय प्रार्थना नमाज सन्ध्या आदि का भी हो सकता है या सुबह शाम घूमने का भी हो सकता है या और भी कोई समय हो सकता है, जिस समय एकान्त मिल जाय या मन दुनिया की इस नाटक शाला से बाहर खींच ले जाय। इस समय विश्वबन्धुत्व से अपना हृदय भरा रहना चाहिये और दुनियादारी के समस्त नाते रिश्ते वैर विरोध भूल जाना चाहिये। यह समय है जिसकी याद हमें जीवन का नाटक खेलते समय आती रह सकती है।

दूसरी बात यह है कि जिस कार्य को लेकर हमारी प्रतिस्पर्द्धा आदि हो उस कार्य में हम नाटकशाला के भीतर हैं बाकी अन्य समय में बाहर। मानलो दो आदमी राजनैतिक या सामाजिक आन्दोलन में भाग ले रहे हैं उनमें मतभेद है या स्वार्थभेद है तो जब तक उस आन्दोलन से सबन्ध है तब तक मतभेद या स्वार्थभेद सम्बन्धी व्यवहार हैं बाद में समझलो हम नाटकशाला के बाहर हैं।

जब तक बाजार में हो तब तक व्यापारी का खेल खेलो। घर में आकर बाजारके कामोंको इस प्रकार देखो जैसे एक खिलाड़ी अपने खेले गये खेल को देखता है। नाटक का खिलाड़ी रंग-मंच के बाहर यह नहीं सोचते कि राजा ने क्या किया और नौकर को क्या मिला। वे यही सोचते हैं कि राजा कैसा खेला नौकर कैसा खेला, राम कैसा खेला रावण कैसा खेला। खेल का विरोध खेल के बाहर नहीं रहता। इसी प्रकार बाजार की बातों पर घर में दर्शक की तरह विचार करो घर की बातों का बाजार में या घर के बाहर दर्शक की तरह विचार करो, इस प्रकार वैर विरोध स्थायी कभी न होने दो। प्रार्थना नमाज सन्ध्या आदि के समय सब दुर्वासनाएँ हटा दो, सारे जीवन को दर्शक की तरह देखो। इस प्रकार समभाव आ जायगा।

प्रश्न—बहुत से प्राणी ऐसे होते हैं जिन्हें समाज का शत्रु कह सकते हैं। जो खूनी हैं, डाकू हैं, स्त्रियों के साथ बलात्कार करते हैं ऐसे लोगों से जब प्रसंग पड़ जाता है तब उनके विषय में निर्वैर कैसे हो सकते हैं बल्कि उन लोगों को जब भी मौका मिले तभी दण्ड देना चाहिये। जब वे लोग खून या व्यभिचार करें तब उनसे वैर करें और बाकी समय में उनसे मित्र के समान व्यवहार करें तो इसका कोई अर्थ नहीं। पापी जब ऐसी सुविधाएँ पायेंगे तो उनके पाप निरंकुश होजायगे।

उत्तर—जो समाज का ऐसा शत्रु है उसे दण्ड देना उचित है और जब मौका मिले तभी दण्ड देना चाहिये। पागल कुत्ते को मार डालना ठीक है, फिर भी यह याद रखना चाहिये कि वह बीमार है, उससे वैर नहीं है, पर समाज के रक्षण के लिये उसे मार डालना ठीक समझा गया है। इसलिये हम प्रार्थना में बैठें तो पापी के विषय में भी हमारे मन में निर्वैर वृत्ति आजाना चाहिये। उस समय तो नाटक के खिलाड़ी नहीं रहना चाहिये। हमारे जीवन में कठोर या कोमल कैसा भी कर्तव्य आवे वह कर्तव्य करना उचित है, नाट्यभावना उसका विरोध नहीं करती पर एक तरह की निर्वैर वृत्ति पैदा करती है, जिससे हम सफलता असफलता महत्व लघुत्व की पर्वाह न करके शान्त रह सकते हैं।

प्रश्न—जब योगी नाटक के पात्र के समान जीवन का खेल खेलता है तब उसका द्वेष नकली होता है प्रेम भी नकली होता है। अगर कोई पति ऐसा योगी है तो वह अपनी पत्नी से ऐसा ही नकली प्रेम करेगा, पत्नी भी ऐसा ही प्रेम करेगी, यह तो एक तरह की वंचना है और क्षणिक भी

उत्तर—योगीमें मोह नहीं प्रेम होता है। यह प्रेम वंचना नहीं है। वंचना वहाँ है जहाँ प्रेम के अनुसार कार्य करने की भावना न हो, मन में विश्वासघात का विचार हो। योगी का प्रेम सच्चा होता है, निश्छल होता है, स्थिर होता है। मोही का प्रेम रूप के लिये होगा या किसी और

स्वार्थ के लिये होगा, रूपादि के नष्ट होने पर या स्वार्थ नष्ट होने पर नष्ट हो जायगा पर योगी का प्रेम कर्तव्य समझकर होगा वह स्वार्थ नष्ट होने पर भी कर्तव्य समझकर रहेगा। इसलिये मोही की अपेक्षा योगी का प्रेम अधिक स्थिर है।

२ क्षणिकत्वभावना (अलोपेरोभावो)-धन वैभव सुख दुःख आदि क्षणिक हैं, अनित्य हैं, किसी न किसी दिन चले जाँयगे, इस प्रकार की भावना से भी अवस्थासमभाव पैदा होता है। हर एक आदमी को अपने मन में और अपने कमरे में यह लिख रखना चाहिये कि 'ये दिन चले जाँयगे'। अगर ये दिन वैभव के हैं तो भी चले जाँयगे इसलिये इनका अहंकार न करना चाहिये। अगर ये दिन दुःख के हैं तो भी चले जाँयगे इसलिये दुःख में घबराना न चाहिये। इस प्रकार क्षणिकत्व भावना से अवस्थासमभाव पैदा होता है, सुख दुःख में शान्ति होती है।

प्रश्न—इस प्रकार अवस्थासमभाव से तो मनुष्य निरुद्यमी होजायगा। अन्याय हो रहा है तो वह सहन कर जायगा कि आखिर यह एक दिन चला ही जायगा, ऐसा आदमी राष्ट्रीय सामाजिक अपमानों को भी सह जायगा।

उत्तर—भावनाएँ कर्तव्य में स्थिर करने के लिये हैं, अगर भावना विश्वकल्याण में बाधक होती हैं तो वह भावनाभास (निभावो) है।

अवस्थासमभाव का प्रयोजन यह है कि मनुष्य सुख दुःख में क्षुब्ध होकर कर्तव्यहीन न होजाय। मोह और चिन्ता उसके जीवन को कर्तव्यशून्य न बनादें। क्षणिकत्व भावना का उपयोग भी इसी तरह होना चाहिये।

क्षणिकत्व भावना के समय यह विवेक न भूलना चाहिये कि विपत्ति और सम्पत्ति क्षणिक होने पर भी प्रयत्न करने से कल जानेवाली विपत्ति आज ही जा सकती है और आज जानेवाली सम्पत्ति कल तक रुक सकती है।

भावनाओं के विषय में यह खास ध्यान में रखना चाहिये कि जिस कार्य के लिये उनका उपयोग है उसी में उनका उपयोग करना चाहिये। नियम, जोकि अनेक दृष्टियों के विचार से बनाये जाते हैं उनका भी दुरुपयोग हो जाता है फिर भावना तो सिर्फ किसी एक दृष्टि के आधार से बनाई जाती है उनकी दृष्टि के विषय में ज़रा भी गड़बड़ी हुई कि वे निरर्थक ही नहीं, अनर्थकर हो जाती हैं। इसलिये यह बात सदा ध्यान में रखना चाहिये कि हर एक भावना और नियम स्वपर-हित या विश्वकल्याण के लिये है। स्वपरहित में थोड़ी भी बाधा हो तो समझो उस भावना या नियम का दुरुपयोग हो रहा है।

३ लघुत्वभावना (कीतोभावो)- अमुक चीज नहीं मिली, अमुक ने ऐसा नहीं किया इत्यादि आशाओं का पारा इसलिये विशाल होता जाता है कि मनुष्य अपने को कुछ अधिक समझता है इसलिये उसका अहंकार पद-पद पर उमड़ता है और उसे दुखी करता है, साथ ही जगत को भी दुखी करता है। पर मनुष्य अगर यह सोचले कि इस विशाल विश्व में मैं कितना लघु हूँ क्षुद्र हूँ। प्रकृति का छोटासा प्रकोप, मेरी छोटी-सी गलती, इस जीवन को नष्ट कर सकती है। जगत में एक से एक बढ़कर धनी, बली, स्वस्थ, विद्वान, अधिकारी, तपस्वी, कलाकार, वैज्ञानिक, कवि, सुन्दर, यशस्वी पड़े हुए हैं, मैं किस किस बात में उनका अतिक्रमण कर सकता हूँ। अगर दुनिया ने मुझे महान नहीं समझा तो इसमें क्या आश्चर्य है। मरुस्थल में पड़े हुए रेती के किसी कण को पथिकों ने नहीं देखा, नहीं ध्यान दिया, तो इसमें उस कण को बुरा क्यों लगना चाहिये? इस प्रकार लघुत्व भावना से मनुष्य का अहंकार शान्त होता है और अपमान या उपेक्षा का कष्ट कम हो जाता है। पर यह ध्यान रहे कि लघुत्व भावना आत्मगौरव नष्ट करने के लिये नहीं है।

प्रश्न—लघुत्व भावना से अहंकार नष्ट हो जाता है फिर आत्मगौरव कैसे बचेगा? अहंकार और आत्मगौरव में क्या अन्तर है?

उत्तर—अहंकार में दूसरे की अनुचित अवहेलना है, आत्मगौरव में अपने किसी विशेष

गुण का उचित आदर है। अहंकार दुखद है आत्मगौरव सुखद है। आत्मगौरवहीन मनुष्य फ़जूल ही दूसरों की परेशानियाँ बढ़ाता है, उनका समय बर्बाद करता है उन पर बोझ बनता है उन्हें संकोच में डालता है, इसलिये आत्मगौरव आवश्यक है। इतना ख्याल रहे कि आत्मगौरव के नाम पर अविनय न होने पावे। उचित विनय रहना ही चाहिये।

४ महत्वभावना (वींगोभावो)— जब हमारी कोई हानि हो जाय, हम निराश या असन्तुष्ट हो जायें, मन में दीनता दयनीयता का राज्य जम जाय, उत्साह नष्ट हो जाय, तब हम महत्व भावना का उपयोग करना चाहिये। महत्व भावना के विचार इस प्रकार होते हैं।

संसार में एक से एक बढ़कर दुखी पड़े हुए हैं। किसी को भरपेट खाने को नहीं मिलता, कोई रोग के मारे तड़प रहा है कोई स्थायी बीमारियों का शिकार है किसी के पुत्र पति पिता आदि मर गये हैं, किसी को रात भर विश्राम करने के लिये स्थान भी नहीं है उनसे मेरी अवस्था अच्छी है। मेरे ऊपर एक या दो आपत्तियाँ हैं पर चारों तरफ से दुखी पददलित मनुष्य से यह संसार भरा पड़ा है, मेरी दशा तो उनसे काफी अच्छी है, फिर मुझे इस प्रकार दुःखी होने का क्या अधिकार है?

खालिक ने एक एक से बढ़कर बना दिया।
सौसे बुरा तो एक से अच्छा बना दिया॥

मैं एकाध से अच्छा हूँ यही क्या कम है?

इस भावना से मनुष्य की घबराहट दूर हो जाती है। हृदय को एक प्रकार की सान्त्वना मिलती है।

पर इस भावना का उपयोग अवनति के गड्ढे में पड़े रहने के लिये न करना चाहिये। अपनी और जगतकी उन्नति करनेके लिये, अन्याय अत्याचारों को दूर करने के लिये, सदा प्रयत्न करते रहना जरूरी है। जब निराशा होने लगे उत्साह भंग होने लगे तब इस भावना का चिन्तन करना चाहिये।

५ अनृणत्वभावना (अनृणभावो)— मनुष्य अपने स्वार्थ के लिये सबसे आशा लगाया करता है—वह हमें धन देवे वह अमुक सुविधा देवे आदि। जब यह आशा पूरी नहीं होती तब उसका द्वेष करता है दुःखी होता है। इसके लिये अनृणत्व भावना का विचार करना चाहिये कि किसी पर मेरा कोई ऋण नहीं है इसलिये अगर किसी ने मेरा अमुक काम नहीं किया तो इसमें बुराई की क्या बात है। जब पैदा हुआ था तब मेरे पास क्या था। न धन था न बल, न बुद्धि विद्या। यह सब समाज से पाया इसलिये अगर इसका फल समाज को या किसी दूसरे को दे दिया तो इसमें किसी पर मेरा क्या ऋण हो गया। यह तो लिये हुए ऋण का अमुक अंश में चुकाना हुआ। इस प्रकार किसी पर अपना ऋण न समझने में दूसरे से पाने की लालसा क्षीण होजाती है और न पाने से विशेष खेद नहीं होता, समभाव बना रहता है।

६ कर्तव्य भावना (कंमत्तोभावो)— मैंने अमुक का यों किया और अमुक का त्यों किया इस प्रकार के विचारों से मनुष्य दूसरों को अपने से तुच्छ समझने लगता है और दूसरों के श्रम पर मौज करना अपना हक़ समझ लेता है। इससे संघर्ष और द्वेष बढ़ता है और अपनी अकर्मण्यता के कारण दुनिया की प्रगति भी रुकती है इसके लिये कर्तव्य भावना का उपयोग करना चाहिये।

मनुष्य कर्म किये बिना रह नहीं सकता विश्राम का आनन्द तभी तक है जबतक उसके आगे पीछे कर्म है, अन्यथा कर्महीन विश्राम एक जेलखाना है या जड़ता है। इस प्रकार कर्म करना मनुष्य का स्वभाव है ऐसी हालत में उसे कुछ न कुछ करना तो पड़ेगा ही, तब यदि उसके कर्म से किसी को कुछ लाभ हो गया तो वह दूसरे पर अहसान क्यों लादे? जुगनू स्वभाव से चमकता हुआ जाता है उससे अगर किसी को प्रकाश मिल गया तो जुगनू उस पर अहसान क्यों बतायगा? परोपकार को स्वाभाविक कर्म समझकर

किसी व्यक्तिविशेष पर अहसान का बोझ न लादना कर्तव्य भावना है।

अद्वैत भावना (नोदुमोभावो)-सब संघर्ष और पापों के मूल में द्वैत है। जिसको पर समझा उसके स्वार्थ से संघर्ष हुआ और पाप आया। जहाँ अद्वैत है वहाँ हानि लाभ का विचार भी नहीं रहता। अपनी हानि होकर दूसरे का लाभ हुआ तो वह भी अपना लाभ मालूम होने लगता। हमारा अन्न जब बेटा बेटी पत्नी भाई माँ बाप आदि खा जाते हैं तब यह विचार नहीं होता कि इनने कितना कमाया और कितना खाया, सब के साथ अद्वैत भावना होने से यही मालूम होता है कि हमने कमाया हमने ही खाया।

विश्व के साथ जिसकी यह अद्वैत भावना है वह दुःखी रहकर भी दूसरों को सुखी देखकर सुखी होता है। जैसे बाप भूखा रहकर भी बच्चों को खाते देखकर प्रसन्न होता है उसी प्रकार अद्वैतभावनाशील मनुष्य जगत को सुखी देखकर प्रसन्न रहता है इससे भी दूर एक अवस्था में वह सन्तुष्ट रहता है।

पहिले भी कहा जा चुका है कि भावनाओं का दुरुपयोग न करना चाहिये, न अनुचित स्थान या अनुचित रीति से उपयोग करना चाहिये। साथ ही इतना भी समझना चाहिये कि अवस्था-समभाव अपने को अधिक से अधिक प्रसन्न रखने, निराशा और निरुत्साह न होने के लिये है, कर्मण्यता का नाश करने के लिये नहीं। हम मूर्ख हैं तो मूर्ख बने रहें, हम गुलाम हैं तो गुलाम ही बने रहें, जगत् में अन्याय अत्याचार होते हैं तो चुपचाप देखते रहें यह अवस्थासमभाव नहीं है, यह जड़ता है पामरता है। अवस्थासमभावी वही है जो दुःख सुख की पर्वाह किये बिना कल्याण में लगा रहता है, जिसे सफलता असफलता की भी पर्वाह नहीं होती, कोई भी विपत्ति जिसे विचलित नहीं कर सकती, कोई प्रलोभन जिसे लुभा नहीं सकता, जिसे कोई हतोत्साह नहीं कर सकता।

योगी की लब्धियाँ (जिम्मपे रिद्धोखे)

अवस्था समभाव के प्राप्त होने पर मनुष्य योगी बनजाता है, वह अनेक ऋद्धि सिद्धियों को पा जाता है। ऋद्धि सिद्धि का मतलब अणिमा महिमा आदि कल्पित और भौतिक शक्तियों से नहीं है किन्तु उस आध्यात्मिक बल से है जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य विजयी बनता है, आत्म विकास और विश्वकल्याण के मार्ग की सारी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता है, अन्तस्तल के सारे मैल धो डालता है। योगी की ये आध्यात्मिक लब्धियाँ तीन हैं:— १—विघ्न-विजय २—निर्भयता ३—अकषायता।

१ विघ्न-विजय (बाधो जयो)-स्वपरकल्याण के मार्ग में चार तरह के विघ्न आते हैं १ विपत् २ विरोध ३ उपेक्षा ४ प्रलोभन। योगी इन चारों पर विजय करता है।

१ विपत् विजय (मुसोजयो)- बीमारियाँ धनक्षय या साधनक्षय, सहयोगीका वियोग आदि नाना तरह की विपदाएँ हैं जो मनुष्यों पर आती हैं—योगियों पर भी आती हैं परन्तु योगी उसकी पर्वाह नहीं करता, उसका हृदय कर्तव्य से विचलित नहीं होता। बीमारी से शरीर अशक्त होने से उनका शरीर कुछ निष्क्रिय भले ही हो जाय पर हृदय निष्क्रिय नहीं होता। कल्याण के मार्ग पर चलने से या विश्वसेवा करने से मैं बीमार हो गया, अब यह काम न करूंगा इस प्रकार उस का उत्साह भंग नहीं होता। हां, बीमार होना दुनिया पर बोझ लादना है जगत में दुःख बढ़ाना है, इसलिये बीमारी से बचने का यत्न करता है, पर शरीर जितना काम कर सकता है उतना काम करने में वह अपने हृदय को निर्बल नहीं बनाता।

धन का क्षय हो जाय, उचित साधन न मिले सहयोगी न मिले तो भी वह हाथपर हाथ रखकर बैठकर नहीं रह जाता। अपनी शक्ति का वह अधिक से अधिक उपयोग किसी न किसी तरह आगे बढ़ने के लिये करता ही है। प्रगति हो न हो या कम हो पर उसके लिये वह अपनी

शक्ति लगाता ही रहता है। विपत्तियाँ उसके उत्साह को मार नहीं सकतीं यही उसकी विपत्-विजय है।

२ विरोध-विजय (फुलुरो जयो)– जनसेवा और आत्म-विकास के कुछ काम तो ऐसे होते हैं जिनमें विपत्तियाँ भले ही रहें पर विरोध नहीं होता या नाममात्र का होता है। आप किसी रोगी का इलाज करें कोई काव्य लिखें किसी को दान दें परिचर्या करें इत्यादि कामों में शारीरिक या आर्थिक विपत्ति की अधिक सम्भावना है विरोध की कम। पर सामाजिक रूढ़ियों को हटाने का प्रयत्न करें, लोगों के बिगड़े विचार सुधारने की कोशिश करें तो विरोध की अधिक सम्भावना है। योगी इस विरोध की पर्वाह नहीं करता। न तो वह विरोधियों पर क्रोध करता है और न उनकी शक्ति के आगे झुकता है। विरोध को वह उपेक्षा और अपनी क्रियाशीलता के द्वारा निष्प्रभ कर देता है। उसके दिल पर कोई ऐसा प्रभाव नहीं पड़ता जो उसको पथ से विमुख करदे।

प्रश्न—वैद्य भी रोगी के विरोध की पर्वाह करता है, उसका मन रखने की कोशिश करता है, इसी प्रकार समाजसेवक को क्यों न करना चाहिये?

उत्तर- विरोध पर विजय पाने के लिये जिस नीति की या धैर्य की आवश्यकता है उसका उपयोग योगी करता ही है। जैसे वैद्य रोगी का मन रखने की कोशिश करता है वह रोगी की चिकित्सा के लिये, न कि रोगी के विरोध के डर से। वैद्य के मनमें भय नहीं हिताकांक्षा होती है उसी प्रकार योगी विरोध से डरता नहीं है हिताकांक्षा के वश से नीति से काम लेता है।

जो लोग सन्मान या कीर्तिकांक्षा के वश के कारण या पैसे के कारण विरोध से डरते हैं परन्तु दुहाई देते हैं नीति की, वे अशक्त भीत या कायर तो हैं ही, साथ ही दम्भी भी हैं। वे योगियों से उल्टे हैं।

विपत् विजय की अपेक्षा विरोध विजय में मनोबल की विशेष आवश्यकता है। विपत् विजय में जनता की सहानुभूति का बल मिलता है परन्तु विरोध विजय में बल नहीं मिलता, या कम मिलता है।

३ उपेक्षा-विजय (म्टो जयो)– लोग जिसे विरोध से नहीं गिरापाते उसे उपेक्षा से गिराने की कोशिश करते हैं। अगर मनुष्य में पर्याप्त मनोबल हो तो विरोध पर वह विजय पा जाता है परन्तु उपेक्षा पर विजय पाना फिर भी कठिन रहता है। विरोध में संघर्ष पैदा होता है उससे गति मिलती है पर उपेक्षा से मनुष्य भूखों मर जाता है। पानी में प्रवाह के विरुद्ध भी तैरा जा सकता है, यद्यपि इसके लिये शक्ति चाहिये, फिर भी तैराक को गुंजाइश है, पर शून्य में, जहा कोई विरोध नहीं करता, अच्छा से अच्छा तैराक भी नहीं तैर पाता। उपेक्षाविजय की यही सब से बड़ी कठिनाई है। इससे कार्यकर्ता साधनहीन और निरुत्साह होकर मर जाता है। पर योगी इस उपेक्षा पर भी विजय पाता है क्योंकि उसे कर्तव्य का ही ध्यान रहता है, दुनिया की दृष्टि की या सफलता असफलता की वह पर्वाह नहीं करता

उपेक्षा भी दो तरह की होती है-एक कृत्रिम दूसरी अकृत्रिम। जो उपेक्षा जानबूझकर की जाती है, जिसमें विरोध रूप में भी सहयोग न देने की भावना रहती है वह कृत्रिम उपेक्षा है। अकृत्रिम उपेक्षा अनजान में होती है। योगी अपने काम में एक प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है और उसी आनन्द में उसे पर्याप्त संतोष प्राप्त हो जाता है इसलिये कोई उस पर उपेक्षा करे तो उसे इसकी पर्वाह नहीं होती इस प्रकार उपेक्षा पर विजय करके वह कर्तव्य करता रहता है।

प्रश्न—कोई कोई सेवाएँ ऐसी होती हैं कि जनता की उपेक्षा हो तो उनका कुछ असर नहीं रह जाता। जनता को जगाना ही सेवा कार्य हो और जनता ही उपेक्षा करे तो ऐसी निष्फल सेवा में शक्ति लगाने से क्या लाभ? योगी तो विवेकी

है, निरर्थक सेवा उसका लक्ष्य न होना चाहिये, पर अगर वह निष्फल समझ कर उस सेवा को छोड़ देता है-तो उपेक्षाविजयी नहीं रहता, ऐसी हालत मे वह क्या है ?

उत्तर—उपेक्षा से अगर निष्फलता का पता लगता हो इसलिये कोई कार्य छोड़ने की आवश्यकता हो जिससे वह शक्ति दूसरी जगह लगाई जा सके यह एक बात है और उपेक्षा को विघ्न समझकर कर्तव्य त्याग करना दूसरी बात है। पहिली बात मे विवेक है दूसरी मे कायरता है। किसी भ्रम के कारण किसी अनावश्यक अनुचित या शक्ति से बाहर कार्य को कर्तव्य समझ लिया हो तो उसकी अनावश्यकता आदि समझ में आ जाने पर उसका त्याग करना अनुचित नहीं है, पर इससे मुझे यश नहीं मिलता मान प्रतिष्ठा नहीं मिलती इत्यादि विचारों से छोड़ बैठना अनुचित है। यह एक तरह की स्वार्थान्धता है।

४ प्रलोभन-विजय (ज़ेलोंभोजयो)- उपेक्षा विजय से भी कठिन प्रलोभन विजय है। कल्याण मार्ग में वह सब से बड़ा विघ्न है। कल्याणपथ के पथिक बनने का जो सात्विक आनन्द है उसको नष्ट करने का प्रयत्न प्रलोभन किया करते हैं। अगर यह काम छोड़ दूं तो इतनी सम्पत्ति मिल सकती है, इतना सन्मान और वाहवाही मिल सकती है, पद मिल सकता है, भोगोपभोग मिल सकते हैं, देखो अमुक आदमी इतना धन यश मान प्रतिष्ठा पद सहयोग आदि पा गया है उसी रास्ते चलूं तो मैं भी पा सकता हूँ इत्यादि प्रलोभनों के जाल में योगी नहीं आता। मान-प्रतिष्ठा यश आदि से उसे वैर नहीं है पर जिसको उसने कल्याण समझा उसके लिये वह धन पद मान प्रतिष्ठा आदि का बलिदान कर देता है। अधिक कल्याण के कार्य में अगर यश न मिलता हो और अल्प कल्याण के कार्य में यश मिलता हो तो भी वह यश की पर्वाह न करेगा वह अधिक कल्याण का कार्य ही करेगा। कोई भी प्रलोभन उसे कल्याण पथ से विचलित नहीं कर सकता।

प्रश्न—अगर योगी को यह मालूम हो कि अमुक पद या अधिकार पानेसे, वैभव मिलने से, या किसी प्रकार व्यक्तित्व बढ़ने से आगे बहुत सेवा हो सकेगी इसलिये कुछ समय कल्याण मार्ग में शिथिलता दिखलादी जाय तो कोई हानि नहीं है, तो इस नीतिज्ञता या चतुराई को क्या प्रलोभन के आगे योगी की पराजय मानना चाहिये ?

उत्तर—यह तो कर्तव्य की तैयारी है इस में पराजय नहीं है। पर एक बात ध्यान में रखना चाहिये कि यह सचमुच तैयारी हो। कायरता या मोह न हो। अगर जीवन भर यह तैयारी ही चलती रही, समय आने पर भी कर्तव्य न किया, या तैयारी के अनुसार कार्य न किया तो यह प्रलोभन के आगे अपनी पराजय ही समझी जायगी। साधारणतः यह खतरे का मार्ग है। तैयारी के बहाने प्रलोभन के मार्ग मे जानेपर बहुत कम आदमी प्रलोभन का शिकार कर-पाते हैं, अधिकांश व्यक्ति प्रलोभन के शिकार बन जाते हैं। कर्तव्यशील मनुष्य तो वहीं से अपना कर्तव्य शुरु कर देता है जहा से उसे कर्तव्य का भान होने लगता है। अपवाद की बात दूसरी है। पर अपवाद की सचाई की परीक्षा तभी होगी जब तैयारी का उपयोग वह कर्तव्य के लिए करेगा। तब तक उसे अपवाद कहलाने का दावा न करना चाहिये। ठीक मार्ग यही है कि कर्तव्य करते हुए शक्तिसंचय आदि किया जाय।

इस प्रकार इन चार प्रकार के विघ्नों पर विजय प्राप्त करके योगी स्वपरकल्याण के मार्ग में आगे बढ़ता जाता है।

२ निर्भयता (नेहिडो)

योगी की दूसरी लब्धि है निर्भयता। भय अनेक तरह का होता है पर वह सभी त्याज्य नहीं है। भय एक गुण भी है। जो कल्याण के लिये आवश्यक हैं ऐसे भयों का त्याग नहीं करना चाहिये। भय के तीन भेद हैं-१ भक्तिभय २ विरक्तिभय, ३ अपायभय।

१ भक्तिभय (भक्तडिडो)— कल्याणमार्ग में जो प्रेरक हैं जिनके विषय में हमें भक्ति है आदर है कृतज्ञता है उनका भय भक्तिभय है। यह मनुष्य का महान सद्गुण है। ईश्वर से डरो. गुरुजनों से डरो, आदि वाक्यों में इसी भय से मतलब है। इस भय का त्याग कभी न करना चाहिये।

प्रश्न—बहुत से आदमी सिर्फ इसीलिये कर्तव्य से भ्रष्ट हो जाते हैं कि उनके मूढ माता पिता उसमें बाधा डालते हैं। अगर उनकी आज्ञा न मानी जाय तो वे घर से निकाल देंगे जायदाद में हिस्सा न देंगे इसलिये अमुक कुरूढ़ियों का पालन करना पड़ता है। यह भय गुरुजनों का भय है। इसे भक्तिभय मानकर उपादेय मानना क्या उचित है ?

उत्तर—इस भय मे माता पिता की भक्ति कारण नहीं है किन्तु धन छिनने का निकाले जाने का दुःख कारण है, इसलिये इसे भक्तिभय नहीं कह सकते. तब यह भक्तिभयके समान उपादेय कैसे हो सकता है ? यह अपायभय है।

यद्यपि भक्तिभय उपयोगी है सद्गुण है परन्तु ऐसा भी अवसर आता है जब यह कर्तव्य मे बाधक बन सकता है उस समय यह हेय है। जैसे माता पिता की कोई हानिकर हठ है और भक्तिवश उनकी हठ पूरी की जाती है। माता पिता आर्थिक क्षति या ऐसी कोई हानि न पहुँचा सकते हों जिससे इसे अपायभय कहा जा सके, तब यह भक्तिभय तो होगा पर उपादेय न होगा। यह भक्तिभय का दुरुपयोग कहा जायगा।

इसी प्रकार देव गुरु या शास्त्र का भय है जो कि भक्तिभय है। वह अगर सत्य और अहिंसा के पथ में या कल्याण के पथ मे बाधक होता हो तो वह भी हेय हो जायगा। साधारणतः भक्तिभय अच्छा है पर उसका दुरुपयोग रोकना चाहिये।

२ विरक्तिभय (मिर्च डिडो)— पाप कार्यों मे विरक्ति होने से जो भय होता है वह विरक्तिभय या त्यागभय है। हिंसा का भय, चोरी का भय, दूसरे के दिल दुखने का भय आदि नाना भय विरक्तिभय हैं। जब कहा जाता है—कुछ पाप से डरो तब उसका अर्थ यही विरक्तिभय है। यह भी एक आवश्यक भय है सद्गुण है।

३ अपायभय (मुग्गो डिडो)— धनहानि, अधिकारहानि, यशोहानि, प्रियजनहानि, भोगहानि, मृत्यु, जरा रोग, आघात, अपमान आदि नाना तरह के अपाय हैं इनका भय अपायभय है। योगी इन अपायों से ऐसा नहीं डरता कि सत्य के मार्ग से विमुख होजाय। यद्यपि जानबूझकर वह इन अपायों को निमन्त्रण नहीं देता पर कर्तव्य पथ में वह इनकी पर्वाह नहीं करता।

प्रश्न—यदि योगी के सामने कोई विषधर सर्प किसी मेंढक को पकड़ना चाहता हो तो योगी दयावश सर्प को रोकेगा, ऐसी अवस्था में वह विषधर सर्प योगी को काट खायगा। योगी दयालु होने के कारण सर्प को मार तो सकेगा नही, इसलिये अपने प्राण दे देगा, क्योंकि वह मृत्यु से निर्भय है। अगर वह सर्प को नहीं रोकता है तो समझना चाहिये कि वह मृत्यु से डरता है तब योगी नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसी अवस्था में योगी कितने दिन जियेगा ?

उत्तर—योगी के जीवन का ध्येय है विश्व में अधिक से अधिक सुखवृद्धि करना। अगर उसे यह मालूम हो कि इस सर्प को मारने से सर्प के समान चैतन्य रखनेवाले अनेक प्राणियों की हिंसा रुक सकती है तो वह दयालु होने पर भी सर्प को मार सकता है। पर सर्प और मेंढक के मामले मे वह उपेक्षा भी कर सकता है क्योंकि इस प्रकृति के राज्य में सब जगह 'जीवो जीवस्य जीवनम्' अर्थात् प्राणी प्राणी का जीवन है, यह नियम काम कर रहा है। जहाँ शिक्षण का प्रभाव पड़ता है वहाँ तो इस नियम का विरोध कुछ असरकारक रहता है पर जहाँ शिक्षण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता वहाँ उपेक्षा ही अधिक सम्भव है। मनुष्य को सिखाकर उस पर संस्कार डालकर या कानून का भय दिखाकर उसके स्वभाव पर कुछ स्थायी सा अंकुश रक्खा जा सकता है

जिससे वह पशु आदि की हत्या न करे। पर सर्प को इस प्रकार सिखाया नहीं जा सकता इसलिये वहां योगी उपेक्षा कर सकता है, या बहुत से मेंढकों की रक्षा के विचार से सर्प को मार भी सकता है। मेंढक के लिये प्राण देना अनुचित है। क्योंकि अपने प्राण देने से भी सर्प जातिपर स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता, जिससे एक मनुष्य की हानि हजारों सर्पों के स्वभाव में परिवर्तन करके लाभ में परिणत हो सके।

मृत्यु से निर्भयता का मतलब यह नहीं है कि आवश्यकता अनावश्यकता उचितता अनुचितता आदि का विचार किये बिना मौत के मुँह में कूदता फिरे। किन्तु उसका मतलब यह है कि अगर किसी कारण मृत्यु का अवसर उपस्थित हो जाय तो बिना किसी विशेष क्षोभ के वह मरने को भी तैयार रहे। जीवन के किसी विशेष ध्येय की पूर्ति में मौत का सामना करने की आवश्यकता ही हो तो वह उसके लिये भी तैयार रहे। योगी अवस्थासमभावी होने से साधारण जन के समान मृत्यु से नहीं डरता। जब वह स्वपर कल्याण के लिये जीवन को बन्धन समझता है, तब वह जीवन का त्याग कर देता है, एक तरह का समाधिकरण कर लेता है, यही उसकी मृत्यु से निर्भयता है।

मृत्यु से निर्भय होने के विषय में जो बात कही गई है वही बात अन्य निर्भयताओं के विषय में भी है। आवश्यक प्रसंग आनेपर वह सब कुछ त्याग सकता है यही उसकी निर्भयता है। यद्यपि आवश्यकता का नापतौल ठीक ठीक तरह नहीं किया जा सकता इसलिये योगी एक तरह से अज्ञेय होता है फिर भी विचारक मनुष्य योगी की परिस्थिति का विचार करके निर्णय कर सकता है।

फिर भी निर्भयता का परखना कठिन ही है। अनेक अवसरों पर इस विषय में भारी भ्रम होजाता है। एक स्त्री पति के मरने पर अपने प्राण दे देती है, यह उसकी मोहजनित कायरता है पर साधारण लोग इसे प्रेमजनित निर्भयता समझते हैं। वैधव्य की असुविधाओं से डर कर वह प्राण देती है इसलिये उसकी निर्भयता से समयता अधिक है।

कोई भी आदमी धन के लिये यश की पर्वाह न करे, नाम हो या बदनाम किसी तरह धन कमाना चाहिये यह उसकी नीति हो और कहे—मुझे अपयशका डर नहीं है, तो यह उसकी वञ्चना है। इससे तो केवल यही मालूम होता है कि वह यश की अपेक्षा धन का अधिक लोभी है। किसी एक चीज का अधिक लोभी होने के कारण दूसरी चीज की पर्वाह न करना निर्भयता नहीं है। निर्भयता है वहाँ, जहाँ कल्याण पथ में आगे बढ़ने के लिये किसी की पर्वाह नहीं की जाती।

कोई कोई लोग नामवरी के लिये धन की पर्वाह नहीं करते यह भी निर्भयता नहीं है। यह तो धन की अपेक्षा यश का अधिक लोभ हुआ, ऐसा आदमी यश की आशा न रहने पर कर्तव्य का त्याग कर देगा। यह निर्भयता नहीं है। निर्भयता सर्वतोमुखी होना चाहिये। किसी चीज की हमें चाह नहीं है रुचि नहीं है या उससे हमारी हानि नहीं हो सकती तो उसकी तरफ से लापर्वाही बताने से अरुचि या शक्ति का परिचय मिलेगा निर्भयता का नहीं। निर्भयता वहां है जहां रुचि हो तो भी कर्तव्य के लिये उसकी पर्वाह न की जाय, हानि हो सकती हो फिर भी कर्तव्य के लिये उसकी पर्वाह न की जाय।

मतलब यह है कि योगी की निर्भयता इस बात में नहीं है कि उसके पास शक्ति अधिक है या दुःखी होने की परिस्थिति नहीं है परन्तु इस बात में है कि वह अवस्थासमभावी है। वह माध्यस्थ्य भावना आदि का चिन्तवन करता रहता है। यह निर्भयता स्थायी निर्भयता है और इस निर्भयता को पाकर मनुष्य अन्याय करने पर उतारू नहीं होता।

निमित्त के भेद से भय के भेद बहुत हैं पर यहां कुछ खास खास भयों का उल्लेख कर दिया

जाता है और उनके विषय में योगी की विचार-धारा बताई जाती है। मुख्य भय दस हैं— १ अभोगभय, २ वियोगभय, ३ संयोगभय, ४ रोगभय, ५ मरणभय, ६ अगौरवभय, ७ अयशोभय, ८ असाधनभय ९ परिश्रमभय १० अज्ञातभय।

१ अभोगभय (नोजुशोडिहो)—इन्द्रियों के विषय अच्छे अच्छे मिलें, खराब न मिलें, इस विषय का भय अभोगभय है। योगी सोचता है—इन्द्रियों की असली उपयोगिता तो यह है कि वे यह बतायें कि शरीर के लिये कौनसी वस्तु लाभकर है कौनसी अलाभकर। पर मनुष्य ने अपनी आदत को इस प्रकार बिगाड़ लिया है कि वह समझ ही नहीं पाता कि अच्छा क्या और बुरा क्या ? रसना इन्द्रिय को दुष्पक्व रोगजनक वस्तु में भी आनन्द आता है और स्वास्थ्यकर वस्तु भी बेस्वाद मालूम होती है तब रसना इन्द्रिय की पर्वाह क्या करना चाहिये ? कानों को सदुपदेश भी अप्रिय मालूम होता है राजस और तामस शब्द भी अच्छे मालूम होते हैं तब कान की पर्वाह क्यों की जाय ? इस प्रकार इन्द्रियविषयों में अनासक्त बन कर वह निर्भय हो जाता है।

इसका मतलब यह नहीं है कि वह इन्द्रियों को अनावश्यक कष्ट देता है। मतलब यह है कि कर्तव्य के सामने, लोककल्याण के सामने वह इन्द्रियकष्टों की पर्वाह नहीं करता। इस तरह से वह निर्भय रहकर आगे बढ़ता है।

२ वियोगभय (नेयुगो डिहो)—प्रियजन के वियोग की तरफ से भी वह निर्भय रहता है। अगर कोई प्रियजन आकर कहे कि जिसे तुम अपना कर्तव्य समझते हो उससे अगर विमुख न हो जाओगे तो मैं चला जाऊँगा। योगी उत्तर देगा—मैं नहीं चाहता कि आप चले जाँय पर कर्तव्य से मेरे विमुख हुये विना अगर आप न रह सकते हो तो मैं रोक नहीं सकता।

योगी सोचता है—स्वभाव से कौन प्रिय है कौन अप्रिय ? व्यवहार से ही प्राणी प्रिय और अप्रिय बनता है। जो मेरे धर्म की, कर्तव्य की पर्वाह नहीं करता उसकी पर्वाह मैं क्यों करूं ?

जब किसी प्रियजन के मर जाने की सम्भावना होती है तब योगी सोचता है—मेरा कर्तव्य उसकी सेवा करना है सो मैं सेवा करूंगा, बचाने की पूरी कोशिश करूंगा, उसके विषय में पूरा ईमानदार रहूँगा फिर भी अगर वह न बच सके तो उसकी योग्यता के अनुसार उसे यशस्वी बनाऊँगा, और क्या कर सकता हूँ ? जहां एक दिन संयोग है वहां एक दिन वियोग अनिवार्य है। इस प्रकार वह वियोग से भी निर्भय रहकर कर्तव्यरत रहता है।

वियोग से उसकी अपना मनोवृत्ति क्षुब्ध भी हो सकती है पर वह क्षोभ स्थायी नहीं होता और पहिले से उसका भय और पीछे से उसका शोक इतना तीव्र नहीं होता कि उसे पाप में प्रवृत्त करा सके. यही योगी की निर्भयता है।

३ संयोगभय (युगोडिहो)— अप्रियजन-संयोग के विषय में भी योगी निर्भय रहता है। उसके हृदय में प्रेम रहता है इसलिये अप्रियजन को प्रिय बनाने की आशा रहती है। अगर प्रिय न बनासके तो उसके संघर्ष से बचकर रहने की आशा रहती है अगर संघर्ष में आना ही पड़े तो न्याय से रहने और फिर भी अगर कुछ फल भोगना पड़े तो सहिष्णुता का परिचय देने की आशा रहती है इसलिये अप्रियजन-संयोग से वह नहीं डरता।

४ रोगभय (रुगो डिहो)—रोगभय इसलिये नहीं होता कि वह मिताहारी जिह्वावशी होने के कारण बीमार ही कम पड़ता है। फिर भी रोगों का शिकार हो जाय तो 'रोग तो शरीर का स्वभाव है' यह सोचकर दुखित नहीं होता। रोग का अन्तिम परिणाम मृत्यु है उससे वह नहीं डरता, वेदना के सहने का मनोबल रखता है। शारीरिक अक्षमता के कारण या वेदना की गुरुता के कारण कष्ट असह्य हो तो उसके उद्गार क्षणिक होते हैं। मन साधारण जन की अपेक्षा स्थिर रहता है।

इसका यह मतलब नहीं है कि रोगों की तरफ से लापर्वाह होकर वह असंयमी बन जाता है और बीमारियों को निमन्त्रण देता रहता है। क्योंकि इससे मनुष्य स्वयं दुःखी होता है दूसरो के सिरपर व्यक्त या अव्यक्त रूप में बोझ बनता है और अपना कर्तव्य भी नहीं कर पाता या थोड़ा कर पाता है, इसलिये बीमारी से बचने का पूरा प्रयत्न करना चाहिये। परन्तु अज्ञात कारण वश बीमारी आजाय या किसी कर्तव्य करने में बीमारी का सामना करना पडे तो शान्ति से उसके सहने की ताकत होना चाहिये यही योगी की रोग से निर्भयता है।

५ मरणभय (मरो डिडो)–जैसे कोई घर बदलता है उसी प्रकार योगी शरीर बदलता है इसमें दुःख किस बात का ? दूसरा जन्म इससे अच्छा हो सकता है इसलिये मरण से डरने की और भी जरूरत नहीं है। जिसका यह जीवन पवित्र है उसका परलोक भी सुखमय है जिसका यह जीवन अपवित्र है उसे यह सोचना चाहिये कि मृत्यु अगर इस अपवित्र जीवन का शीघ्र नाश कर देती है तो क्या बुरा है ?

परलोक पर अगर विचार न किया जाय तो भी यह सोचकर मरण से निर्भय रहना चाहिये कि जीवन जहाँ से आया था वहीं चला जायगा, बीच के थोड़े समय की इतनी चिन्ता क्यों ?

संसार में जो अत्याचार होते हैं उनका मुख्य सहारा लोगों का यह मृत्युभय है। अगर लोग यह सोचलें कि मरजाँयगे पर अत्याचार न होने देंगे तो संसार में अत्याचारों को रहना अशक्य हो जाय। योगी तो जगत में स्वर्गीय जीवन का विस्तार करना चाहता है इसलिये वह मृत्युंजयी होता है।

हां, वह आत्महत्या न करेगा क्यो कि आत्महत्या एक तरह की कायरता है, कषाय का तीव्र आवेग है, वह अन्य किसी विपत्ति का इतना बड़ा भय है जो मौत की पर्वाह नहीं करने देता। आत्महत्या निर्भयता नहीं है।

आत्महत्या प्राणार्पण से बिलकुल जुदी चीज है। प्राणार्पण में त्याग है विवेक है कर्तव्य की स्पष्टता है। आत्महत्या में क्षोभ है, किंकर्तव्य-विमूढ़ता है मोह है क्रोध है। योगी प्राणार्पण के लिये तैयार रहता है पर आत्महत्या नहीं करता।

६ अगौरवभय (नेपंजो डिडो)– मेरा कोई पद न छिन जाय, धन न छिन जाय आदि अगौरवभय है। योगी सोचता है मानव साथ में लाया क्या था जिसके छिनने का वह डर करे। वह महत्व की पर्वाह नहीं करता। सबसे बड़ा महत्व वह सत्य की सेवा में और सदाचार के पालन में समझता है इसलिये दुनिया की दृष्टि मे जो गौरव है उसके छिनने का उसे डर नहीं होता।

७ अयशोभय (नोफिमो डिडो)– सच्चा यश अपने दिल की चीज है दुनिया की वाहवाही की उसे पर्वाह नहीं होती। बहुत से लोग इस डर से कि मेरा नाम डूब जायगा, सत्य से दूर भागते हैं, दुनिया जिसमें खुश हो इसी बात में लगे रहते हैं। वे सच्चा यश नहीं पाते चापलूसी पाते हैं। चापलूसी से यश की प्यास बुझाना ऐसा ही है जैसे गटर के प्रवाह से पानी की प्यास बुझाना। योगी इस वाहवाही की पर्वाह नहीं करता। वह सत्य की पर्वाह करता है और सत्य की सेवा में उसके हृदय से यश का प्रवाह निकलता है इसलिये उसे अयश की चिन्ता नहीं होती। दुनिया अज्ञानवश निन्दा करे, घर घर मे उसका अपयश छा जाये तो भी वह उस अपयश से नहीं डरता।

इसका यह मतलब नहीं है कि योगी निर्लज्ज होता है, कोई कुछ भी कहे वह उसकी पर्वाह नहीं करता। योगी में लज्जा है अगर उससे गल्ती हो जाय तो वह लज्जित होगा, दूसरे शरमिंदा करें या न करें वह स्वयं शरमिंदा हो जायगा। पर जिस प्रकार वह लज्जा योगी के भीतर की चीज है, कोई करे या न करे इसकी उसे पर्वाह नहीं है, इसी प्रकार यश अपयश भी उसके भीतर की चीज है कोई करे या न करे इसकी उसे पर्वाह

नहीं है। अच्छा कार्य करने पर उसके हृदय से ही यशरूपी अमृत झरता है जिससे वह अमर हो जाता है इसलिये बाहर लोग उसकी निन्दा करें तो इस बात की उसे चिन्ता नहीं होती, वह ऐसे अपयश से नहीं डरता। वह डरता है अपने भीतर के अपयश से। बाहर के अपयश की पर्वाह न होना ही उसकी निर्भयता है। इसीलिये कहा गया कि उसे अयशोभय नहीं होता।

८ असाधनभय (नेरचो डिडो)–साधनों के अभाव से योग्यता रहने पर भी मनुष्य उसका फल नहीं पाता। हमारे साथी बिछुड जाँयगे साधन नष्ट हो जाँयगे इस प्रकार डर से वह असत्य का पोषण नहीं करता। इसका यह मतलब नहीं है कि वह देश काल का विचार नहीं करता या क्रम विकास पर ध्यान नहीं देता। वह अवसर की ताक में रहता है, आवश्यकतानुसार धीरे धीरे बढता है, पर सारा लक्ष्य सत्य पर रहता है ऐहिक साधनों पर नहीं। एक तरह की आत्मनिर्भरता उसमें पाई जाती है। असहायता या असाधनता के डर से वह घबराता नहीं है, पथभ्रष्ट भी नहीं होता है। वह यही सोचता है कि जो कुछ बन सकता है वह करता हूँ अधिक करने के लिये उसमें असत्य का विष क्यों घोलूं? वह आत्मनिर्भर तथा फलाफल निरपेक्ष रहता है इसलिये उसे असाधनभय नहीं होता।

९ परिश्रमभय (शिह्रोडिडो)–जगत् आलस्य का पुजारी है वह परिश्रम को दुःख समझता है, इसलिये आलस्य की आशा में वह असत्य और असदाचार का पोषण करता है। योगी तो परिश्रम को विनोद समझता है शरीरस्वास्थ्य के लिये आवश्यक समझता है उससे उसको अपमान भी नहीं मालूम होता, आलस्य या अकर्मण्यता को वह गौरव का चिन्ह नहीं समझता इसलिये वह परिश्रम से नहीं डरता।

१० अज्ञातभय (नोजान डिडो)– जिनका स्वभाव ही कायरतामय बन गया है वे भय के कारण के बिना ही भय से काँपते रहते हैं। ऐसा हो गया तो, वैसा हो गया तो, इस प्रकार बेबुनियाद न जाने कितने भय वे अपने मनपर लादे रहते हैं। उपयुक्त कार्य कारण का विचार करना एक बात है किन्तु जीवन का अतिमोह होने के कारण कर्तव्यशून्य आलसी जीवन बिताना दूसरी। योगी ऐसे अज्ञात भयों से मुक्त रहता है।

भय के भेद और भी किये जा सकते हैं यहाँ जो भयों का विवेचन किया गया है वह सिर्फ इसलिये कि योगी की निर्भयता की रूपरेखा दिखाई दे। यह निर्भयता योगी की दूसरी लब्धि है।

३ अकषायता (नेरुंटो)

योगी की तीसरी लब्धि है अकषायता इससे वह भगवती अहिंसा का परम पुजारी और परम सयमी होता है। उसकी परा मनोवृत्ति तक किसी कषाय का प्रभाव नहीं पहुँचता। क्रोध मान माया लोभ के कारण उपस्थित होने पर उसमें क्षोभ नहीं होता। हाँ, कभी कभी इन भावों का वह प्रदर्शन करता है पर वह भीतर से नहीं भींगता। इसप्रकार अकषाय रहकर वह स्वयं सुखी रहता है और जगत को दुःखी नहीं होने देता।

आन्तरिक दुखों की जड़ यह कषाय ही है। अकषायता का कारण पहिले बतलाया हुआ चार प्रकार का समभाव है। विवेक और चार प्रकार का समभाव योगी जीवन के चिन्ह हैं। संसार में योगियों की संख्या जितनी अधिक होगी संसार उतना ही सुखी होगा। बाहरी वैभवों की वृद्धि कितनी भी की जाय, उससे कुछ शारीरिक सुख भले ही बढ़े पर उससे कई गुणे मानसिक कष्ट बढेंगे। अगर संसार का प्रत्येक व्यक्ति योगी हो जाय तो अल्प वैभव में भी संसार शान्तिमय, आनन्दमय बन सकता है। प्रत्येक धर्म का प्रत्येक शास्त्र का, प्रत्येक महात्मा का यही ध्येय है। इस लिये योगी बनने के लिये हर एक मनुष्य–पुरुष या स्त्री–को प्रयत्न करना चाहिये।

छट्ठा अध्याय (डून होफंको)

जीवन दृष्टि (जिवो लंको)

अपने जीवन को और जगत को सुखमय बनाने के लिये हर एक नरनारी को योगी, खासकर कर्मयोगी, बनने का प्रयत्न करना चाहिये। हम योगी हुए हैं या नहीं, योग के मार्ग में स्थित हैं कि नहीं, हमारा जीवन कितना विकसित है यह बात समझने के लिये हर एक व्यक्ति को अपने जीवन पर दृष्टि डालना चाहिये, उसका निरीक्षण करना चाहिये।

जीवन के अनेक रूप हैं और हर एक रूप से जीवन के विकास अविकास का पता लगता है। जीवन के भिन्न भिन्न रूपों पर दृष्टि डालकर विचार करना चाहिये कि हम कहां हैं। अगर हमारा जीवन अविकसित अवस्था में हो तो विकसित अवस्था में लेजाना चाहिये, और विकसित करते करते योगी बन जाना चाहिये।

इसी उद्देश से यहां जीवन पर दृष्टि डाली जाती है।

१– जीवार्थ जीवन (घीटो जिवो)

बारह भेद (कगान अकोखे)

जीवन के मुख्य अर्थ, प्रयोजन या कर्तव्य चार हैं। धर्म (धर्मो) अर्थ (काजो) काम (चिगो) मोक्ष (जिक्रो)

इन्हें पुरुषार्थ कहा जाता है इस शब्द का उपयोग यहां नहीं किया गया क्योंकि अब पुरुष शब्द आत्मा या ब्रह्म की अपेक्षा पुल्लिंग के अर्थ में अधिक प्रचलित है इसलिये स्पष्टता से पुरुष और स्त्री दोनों का बोध करने के लिये जीवार्थ शब्द लिया गया है।

यद्यपि आत्मार्थ शब्द से भी जीवार्थ कहा जा सकता था पर आत्मार्थी शब्द भी मोक्षार्थी, और उसमें भी ध्यानयोगी के लिये अधिक प्रयुक्त होता है इसलिये वह भी ठीक नहीं है।

मानवभाषा में इसके लिये एक स्वतन्त्र धातु 'घीट' है उससे बना हुआ 'घीटो' शब्द बहुत ठीक है।

ये चार जीवन के मुख्य या महत्वपूर्ण प्रयोजन या ध्येय हैं।

सच पूछा जाय तो प्रयोजन तो सिर्फ सुख से है। पर धर्म अर्थ काम मोक्ष ये चारों जीवार्थ सुख के साधन हैं इसलिये इन्हे भी ध्येय मान लिया गया है।

यद्यपि इन चारों का सम्बन्ध सुख के साथ एक सरीखा नहीं है काम और मोक्ष का सुख के साथ साक्षात सम्बन्ध है और धर्म अर्थ का परम्परा सम्बन्ध, इसलिये वास्तविक जीवार्थ तो काम और मोक्ष दो ही कहलाये फिर भी धर्म और अर्थ जीवार्थ हैं क्योंकि धर्म और अर्थ के मिलने पर काम और मोक्ष सुलभ हो जाते हैं काम और मोक्ष के लिये किये जाने वाले प्रयत्न का बहु भाग धर्म और अर्थ के लिये किये जाने वाले प्रयत्न के रूप में परिणित होता है। इस प्रकार चार जीवार्थ हैं और इन चारों के समन्वय में जीवन की सफलता है।

१ धर्म–काम के साधनों को प्राप्त करने में दूसरों के उचित और शक्य स्वार्थों का तथा अपने हित का विवेक रखना, स्वार्थ पर संयम रखना।

२ अर्थ–काम के साधनों को प्राप्त करना।

३ काम-साधनों के सहयोग से इन्द्रिय और मन की सन्तुष्टि।

४ मोक्ष-बाह्य दुःखों से निर्लिप्त रहकर मन से सुखशान्ति का अनुभव करना।

धर्म और अर्थ के विषय में विशेष कहने की जरूरत नहीं है परन्तु काम और मोक्ष के विषय में जन साधारण में तो क्या विद्वानों के भीतर भी गलतफहमी हो गई है। इससे मोक्ष तो उड़ ही गया। वह जीवन के बाद की चीज समझा गया। दर्शनशास्त्रकारों ने मोक्ष की जो कल्पना की वह इस जीवनके रहते मिल नहीं सकती थी इसलिये धर्म अर्थ और काम तीनों की सेवासे ही जीवनकी सफलता मानी जाने लगी। इधर काम की भी काफी दुर्दशा हुई। निवृत्तिवाद का जब ज्वार आया तब काम के प्रति घृणा प्रकट होने लगी उधर काम का अर्थ भी संकुचित हो गया-मैथुन रह गया। इस प्रकार हमारे जीवन के जो मुख्य साध्य थे वे दोनों ही झमेले में पड़ गये।

वास्तव में न तो काम इतनी घृणित वस्तु है और न मोक्ष इतनी पारलौकिक, दोनों का जीवन में आवश्यक स्थान है। दोनों के बिना सुख की कल्पना नहीं की जा सकती। इसलिये उसके अर्थ पर ही कुछ विचार कर लेना चाहिये।

काम का अर्थ मैथुन नहीं है किन्तु वह सारा सुख काम है जो दूसरे पदार्थों के निमित्त से हमें मिलता है। कोमल वस्तु का स्पर्श, स्वादिष्ट भोजन पुष्प आदि का सूंघना, सुन्दर दृश्य देखना, संगीत आदि सुनना यह सब काम है, इनका सम्बन्ध इन्द्रियों से है और इन्द्रियों के लिये किसी विषय की आवश्यकता होती है इसलिये यह पर-निमित्तक सुख है-काम है। परन्तु ऐसा भी परनिमित्तक सुख है जो इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं रखता किन्तु मन से सम्बन्ध रखता है। ताश चौपड़ शतरंज आदि के खेल तथा और भी प्रतियोगिता के खेल मानसिक काम हैं। अपनी प्रशंसा सुनने का आनन्द भी काम है अर्थात् यश का सुख भी परनिमित्तक है इसलिये वह भी काम है। इस प्रकार काम का क्षेत्र बहुत है।

हां, यह बात अवश्य है कि अगर मनुष्य में कामलिप्सा बढ़ जाय, वह काम के पीछे धर्म को भूल जाय तो वह घृणा की वस्तु हो जायगा। कामसुख अगर मर्यादा का अतिक्रमण न कर जाय या व्यसन न बने और दूसरों के नैतिक हकों का नाश न करे तो उपादेय है बल्कि जरूरी है। तुम कोमलशय्या पर सोते हो, सोओ, पर उसके लिये छीनाझपटी करो यह बुरा है और कोमल शय्यापर सोने की ऐसी आदत बनालो कि कभी वैसी शय्या न मिले तो तुम्हें नींद ही न आवे, यह भी बुरा है। इसके लिये अन्याय न करो व्यसनी मत बनो फिर काम सेवन करो तो कोई बुराई नहीं है। ज्यों त्योंकर पेट भरने की जरूरत नहीं है। कच्ची जली या बेस्वाद रोटी क्यों खाओ? अच्छे तरीके से भोजन तैयार करो, कराओ, स्वादिष्ट भोजन लो यह बहुत अच्छा है। पर जीभ के वश में न हो जाओ कि अगर किसी दिन चटपटा भोजन न मिले, मिठाइयाँ न मिलें तो चैन ही न पड़े। अथवा स्वाद के लोभ में पेट की मांग से अधिक न खाजाओ कि पच न सके, फल बीमार पड़ना पड़े, लंघन करना पड़े, वैद्यों की सेवा करनी पड़े और पैसे की बर्बादी हो। अथवा स्वाद की लोलुपता से इतना कीमती न खाजाओ कि उसके लिये ऋण लेना पड़े, या अन्याय से पैसा पैदा करना पड़े। अथवा अगर किसी ने तुम्हें भोजन कराया हो तो उसे खिलाना शक्ति से अधिक मालूम पड़े। तुम्हें भोजन कराने में अगर खिलानेवाले को इतना परिश्रम करना पड़ता है कि वह बेचैन हो जाता है अथवा इतना खर्च करना पड़ता है कि वह चिन्तित हो तो यह तुम्हारे लिये असंयम अर्थात् पाप होगा। मतलब यह है कि अत्याचार न करके जीभ के वश में न होकर स्वास्थ्य की रक्षा करते हुए स्वादिष्ट भोजन करना चाहिये। कभी कभी अभ्यास के लिये

बेस्वाद भोजन भी करो पर बेस्वाद भोजन को अपना धर्म न समझो, सिर्फ अभ्यास समझो।

प्रकृति ने जो कणकण में सौन्दर्य बिखेर रक्खा है, जड़ चेतन और अर्धचेतन जगत जिस सौन्दर्य से चमक रहा है उसका दर्शन करो, खूब आनन्द लूटो। पर सौन्दर्य की सेवा करो, पूजा करो, उसका शिकार न करो उसे हजम करने की या नष्ट करने की वासना दिल में न आने दो। सुन्दर बनो सुन्दर का दर्शन करो पर उसके लिये धर्म और अर्थ मत भूलो। दूसरों को चिढ़ाने के लिये नहीं, किन्तु दूसरों को आनन्दित करने के लिये और दूसरों के उसी आनन्द में स्वयं आनन्द का अनुभव करने के लिये सौन्दर्य की पूजा करो इसमें अधर्म नहीं है। पर अगर फेशन की मात्रा इतनी बढ़ जाय कि कर्तव्य में समय की कमी मालूम होने लगे, अहंकार जगने लगे, धन से ऋण बढ़ जाय, या धन के लिये हाय हाय करना पड़े, या अन्याय करना पड़े तब यह पाप होगा। अगर फैशन हो पर स्वच्छता न हो तो भी यह पाप है। अगर हम इन पापों से बचे रहें तो सौन्दर्य की उपासना जीवार्थ है।

नर को नारी के और नारी को नर के सौन्दर्य की उपासना भी निष्पाप होकर करना चाहिये। उसमें संयम का बांध न टूट जाय। नर और नारी में पारस्परिक आकर्षण भरकर प्रकृति ने अनन्त आनन्द का जो श्रोत बहाया है उसमें वहकर न जाने कितने जीवन नष्ट हो गये हैं और उससे दूर रहने की चेष्टा करके न जाने कितने जीवन प्यास से मर गये हैं। अथवा प्यास न सह सकने के कारण घबरा कर फिर उसी श्रोत में बहकर नष्ट होगये हैं। दोनों में जीवन की सफलता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि संयम रूपी घाट के किनारे बैठकर सौन्दर्य-श्रोत में से मर्यादित रसपान किया जाय।

नारी के सौन्दर्य को देखकर तुम्हारा चित्त प्रसन्न होता है तो कोई बुरी बात नहीं है। माँ को देखकर बच्चे को जो प्रसन्नता होती है, बहिन को देखकर भाई को जो प्रसन्नता होती है पुत्री को देखकर पिता को जो प्रसन्नता होती है वह प्रसन्नता तुम्हें होना चाहिये। माँ बहिन बेटी की तरह नारी को देखो फिर उसकी शोभा का दर्शन करो। उसे वेश्या मत समझो। पर-स्त्री को हम पत्नी नहीं कह सकते, फिर भी यदि उसके विषय में मन में पत्नीत्व का भाव आता है तो वह वेश्या का ही भाव है। इस पाप से बचो। फिर सौन्दर्योपासना करो।

यही नीति नारी के लिये भी है। उसकी भी सौन्दर्योपासना परपुरुष को पिता भाई या पुत्र समझकर होना चाहिये। यह सौन्दर्योपासना, यह आनन्द, यह काम, अनुचित तो है ही नहीं, बल्कि पूर्ण जीवन के लिये आवश्यक है। शृंगार या सजावट भी बुरी चीज नहीं है। प्रकृति ने विविध वनस्पतियों से सुशोभित जो पर्वतमालाएँ खड़ी कर रक्खी हैं, नाना वन बना रक्खे हैं, उनके निरन्तर दर्शन करने के लिये घर के चारों तरफ वाटिका लगा रखने में कोई बुराई नहीं है। हम मूर्ति के द्वारा जिस प्रकार देवता के दर्शन करते हैं उसी प्रकार वाटिका के द्वारा प्रकृति के दर्शन करें तो इसमें क्या बुराई है?

शृङ्गार भी प्राकृतिक सौन्दर्य की उपासना ही है। प्रकृति ने जो सौन्दर्य बिखेर रक्खा है उसे हम पाने का प्रयत्न करते हैं इसी का नाम शृङ्गार है। मुर्गे के सिर पर लाल लाल कलगी कैसी अच्छी मालूम होती है पर हमारे सिर पर नहीं है इसलिये टोपी या साफेपर हम कलगी खोंस लेते हैं। मोर के शरीर पर कैसे चमकीले छपके बने हुये हैं जो हमारे ऊपर नहीं हैं इसलिये मैं इसी तरह का चमकीला कपड़ा पहिनूं, यही तो शृंगार है। मतलब यह कि प्रकृति के विशाल सौन्दर्य को संक्षिप्त करके अपनाने का नाम शृंगार है। जब तक यह परपीड़क न हो, स्वास्थ्य-नाशक न हो, तब तक इसमें कोई हानि नहीं है। इसका आनन्द लेना चाहिये। यह भी काम है, जीवार्थ है।

हा, जिस में सिर्फ अभिमान का प्रदर्शन हो अथवा जो अपने जीवन के अनुरूप न हो ऐसे शृङ्गार से बचना चाहिये। मतलब यह कि सौन्दर्योपासना बुरी चीज नहीं है पर वह संयम और विवेक के साथ होना चाहिये।

जो बात सौन्दर्योपासना के विषय में कही गई है वही बात संगीत आदि अन्य इन्द्रियो के विषय में भी कही जा सकती है। नारीकण्ठ से गीत सुनकर भी पुरुष के मन से व्यभिचार की वासना न जगना चाहिये। कोयल की आवाज में जो आनन्द आता है ऐसा ही आनन्दानुभव होना चाहिये।

काम के विषय में जीवन दोनों तरफ से असन्तोषप्रद बन गया है। अधिकांश स्थानों पर काम के साथ व्यसन और असंयम इस तरह मिल गये हैं कि उससे अपना और दूसरों का नाश हो रहा है और कहीं कहीं काम से इतनी घृणा प्रगट की जाती है कि हमारा जीवन नीरस और निरानन्द बन गया है यहा तक कि महात्मा और साधु होने के लिये यह आवश्यक समझा जाने लगा है कि उसके चिहरे पर हँसी न हो उसमें विनोद न हो, मनहूसियत सी उसके मुँह पर छाई रहे और बहुत से अनावश्यक कष्ट वह उठा रहा हो। इस प्रकार निर्दोष काम पाप में शामिल हो गये। यह ठीक है कि दूसरों के सुख के लिये कष्ट उठाना पड़ता है भविष्य के महान सुख के लिये कष्ट उठाना पड़ता है पर जिस दुःख का सुख के साथ कार्यकारणसम्बन्ध न हो अथवा अनावश्यक कष्टों से ही सुखप्राप्ति की कल्पना करली जाय यह जीवन की शक्तियों की बर्बादी है। उचित यह है कि आवश्यकतावश मनुष्य अधिक से अधिक त्याग करने को तैयार रहे और दूसरों के अधिकार का लोप न करके स्वयं आनन्दी बने जगत को आनन्दी बनावे। यही काम है। यह काम साधारण गृहस्थ से लेकर जगद्वंद्य महात्मा में तक रह सकता है, रहता है और रहना चाहिये।

मानसिक काम का एक रूप है यश। जीवन में इसका इतना अधिक महत्व है कि कुछ विद्वानों ने इसे अलग जीवार्थ मान लिया है। यशोलिप्सा महात्मा कहलानेवालों में भी आजाती है। पर इसमें भी संयम की आवश्यकता है। अन्यथा यश के लिये मनुष्य इतनी आत्मवंचना और परवंचना कर जाता है कि उसकी मनुष्यता तक नष्ट हो जाती है। अपने यश के लिये दूसरो की निन्दा करना झूठ और मायाचार से अपनी सेवाओ को बड़ा बताना आदि असंयम के अनेक रूप यशोलिप्सा के साथ आजाते हैं इसलिये अगर संयम न हो तो यश की गुलामी भी काम की गुलामी है। काम के अन्य रूपों के समान इसका भी दुरुपयोग होता है। इस दुरुपयोग को बचाकर विशुद्ध यश का सेवन करना उचित है। इससे मनुष्य लोकसेवी और आत्मोद्धारक बनता है।

यद्यपि जीवन के लिये काम आवश्यक है फिर भी उसमें पूर्णता और स्थिरता नहीं है। प्रकृति की रचना ही ऐसी है कि इच्छानुसार साधन सब को मिल नहीं सकते इससे सुख की अपेक्षा दुःख अधिक ही मालूम होता है। इसलिये प्राचीन समय से ही मोक्ष की कल्पना चली आ रही है। पहिले तो स्वर्ग की कल्पना की गई परन्तु कामसुख के लिये कैसी भी अच्छी कल्पना क्यों न की जाय उसमें पूर्णता आ ही नहीं सकती। इससे दार्शनिकों ने मोक्ष की कल्पना की। यद्यपि उसमें भी मतभेद रहा और वह आकर्षक भी नहीं बन सकी, फिर भी इतना तो हुआ कि लोगों के सामने सुख का एक ऐसा रूप रक्खा गया जो नित्य हो और जिसके साथ दुःख न हो। यद्यपि परलोक में मोक्ष की जो कल्पना की गई है उससे सिर्फ दुःखाभाव ही मालूम होता है सुख नहीं मालूम होता, इसलिये न्याय वैशेषिक आदि दर्शनकारों ने मोक्ष में दुःख और सुख का अभाव मानलिया है फिर भी इतना तो मालूम होता है कि वह स्थायीरूप में दुख के नाश के लिये है। इसलिये यह अच्छी तरह समझा जा सकता है कि मोक्ष किसी स्थान का नाम नहीं है किन्तु दुःखरहित स्थायी शान्ति

का नाम मोक्ष है।

इस प्रकार का मोक्ष मरने के बाद भी मिले तो यह अच्छी बात है। परन्तु परलोक सम्बन्धी मोक्ष को दार्शनिक सिद्धान्त से लटकाकर रखने की जरूरत नहीं है। परलोक हो या न हो, अनन्त मोक्ष हो या न हो, हमें तो इसी जीवन में मोक्ष का सुख पाना है पाना चाहिये और पा सकते हैं, इसीलिये मोक्ष जीवार्थ है और काम के साथ उसका समन्वय भी किया जा सकता है जितना सुख काम-सेवा से उठाया जा सकता है उतना काम सेवा से उठावें बाकी असीम सुख मोक्ष-सेवा से उठावें इस प्रकार अपने जीवन को पूर्ण-सुखी बनावें। यही सकल जीवार्थों का समन्वय है।

मोक्ष सहज सौन्दर्य धाम है।
उसका ही शृङ्गार काम है॥
सहज द्विगुण होता है पाकर उचित सभ्य शृङ्गार।
समझ मत दूर मोक्ष का द्वार॥

पूर्ण सुखी होने के दो मार्ग हैं—(१) सुख के साधनों को प्राप्त करना और दुःख के साधनों को दूर करना (२) किसी भी तरह के दुःख का प्रभाव अपने हृदय पर न होने देना। पहिले उपाय का नाम काम है दूसरे उपाय का नाम मोक्ष है। गृहस्थ बनकर भी मनुष्य इस मोक्ष को पा सकता है और मोक्ष को पाकर भी इस जीवन में रह सकता है। ऐसे ही लोगों को जीवन्मुक्त या विदेह कहते हैं। विपत्तियाँ और प्रलोभन जिन्हें न तो क्षुब्ध कर पाते हैं न दुःखी कर पाते हैं न कर्तव्यच्युत कर पाते हैं वे ही मुक्त हैं। धर्म अर्थ और काम के साथ यह मुक्तता भी जिनके जीवन में होती है उन्हीं का जीवन पूर्ण और सफल है।

इन चारों जीवार्थों की दृष्टि से जीवन के अगर भेद किये जाँय तो बारह भेद होंगे।

१ जीवार्थशून्य, २ कामसेवी ३ अर्थसेवी, ४ अर्थकामसेवी, ५ धर्मसेवी, ६ धर्मकामसेवी, ७ धर्मार्थसेवी, ८ धर्मार्थकामसेवी, ९ धर्ममोक्षसेवी, १० धर्मकाममोक्षसेवी, ११ धर्मार्थमोक्षसेवी, १२ पूर्णजीवार्थी।

इन बारह भेदों में पहिले चार जघन्य श्रेणी के हैं घृणित या दयनीय हैं, बीच के चार मध्यम श्रेणी के हैं, सन्तोषप्रद हैं, अन्तिम चार उत्तम श्रेणी के हैं प्रशंसनीय हैं।

धर्म के बिना मोक्ष की सेवा सम्भव नहीं है इसलिये केवल मोक्षसेवी, अर्थमोक्षसेवी, काममोक्षसेवी, अर्थकाममोक्षसेवी, ये चार भेद नहीं हो सकते। इन चारों भेदो में मोक्ष तो है पर धर्म नहीं है। धर्म के बिना मोक्षसेवा नहीं बन सकती। बारह भेदों का स्पष्टीकरण इस तरह है।

१—जीवार्थशून्य (नेचीट)— जिसके जीवन में धर्म अर्थ काम मोक्ष कोई भी जीवार्थ नहीं है वह जीवार्थशून्य है। वह मनुष्याकार पशु है बल्कि बैल आदि कर्मठ पशुओं से गया बीता भी है, यहा तक कि अनेक आनन्दी पशुपक्षियों से भी गया बीता है।

बहुत से मनुष्य, जिसमें अनेक पढ़े-लिखे लोग भी शामिल हैं, इस तरह पतित होते हैं। वे झूठ बोलने में विश्वासघात करने में शरमिन्दा नहीं होते। कृतज्ञता उनके जीवन में नहीं होती। अपनी दयनीयता प्रगट कर दूसरो से उपकार करा लेते हैं और फिर समझते हैं कि हमने चतुराई से कैसा काम बनालिया, उपकारियों की निन्दा भी करने लगते हैं, या उन्हें पूँजीपति आदि कहकर उन्हें ठगने का अपना अधिकार घोषित करने लगते हैं, ऐसा कोई काम नहीं कर सकते जिससे ईमानदारी के साथ जीविका कर सकें, आमद से खर्च बढ़ाकर रखते हैं. ऋण लेकर दे नहीं सकते, ऐसे मनुष्य धर्मशून्य और अर्थशून्य हैं। स्वभाव की खराबी अत्यधिक क्रोध, अत्यधिक घमण्ड के कारण स्वयं भी दुखी होते हैं और दूसरों को भी दुःखी करते हैं। मूर्खता के कारण जीवन की कला नहीं जानते, जिससे थोड़े से थोड़े साधनों में भी अधिक से अधिक आनन्द

लूट सकें, इस तरह वे कामहीन होते हैं। और भीतर का मोक्ष सुख तो बेचारों से कोसों दूर रहता है, वह तो उन्हें मिलेगा ही क्या ? ये जीवार्थशून्य हैं। इनके पास एक भी जीवार्थ नहीं है। बेचारों का जीवन उनके लिये और जगत के लिये भार के समान है।

२-कामसेवी (दर्चिगर) जिनके जीवन में सिर्फ काम है धर्म अर्थ मोक्ष नहीं है वे दंचिगर हैं। ये अर्थोपार्जन के लिये ऐसा कोई काम नहीं करते जिससे किसी दूसरे की सेवा हो। संयम ईमान आदि की मर्यादा नहीं रखते, आवश्यकता होते ही हर तरह की बेईमानी करने को तयार होजाते हैं। इस प्रकार अर्थ इनके पास नहीं होता। मोक्ष तो ऐसे लोगों के पास होगा ही क्या ? ये लोग बापदादों की कमाई पर विलासी बनते हैं, या ऋण लेलेकर खाते हैं, या वेषधारी बनकर बिना कुछ सेवा दिये भीख मागकर चैन करते हैं। अपने थोड़े से स्वार्थ के पीछे जगत के किसी भी हित की पर्वाह नहीं करते। ये इन्द्रियों के गुलाम होते हैं। इनमें से अधिकांश अपने जीवन के उत्तरार्ध में काफी दुखी और दयनीय बनजाते हैं। ये समाज के लिये घृणित भी हैं और भयंकर भी।

३-अर्थसेवी (दंकाजर) धनोपार्जन ही इनके जीवन का लक्ष्य है। धन कमाते हैं पर कमाते हैं किसलिये, यह भी नहीं समझते। संयम, उदारता और प्रेम इनमें नहीं होते। ये मितव्ययी नहीं कजूस होते हैं। न आध्यात्मिक सुख भोग सकते हैं न भौतिक। यहां तक कि इनमें से अधिकांश के कुटुम्बी तक इनसे सन्तुष्ट नहीं रह पाते। धन इकट्ठा कर दूसरों को गरीब बनाते रहना ही इनकी दिनचर्या है। ये समाज की पीठ पर भी छुरा मारते हैं और पेट पर भी।

बहुत से लोगों के पास करोड़ों की सम्पत्ति होजाती है फिर भी दिनरात धनोपार्जन में लगे रहते हैं। उसकेलिये ये सरकारों पर प्रभाव डालते हैं और महँगाई बढ़ाकर अधिक धन पैदा करने के लिये युद्धों की तैयारी कराते हैं, सरकारों को या राष्ट्रों को लड़वाते हैं। इस प्रकार अनेक अनर्थ कर करोड़ों अर्बों की सम्पत्ति इकट्ठी करते हैं पर उससे किसी को सुखी नहीं कर पाते। ऐसे लोग सिर्फ अर्थसेवी (दंकाजर) हैं। ये भी भयंकर हैं भूभार हैं।

४ अर्थकामसेवी (काजचिगर) धन कमाना और मौज उड़ाना ही इनका ध्येय है। सम्पत्तिमें कहते हैं हमें किसी की पर्वाह नहीं। विपत्ति में कहते हैं दुनिया बड़ी स्वार्थी है कोई काम नहीं आता। रुपये का भोग करके पैसा भी दान में न देंगे। पीड़ितों और असहायों को देखकर हँसेंगे। ये लोग स्वार्थ की मूर्ति हैं। ऐसा कोई पाप नहीं जिसे करने को ये तैयार न हो जाँय। पर असफलताएँ आखिर इनके जीवन को मिट्टी में मिला देती हैं भोग इन्हे ही भोगने लगते हैं और नीरस हो जाते हैं। कोई इनसे प्रेम नहीं करता। स्वार्थी दोस्त इन्हें मिलते हैं पर सब अपनी अपनी घात में रहते हैं। आत्मसन्तोष इन्हें कभी नहीं मिलता।

५ धर्म-सेवी (दधर्मर)-ये लोग सदाचारी तो हैं फिर भी इनका जीवन प्रशंसनीय नहीं है। समाज की या किसी व्यक्ति की दया पर इनका जीवन निर्भर रहता है। ये समाज से जो कुछ लेते हैं उसके बदले में कुछ नहीं देते। इनके जीवन में किसी तरह का आनन्द नहीं होता। बहुत से साधुवेषी अपने को इसी श्रेणी में बताने की कोशिश करते हैं। वे समाज को कुछ नहीं देते काम का आनन्द नहीं पाते, मोक्ष के लायक निर्लिप्तता उनमें नहीं होती सिर्फ दुराचार से दूर रहते हैं। इस प्रकार का विफल जीवन सफल नहीं कहा जा सकता। और न ऐसे लोगों का धर्म टिकाऊ रहता है।

६ धर्मकामसेवी (धर्मचिगर)- धर्म होने के कारण इनका काम जीवार्थ सीमित है। पर जीवन निर्वाह के लिये कुछ नहीं करते अनावश्यक कष्टों को निमन्त्रण नहीं देते आराम से रहते हैं। इस प्रकार अर्थसेवा के बिना इनका

जीवन दयनीय है।

७ धर्मार्थसेवी (धर्मकजर)- सदाचारी हैं, जगत से जो कुछ लेते हैं उसके बदले में कुछ देते हैं पर जिनका जीवन आनन्द हीन है। आराम नहीं लेते, एक तरह का असन्तोष बना रहता है।

८ धर्मार्थकामसेवी (धर्मकाजचिंगर)-तीनों जीवार्थों का यथायोग्य समन्वय करने से इनका जीवन व्यवहार में सफल होता है पर पूर्ण सफल नहीं होता। असुविधाओं का कष्ट इनके मन में बना ही रहता है। वह मोक्ष सेवा से ही दूर हो सकता है।

९ धर्ममोक्षसेवी (धर्मजिन्नर)-इस श्रेणी मे वे योगी आते हैं जो दुःखों की पर्वाह नहीं करते, समाज की पर्वाह नहीं करते, समाज को कुछ नहीं देते, जिन्हें प्राकृतिक आनन्द की भी पर्वाह नहीं और यश की भी पर्वाह होती। इनका जीवन बहुत ऊँचा है पर आदर्श नहीं।

१० धर्म-काम-मोक्षसेवी (धर्मचिंग जिन्नर)- सदाचारी और निर्लिप्त जीवन बितानेवाले, प्रकृति का आनन्द लूटने वाले, अथवा यश फैलाने वाले, इस तरह इनका जीवन अच्छा है। पर एक त्रुटि है कि समाज को कुछ सेवा नहीं देते इसलिये ऐसा काम भी नहीं रखते जिसके लिय समाज से कुछ लिया जाय। इनका काम ऐसा है जिसके लिये समाज को कुछ खर्च नहीं करना पड़ता। वह प्राकृतिक होता है।

११ धर्मार्थ-मोक्षसेवी (धर्म काज जिन्नर)- इस श्रेणी में वे महात्मा आते हैं जो पूर्ण सदाचारी हैं पूर्ण निर्लिप्त हैं कोई भी विपत्ति जिन्हें चलित नहीं कर पाती। जो कुछ लेते हैं उससे कई गुणा समाज को देते हैं इस प्रकार अर्थ जीवार्थ का सेवन करते हैं। पर काम की तरफ जिनका लक्ष्य नहीं जाता। प्राकृतिक आनन्द उठाने में भी जिनकी रुचि नहीं होती। अनावश्यक कष्ट भी उठाने में तत्पर रहते हैं। काम से जिन्हे एक तरह की अरुचि है। सामाजिक वातावरण का प्रभाव उन्हें उचित और निर्दोष काम की तरफ भी नहीं झुकने देता। ऐसे महात्मा जगत के महान सेवक हैं। वे पूज्य हैं बहुत अंशों तक आदर्श भी हैं फिर भी पूर्ण आदर्श नहीं।

प्रश्न—यदि वे काम जीवार्थ का सेवन नहीं करते तो अर्थ-जीवार्थ का सेवन किसलिये करते हैं।

उत्तर—इन लोगों का अर्थ-जीवार्थ अर्थ-संग्रह के रूप में नहीं होता। वे जगत की सेवा करते हैं बदले में जीवित रहने के लिये नाममात्र का लेते हैं। मुफ्त में कुछ नहीं लेते यही इनका अर्थ जीवार्थ-सेवन है।

प्रश्न—क्या ऐसे लोग प्रकृति की शोभा न देखते होंगे क्या कभी संगीत न सुनते होंगे। कम से कम यश तो इन्हें मिलता ही होगा क्या यह सब काम जीवार्थ का सेवन नहीं है ?

उत्तर—पर इस श्रेणी मे बहुत से प्राणी ऐसे होते हैं जो यश की तरफ रुचि तो रखते ही नहीं है पर यश पाते भी नहीं हैं। दुनिया उनके महत्व को नहीं जान पाती। संगीत और सुन्दर दृश्य भी इन्हे पसन्द नहीं हैं। जबर्दस्ती आ जाय तो यह बात दूसरी है। यह काम जीवार्थ का सेवन नहीं है। यों तो जगत में ऐसा कौन व्यक्ति है जिसने जीवन में स्वादिष्ट भोजन न किया हो या सुन्दर स्वर न सुना हो अथवा किसी न किसी आनन्ददायी विषय से सम्पर्क न हुआ हो। पर इतने में ही काम जीवार्थ की सेवा नहीं कही जा सकती। अपनी परिस्थिति और साधनों के अनुकूल ही काम जीवार्थ की सेवा का अर्थ लगाया जायगा। एक लक्षाधिपति और एक भिखारी का काम जीवार्थ एकसा न होगा। उन दोनों के साधनों का प्रभाव उनके काम पर पड़ेगा सर्वथा कामहीन जीवन तो असम्भव है। योग्य कामहीन होने से ही किसी का जीवन कामहीन कहलाता है। इस श्रेणी के मनुष्यों का जीवन योग्यकामहीन होता है इसीलिये इन्हें धर्मार्थमोक्षसेवी कहा गया है।

१२ सर्वजीवार्थसेवी (पुमधीदर)- चारों जीवार्थों का इनके जीवन में योग्य स्थान रहता

है। म राम, म कृष्ण, म महावीर, म. बुद्ध, म. ईसा, म मुहम्मद आदि महापुरुषों का जीवन इसी कोटि का था। यह आदर्श जीवन है।

प्रश्न—म. राम, म मुहम्मद आदि का जीवन नीतिमय था इसलिये आप इन्हें धर्मात्मा कह सकते हैं पर मोक्ष का स्थान इनके जीवन में क्या था। इनने संन्यास भी नहीं लिया।

उत्तर—दुःखोंसे काफी निर्लिप्त रहना, और शान्ति का अनुभव करना मोक्ष है। इसका पता उनकी कर्तव्य तत्परता, आपत्ति और प्रलोभनों के विजय से लगता है। संन्यास लेना या न लेना ये तो समाजसेवा के सामयिक रूप हैं जो अपनी अपनी परिस्थिति और रुचि के अनुसार रखना पड़ते हैं। मोक्ष की सेवा तो दोनों अवस्थाओं में हो सकती है।

प्रश्न—म. महावीर और म बुद्ध के जीवन में अर्थ और काम क्या था ? ये तो संन्यासी थे। म. महावीर तो अपने पास कपड़ा भी नहीं रखते थे तब ये पूर्ण जीवार्थसेवी कैसे ?

उत्तर—अर्थसेवन के लिये यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य अर्थ का संग्रह करे। उसके लिये यही आवश्यक है कि शरीरस्थिति के लिये जो कुछ वह समाज से लेता है उसका बदला समाज को दे यह बात दूसरी है कि महात्मा लोग उससे कई गुणा देते हैं।

म महावीर और म बुद्ध का जीवन साधकावस्था में ही कामहीन रहा है। सिद्धजीवन्मुक्त अवस्था में तो उनके जीवन में काम का काफी स्थान था। म बुद्ध ने तो बाह्य तपस्याओं को अपनी संस्था में से हटा दिया था और म. महावीर ने भी बाह्य तपस्याओं का अपने जीवन में त्याग कर दिया था। केवलज्ञान होने के पहिले बारह वर्ष तक उनने तपस्याएँ की हैं बाद में नहीं। इससे मालूम होता है कि उनके जीवन में काम को स्थान था। इस प्रकार इन महात्माओं के जीवन में धर्म अर्थ काम मोक्ष चारों जीवार्थों का समन्वय हुआ है।

प्रत्येक जीवन में चारों जीवार्थों का समन्वय हो तभी वह जीवन सफल कहा जा सकता है। मोक्ष को परलोक की दार्शनिक चर्चा का विषय न बनाना चाहिये। धर्मशास्त्र तो इसी जीवन में मोक्ष बतलाता है वह हमें प्राप्त करना चाहिये। त्रिवर्गसंसाधन नहीं चतुर्वर्गसंसाधन हमारा ध्येय होना चाहिये। तभी हम जीवार्थ की दृष्टि से आदर्श जीवन बिता सकते हैं।

२—भक्त-जीवन (भक्तजिवो)

ग्यारह भेद

मनुष्य जिस चीज का भक्त है उसी को पाने की वह इच्छा करता है उसी में वह महत्व देखता है इसलिये दूसरे भी उसी चीज को पाने की इच्छा करते हैं इससे समाज पर उसका अच्छा या बुरा असर पड़ा करता है। इसलिये भक्ति की दृष्टि से भी मानव जीवन के अनेक भेद हैं और उनसे जीवन का महत्व लघुत्व या अच्छा बुरापन मालूम होता है।

भक्त जीवन के ग्यारह भेद हैं—

भेद	श्रेणी
१ भयभक्त	जघन्य
२ आतंकभक्त	
३ स्वार्थभक्त	
४ वैभवभक्त	
५ अधिकारभक्त	
६ वेषभक्त	
७ कलाभक्त	मध्यम
८ गुणभक्त	
९ आदर्शभक्त	उत्तम
१० उपकारभक्त	
११ सत्यभक्त	

भयभक्त (डिर्रभक)— कल्पित या अकल्पित भयंकर चीजों का भक्त या पुजारी भयभक्त या भयपूजक है भूत पिशाच शनैश्चर आदि की पूजा करने वाला, या आसमान में चमकती हुई बिजली आदि से डरकर उसकी पूजा करनेवाला,

जो मनुष्य अपने व्यवहार से हमारा दिल दहला देता है उसकी पूजा करनेवाला भयभक्त है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह सब से नीची श्रेणी है जो प्रायः पशुओं में पाई जाती है। और साधारण मनुष्य अभी पशुओं से बहुत ऊँचा नहीं उठ पाया है इसलिये साधारण मनुष्य में भी पाई जाती है।

भय से मतलब यहां भक्तिमय या विरक्तिमय से नहीं है। भोगमय वियोगमय आदि अपाय भयों से है। भय से अर्थात् डरकर किसी की भक्ति करना मनुष्यता को नष्ट करना है।

जब मनुष्य भय से भक्ति करने लगता है तब शक्तिशाली लोग शक्ति का उपयोग दूसरों को डराने या अत्याचार में करने लगते हैं वे प्रेमी बनने की कोशिश नहीं करते। इस प्रकार भयभक्ति अत्याचारियों की वृद्धि करने में सहायक होने से पाप है।

२ आतंक भक्त (डाँहंभक्त)-जो लोग दुनिया पर आतंक फैलाते हैं वे दुनिया की सेवा नहीं करते सिर्फ शक्ति का प्रदर्शन करते हैं उनकी पूजा भक्ति करनेवाला आतंकभक्त है। बड़े-बड़े दिग्विजयी सम्राटों या सेनानायकों की भक्ति आतंकभक्ति है। यद्यपि यह भी एक तरह की भयभक्ति है पर यहां भयभक्ति से इसमें अन्तर यह रक्खा गया कि है कि भयभक्ति अपने ऊपर आये हुए भय से होती है और आतंकभक्ति वह है जहां अपने ऊपर आये हुए भय से सम्बन्ध नहीं रहता किन्तु जिन लोगों ने कहीं भी और कभी भी समाज के ऊपर आतंक फैलाया होता है उनकी भक्ति होती है। चंगेजखाँ नादिरशाह या और भी ऐसे लोग जितने निरपराधी लोगों पर आतंक फैलाया हो उनकी वीरपूजा के नाम पर भक्ति करना आतंकभक्ति है। भयभक्ति में जो दोष है वही दोष इसमें भी है।

प्रश्न—आतंक तो सज्जनों का भी होता है। जैसे परस्त्रीलम्पट रावण के दल पर म राम का आतंक छा गया, या सामयिक सुधार के विरोधी काफिरों पर हजरत मुहम्मद का आतंक छा गया. अब अगर इनकी भक्ति की जाय तो क्या यह आतंकभक्ति कहलायगी ? और क्या यह अधम श्रेणी की होने से निन्दनीय होगी ?

उत्तर—आतंक से इनकी भक्ति करना अच्छा नहीं है। किन्तु लोकहित के शत्रुओं को इनने नष्ट किया और इससे लोकहित किया इस दृष्टि से अवश्य ही इनकी भक्ति की जा सकती है। यह आतंकभक्ति नहीं है किन्तु कल्याण भक्ति या सत्यभक्ति है। यह उत्तम श्रेणी की है।

३ स्वार्थभक्त (लुन्मं भक्त)-अपने स्वार्थ के कारण किसी की भक्ति करनेवाला स्वार्थभक्त है यह भक्ति प्रायः नौकरों में मालिकों के प्रति पाई जाती है।

इस भक्ति में खराबी यह है कि इसमें न्याय अन्याय उचित अनुचित का विचार नहीं रहता है। और स्वार्थ को धक्का लगने पर यह नष्ट हो जाती है।

प्रश्न—बहुत से स्वामिभक्त कुत्ते या घोड़े या अन्य जानवर या मनुष्य ऐसे होते हैं जो प्राण देकर भी अपने अपने स्वामी की रक्षा करते हैं। जैसे चेटक ने राणा प्रताप की की थी, हाथी ने सम्राट् पोरस की की थी, इसे क्या स्वार्थभक्ति कहकर अधम श्रेणी की कहना चाहिये ? इस प्रकार की भक्ति से तो इतिहास में भी स्थान मिलता है इसे अधम श्रेणी की भक्ति कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर—यह स्वार्थभक्ति नहीं कृतज्ञता या कर्तव्यतत्परता है। अगर स्वार्थभक्ति होती तो ये प्राण देकर स्वामी की रक्षा न करते। स्वार्थभक्ति वहीं है जहां स्वार्थ के नष्ट होते ही मनुष्य गुणानुराग कृतज्ञता न्याय आदि को भूलकर भक्ति छोड़ बैठे। प्रताप की रक्षा करने वाले चेटक में कर्तव्यतत्परता थी इसलिये उसने प्राण देकर भी प्रताप की रक्षा की। यह न समझना चाहिये कि जानवरों में कर्तव्यतत्परता नहीं हो सकती। जानवरों में पाण्डित्य भले ही न हो परन्तु कृतज्ञता प्रेम भक्ति आदि भावना के रूप रह सकते हैं।

४ वैभवभक्त (धनोभक्त)-धन वैभव होने से किसी की भक्ति करना वैभवभक्ति है। वैभव-भक्ति का परिणाम यह है कि मनुष्य हर तरह की बेईमानी से धनी बनने की कोशिश करता है। धन जीवन के लिये आवश्यक चीज है और इसी-लिये अधिक धनसंग्रह पाप है क्योंकि इससे दूसरे लोगों को जीवन के आवश्यक पदार्थ दुर्लभ हो जाते हैं। एक जगह संग्रह होने से उसका बटवारा ठीक तरह नहीं हो पाता। जो मनुष्य धनसंग्रह का पाप कर रहा है उसकी भक्ति करना तो पाप को उत्तेजना देना है। इसलिये वैभवभक्ति अधम भक्तों की भक्ति है, हेय है।

प्रश्न—श्रीमानों से कुछ न कुछ जगत की भलाई होती ही है कुछ न कुछ दान भी होता है और पैसा पैदा करने की शक्ति भी कुछ विशेष गुणों पर निर्भर है इसलिये वैभवशालियों की भक्ति में अमुक अंश में गुणभक्ति सेवाभक्ति आदि आही जाते हैं तब वैभवभक्ति या धनभक्ति को अधम भक्ति क्यों कहा जाय?

उत्तर—धनवान अगर जगत की भलाई या सेवा करता है तो उसकी परोपकारशीलता की भक्ति करके उपकारभक्ति की जा सकती है धनो-पार्जन में अगर उसने बुद्धि आदि किसी गुण का तथा ईमानदारी का उपयोग किया है तो उन गुणों की भक्ति की जा सकती है पर यह धन-भक्ति नहीं है। जहां अन्य किसी गुण की उपेक्षा करके केवल धनवान होने से किसी की भक्ति या आदर किया जाता है, यहां तक कि वह बेईमान आदि हो, बेईमानी से ही उसने धन कमाया हो फिर भी उसके धन की भक्ति की जाती हो तो वह धनभक्ति है। यह धनसंग्रह के पाप को उत्ते-जित करती है इसलिये अधम भक्ति है।

प्रश्न—धन एक शक्ति अवश्य है क्योंकि उसमें कुछ कराने की ताकत है। उस शक्ति का सदुपयोग कराने के लिये अगर किसी धनी की भक्ति की जाय तो क्या बुराई है। अगर हमारे थोड़े, लोगों के आदर भाव से, तारीफ कर देने से कोई श्रीमान किसी अच्छे काम में अपनी सम्पत्ति लगादे तो उसका आदर आदि करना क्या बुरा है? इससे दुनिया की कुछ न कुछ भलाई ही है।

उत्तर—यह धनभक्ति नहीं है। जैसे किसी बालक को प्रेम से पुचकारते हैं और पुचकार कर उससे कोई काम करा लेते हैं तो यह उसकी भक्ति नहीं है, इसी प्रकार कोई श्रीमान प्रशंसा और यश से ही कर्तव्य करता हो, उसे वास्तविक कर्तव्य का पता न हो तो आदर सत्कार करके उससे कुछ अच्छा काम करा लेना अनुचित नहीं है। पर यह धनभक्ति नहीं है, समझा बुझाकर या लुभाकर अच्छा काम करा लेने की एक कला है। विवेकी श्रीमान तो आदर सत्कार यश आदि की पर्वाह किये बिना उचित मार्ग में दान करेगा इस प्रकार अपनी परोपकारशीलता से जनता की सच्ची भक्ति पायेगा। वह कला का विषय न बनकर भक्ति का विषय बनेगा।

५ अधिकारभक्त (रौबोभक्त)-अमुक आदमी किसी पद पर पहुँचा है, वह न्यायाधीश है, राजमन्त्री है, किसी विभाग का सञ्चालक है, आदि पदों से उसकी भक्ति करना अधिकारभक्ति है, यह भी एक जघन्य या अधम भक्ति है।

ऐसे भी बहुत से पद हैं जो किसी सेवा के बलपर मनुष्य को मिलते हैं उनके कारण किसी की भक्ति करना उस सेवा की ही भक्ति है। पर सेवा का विचार किये बिना पद के कारण किसी की भक्ति करना अधम भक्ति है। अमुक आदमी को कल तक बात न पूछते थे आज वह राजमन्त्री या न्यायाधीश हो गया है तो उसे मानपत्र दो, अध्यक्ष बनाओ, यों करो त्यों करो, यह सब अधम भक्ति है।

जब समाज में इस प्रकार के अधिकारभक्त बढ़ जाते हैं तब मनुष्य को सेवा की पर्वाह नहीं रहती अधिकार की रहती है। अधिकार को पाने के लिये मनुष्य सब कुछ करने को उतारू हो जाता है वह अच्छे से अच्छे सेवकों को धक्का देकर गिरा देना चाहता है और आगे बढ़कर

जनता की भक्ति पूजा लूट लेना चाहता है। इसमें उस आदमी का तो असंयम है ही, साथ ही जनता का भी दोष है। जनता जब अपने सेवक की अपेक्षा अधिकारी की अधिक भक्ति करेगी तब लोग सेवक बनने की अपेक्षा अधिकारी बनने की अधिक कोशिश करेंगे। इससे सेवक घटेंगे अधिकारों के लुटारू बढ़ेंगे इसलिये अधिकारभक्ति भी एक तरह की बुराई है। अधिकारी की भक्ति उतनी ही करना चाहिये जितनी कि अधिकारी होने के पहिले उसके गुणों और सेवाओं के कारण करते थे।

प्रश्न—व्यवस्था की रक्षा करने के लिये अधिकारभक्ति करना ही पड़ती है और करना भी चाहिये। न्यायालय में आनेवाले अगर न्यायाधीश के व्यक्तित्व का ही खयाल करें और उसके अधिकार की तरफ ध्यान न दें तो न्यायालय की इज्जत भी कायम न रहे, न्यायाधीश को न्याय करना भी कठिन हो जाय।

उत्तर—न्यायालय में न्यायाधीशका सन्मान न्यायाधीश की भक्ति नहीं है यह तो उचित मर्यादा का पालन है। न्यायासन पर व्यक्ति के व्यक्तित्व का विचार नहीं किया जाता उस पद का विचार किया जाता है। न्यायालय के आदर में व्यक्ति को बिलकुल गौण कर देना चाहिये। न्यायालय के बाहर उस व्यक्ति का आदर उसके गुण के अनुसार करना चाहिये वहां उसके पद या अधिकार को गौण कर देना चाहिये।

प्रश्न—ऐसे भी अधिकारी हैं जो चौबीसों घंटे अपनी ड्यूटीपर माने जाते हैं उसके लिये न्यायालय के भीतर या बाहर का भेद नहीं होता।

उत्तर—ऐसे लोग जब ड्यूटी के काम के लिये आवें तब उनका वैसा आदर करना चाहिये, परन्तु जब वे किसी धार्मिक सामाजिक या वैयक्तिक कार्य से आवें तब उनका अधिकारीपन गौण समझना चाहिये।

मतलब यह है कि अधिकार और महत्ता का पूज्यता से मेल नहीं बैठता। अच्छे से अच्छे जनसेवक त्यागी व्यक्ति अधिकारहीन होते हैं और साधारण से साधारण क्षुद्र व्यक्ति अधिकार पा जाते हैं। अधिकार के आसन पर बैठकर वे आदर सन्मान तो लूट ही लेते हैं, अब अगर अन्यत्र भी वे आदर सन्मान लूटें और सच्चे सेवक और त्यागी भी उनके आगे गौण कर दिये जाँय तो समाज के लिये इससे बढ़कर कृतघ्नता और क्या हो सकती है। और इसी कृतघ्नता का यह परिणाम है कि समाजसेवा की अपेक्षा पदाधिकारी बनने की तरफ मनुष्य की रुचि अधिक होती है। प्रजातन्त्र शासन की अच्छाई भी इसी कारण धीरे धीरे नष्ट हो जाती है।

हां, यह ठीक है कि कोई पदाधिकारी योग्य भी हो और उसने अपनी योग्यता का धन का जन का समाज सेवा के कार्य में उपयोग किया हो तो इस दृष्टि से उसकी भक्ति की जा सकेगी। पर जब दूसरे समाजसेवी से उसकी तुलना होगी तो समाज सेवा ही की दृष्टि से तुलना होगी, अधिकार की दृष्टि से नहीं।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि कोई धनी या अधिकारी आर्थिक आदि कारणों से सम्पर्क में आता है, उससे परिचय हो जाता है, और पता लगता है कि वह सिर्फ धनी या अधिकारी ही नहीं है किन्तु गुणों में भी श्रेष्ठ है परोपकारी भी है, इस प्रकार उसकी भक्ति पैदा हो जाती है तो यह धनभक्ति या अधिकारभक्ति नहीं है किंतु गुणभक्ति या उपकारभक्ति है।

६ वेषभक्त (रंजो भक्त)– गुण हो या न हो किन्तु वेष देखकर किसी की भक्ति करना वेषभक्ति है। वेषभक्त भी जघन्य श्रेणी का भक्त है। जब हम विद्वत्ता त्याग समाजसेवा आदि का अपमान करके किसी वेष का सन्मान करते हैं तब यह अधम भक्ति समाज में इन गुणों की कमी कराने लगती है और वेष लेकर पुजने के लिये धूर्तों मूढ़ों गुणहीनों को उत्तेजित करती है। वेष तो किसी संस्था के सदस्य होने की निशानी है महत्ता या गुण के साथ उसका नियत सम्बन्ध नहीं है। वेष लेकर भी मनुष्य हीन हो

सकता है। वेष के आगे वास्तविक महत्ता का अपमान न होना चाहिये।

प्रश्न—वेष किसी संस्था के सदस्य होने की निशानी है, तब यदि उस संस्था का सन्मान करना हो तो वेष का सन्मान क्यों न किया जाय?

उत्तर—वेष का सन्मान एक बात है, वेष होने से किसी व्यक्ति का सन्मान करना दूसरी बात है, वेष के द्वारा किसी संस्था का सन्मान करना तीसरी बात है, और वेष के द्वारा आत्म-शुद्धि और जनसेवा का सन्मान करना चौथी बात है। इनमें से पहिली दो बातें उचित नहीं है। तीसरी बात ठीक है परन्तु उसमें मर्यादा होना चाहिये। संस्था का सन्मान उतना ही उचित है जितनी उससे लोकसेवा होती है। कोई संस्था यह नियम बनाले कि हमारे सदस्यों से जो मिलने आवें उसे जमीन पर बैठना पड़ेगा भले ही मिलनेवाला कितना ही बड़ा लोकसेवी विद्वान हो और हमारा सदस्य सिंहासन या ऊँचे तखत पर बैठेगा भले ही उसकी योग्यता कितनी ही कम हो, तो उस संस्था की यह ज्यादती है। संस्था का सन्मान उसके रीतिरिवाज के आधार पर नहीं किन्तु उसकी लोकसेवा आदि के आधार पर किया जाना चाहिये।

चौथी बात सर्वोत्तम है। इसमें संस्था का प्रश्न नहीं रहता इसमें वेष तो सिर्फ एक विज्ञापन है जिससे आकृष्ट होकर लोग व्यक्ति की आत्म-शुद्धि और जनसेवा की परीक्षा के लिये उत्सुक हों। इसके बाद जैसा उसे पावें उसके साथ वैसा ही व्यवहार करें।

७ कलाभक्त (चक्षोभक्त)—मन और इन्द्रियों को प्रसन्न करनेवाली साकार या निराकार रचना विशेष का नाम कला है। जैसे वक्तृत्व कवित्व संगीत आदि निराकार कला, मूर्ति चित्र नृत्य आदि साकार कला। जहां कला है वहां कम खर्च में भी अधिक आनन्द मिल सकता है, जहां कला नहीं है वहां अधिक खर्च में भी उतना आनन्द नहीं मिल पाता। चतुर चित्रकार पेन्सिल से दो चार रेखाएँ खींचकर सुन्दर चित्र बना लेता है और अनाड़ी चित्रकार स्याही से कागज भर कर भी कुछ नहीं कर पाता। यह कला की विशेषता है।

कला की भक्ति मध्यम श्रेणी की भक्ति है। अधिकारभक्ति धनभक्ति आदि से जो दूसरों पर बोझ पड़ता है वह कलाभक्ति से नहीं पड़ता। कला जगत को कुछ देती ही है जब कि धन अधिकार आदि दूसरों से खींचते हैं। मुझे धनी बनने के लिये दूसरा से छीनना पड़ेगा या लेना पड़ेगा पर कलावान होने के लिये दूसरों से छीनना जरूरी नहीं है थोड़ा बहुत दूंगा ही। जगत में बहुत से धनी अधिकारी आदि हों इस की अपेक्षा यह अच्छा है कि बहुत से कलावान हों। इसलिये कलाभक्ति धनभक्ति आदि से अच्छी है मध्यम श्रेणी की है।

उत्तम श्रेणी की यह इसलिये नहीं है कि कलावान होने से ही जगत को लाभ नहीं होता। उसका दुरुपयोग भी काफी हो सकता है। इस-लिये सिर्फ कलाभक्ति से कुछ लाभ नहीं उसके सदुपयोग की भक्ति ही उत्तम श्रेणी में जा सकती है। पर उस समय कला गौण हो जायगी और उससे होनेवाला उपकार ही मुख्य हो जायगा इसलिये वहां कलाभक्ति न रह कर उपकारभक्ति रहेगी।

८ गुणभक्त (रसो भक्त)—दूसरे की भलाई कर सकनेवाली शक्ति विशेष का नाम गुण है। जैसे विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, पहिलवानी, सुन्दरता आदि। कुछ गुण स्वाभाविक होते हैं और कुछ उपार्जित। बुद्धिमत्ता आदि स्वाभाविक हैं विद्वत्ता आदि उपार्जित। गुणी होने से किसी की भक्ति करना गुणभक्ति है यह भी मध्यम श्रेणी की भक्ति है। इसकी मध्यमता का कारण वही है जो कलाभक्ति का है।

प्रश्न—सौन्दर्य भी एक गुण है उसकी भक्ति मध्यम श्रेणी की भक्ति है और धनी अधिकारी आदि की भक्ति जघन्य श्रेणी की, तब सुन्दरियों

के पीछे घूमनेवाले मध्यम श्रेणी के कहलाये और अधिकारियों को मानपत्र देनेवाले जघन्य श्रेणी के। यह अन्तर कुछ जचता नहीं। यह तो विषय को उत्तेजन देना है।

उत्तर—विषयातुर होकर सुन्दरियों को महत्व देनेवाले गुणभक्त या कलाभक्त नहीं हैं। वे तो विषयभक्त होने से स्वार्थभक्त हैं। विषय को धक्का लगा कि उनकी भक्ति गई। ऐसे स्वार्थ-भक्त तो जघन्य श्रेणी के हैं। सौन्दर्यभक्ति तो सामूहिक हित की दृष्टि से होती है। एक विद्वान की इसलिये भक्ति करना कि उसने हमारे लड़के को मुफ्त में पढ़ा दिया है, गुणभक्ति नहीं है, स्वार्थभक्ति है। एक सुन्दरी की इसलिये भक्ति करना कि उसके रूप से आँखें सिकतीं हैं सौन्दर्य-भक्ति नहीं है स्वार्थभक्ति है। निस्वार्थ दृष्टि से जो भक्ति होगी वही गुणभक्ति रहेगी और मध्यम श्रेणी में शामिल होगी।

६ शुद्धिभक्त (शुधो भक्त)— पवित्र जीवन वितानेवाले लोगों की भक्ति करना शुद्धिभक्ति है। इस भक्ति में कोई दुस्वार्थ नहीं होता अपने जीवन को पवित्रता की ओर लेजाने का सत्स्वार्थ होता है। यह उत्तम श्रेणी की भक्ति है क्योंकि इससे पवित्र जीवन विताने की उत्तेजना मिलती है।

१० उपकारभक्ति (भक्तो भक्त)— किसी वस्तु से कोई लाभ पहुँचता हो तो उसके विषय में कृतज्ञता रखना उपकारभक्ति है। यह भी उत्तम श्रेणी की है क्योंकि इससे उपकारियों की संख्या बढ़ती है।

गाय को जब माता कहते हैं तब यही उप-कारभक्ति आती है। गाय एक जानवर है खुद उसे अपनी उपकारकता का पता नहीं है पर हम उससे लाभ उठाते हैं इसलिये माता कहकर भक्ति प्रगट करते हैं। यह किसी नाम की भक्ति नहीं है किन्तु गोजाति के द्वारा होनेवाले मानव जाति के उपकार की भक्ति है। यदि हमने अपनी शक्ति से विवश करके किसी से सेवा ली है तो भी न्याय के खातिर हमें उसका उपकार मानना चाहिये और यथाशक्य आदर पूजा से कृतज्ञता प्रगट करना चाहिये, यह मनोवृत्ति अच्छी है। इसी दृष्टि से एक कारीगर अपने औजारों की पूजा करता है एक व्यापारी तराजू की पूजा करता है। कृतज्ञ मनोवृत्ति जड़ चेतन का भेद भी गौण कर देती है। गंगा आदि की भक्ति के मूल में भी यही कृतज्ञता की भावना है। इसे देव आदि समझकर अद्भुत शक्तियों की कल्पना तो मूढ़ता है पर उपकारी समझकर भक्ति करना उचित है। इससे मनुष्य में कृतज्ञता जगती रहती है। कृतज्ञता से परोपकारियों की संख्या बढ़ती है कृतघ्नता से अगणित उपकारी नष्ट होते हैं।

प्रश्न—उपकारभक्ति तो स्वार्थभक्ति है स्वार्थ-भक्ति तो अधम श्रेणी की भक्ति है फिर उपकार के नाम से उसे उत्तम श्रेणी की क्यों कहा ?

उत्तर—स्वार्थभक्ति और उपकारभक्ति में अन्तर है। स्वार्थभकृति मोह का परिणाम है और उपकारभकृति विवेक का। स्वार्थ नष्ट होने-पर स्वार्थभकृति नष्ट होजाती है जब कि उपकार-भकृति उपकार नष्ट होनेपर भी बनी रहती है, इसमें कृतज्ञता है। स्वार्थभकृति में दीनता, दासता मोह आदि हैं।

११ सत्यभक्त (सत्योभकृत)— शुद्धि और उपकार दोनों के सम्मिश्रण की भकृति सत्यभकृति है। न तो कोरी शुद्धि से जीवन की पूर्ण सफलता है न कोरे उपकार से, ये तो सत्य के एक एक अंश हैं। जीवन को शुद्ध बनाया पर वह जीवन दुनिया के काम न आया, सिर्फ पुजने के काम का रहा तो ऐसा जीवन अच्छा होने पर भी पूर्ण नहीं है। और उपकार किया पर जीवन पवित्र न बना तो भी वह आदर्श न बना, बल्कि कदाचित यह भी हो सकता है कि वह उपकार के बदले अपकार अधिक कर जाय। दोनों को मिलाने से जीवन की पूर्णता है, यही सत्य है इसी की भकृति सत्यभकृति है।

ये ग्यारह प्रकार के भकृत बतलाये हैं इन्हें सेवक उपासक पूजक आदि भी कह सकते हैं।

पर सेवा आदि करने में तो दूसरों की सहायता की आवश्यकता है लेकिन भक्ति में नहीं है, भक्ति स्वतन्त्र है। इसलिये मनुष्य भक्त बनने का ही पूरा दावा कर सकता है सेवक आदि बनना तो परिस्थिति और शक्ति पर निर्भर है।

भक्ति की जगह प्रेम आदि शब्दों का भी उपयोग किया जा सकता है पर भक्तजीवन शब्द से जो सात्विकता और नम्रता प्रगट होती है वह प्रेमीजीवन शब्द से नहीं होती। जो चीजें हमारी मनुष्यता का विकास करती हैं जगत का उद्धार करती हैं उनके सामने तो हमें भक्त बनकर जाना ही उचित है। मनुष्य प्राणी प्राणियों का राजा होने पर भी इस विश्व में इतना तुच्छ है कि वह भक्त बनने से अधिक का दावा करे तो यह उसका अहंकार ही कहा जायगा। खैर, भक्त कहो, पुजारी कहो, सेवक कहो, प्रेमी कहो, उपासक कहो, करीब करीब एक ही बात है और इस दृष्टि से जीवन के ग्यारह भेद हैं। इनमें से उत्तम श्रेणी का भक्त हर एक मनुष्य को बनना चाहिये।

हां, व्यवहार में जो शिष्टाचार के नियम हैं उनका पालन अवश्य करना चाहिये। जो शिष्टाचार नीतिरक्षण और सुव्यवस्था के लिये आवश्यक है वह रहे, बाकी में भक्ति जीवन के अनुसार संशोधन करना उचित है।

३—वयोजीवन (जिवूलोजिवो)

आठ भेद

मानव-जीवन की अवस्थाओं को हम तीन भागों में विभक्त करते हैं, बाल्य, यौवन और वार्धक्य। तीनों में एक एक बात की प्रधानता होने से एक एक विशेषता है। बाल्यावस्था में आमोद प्रमोद-आनन्द की विशेषता है। निश्चिन्त जीवन, किसी से स्थायी वैर नहीं, उच्चनीच आदि की वासना नहीं, किसी प्रकार का बोझ नहीं, क्रीड़ा और विनोद, ये बाल्यावस्था की विशेषताएँ हैं। युवा और वृद्ध भी जब अपने जीवन पर विचार करने बैठते हैं तब उन्हें बाल्यावस्था की स्मृतियाँ आनन्द-मग्न कर देती हैं। जब मनुष्य आनन्द-मग्न होता है तब वह बाल्यावस्था का ही अनुकरण करता है। व्याख्यान सुनते सुनते या कोई सुन्दर दृश्य देखते देखते मनुष्य हर्षित होनेपर बालकों की तरह तालियाँ पीटने लगता है, उछलने कूदने लगता है। बुद्धि की अर्गला किनारे हो जाती है हृदय उन्मुक्त होकर उछलने लगता है। बाल्यावस्था की घड़ियाँ वे घड़ियाँ हैं जिनकी स्मृति जीवन में जब चाहे तब गुदगुदी पैदा करती है।

यौवन कर्मठता की मूर्ति है। इस अवस्था में मनुष्य उत्साह और उमंगों से भरा रहता है। विपत्तियों को वह मुसकराकर देखता है, असम्भव शब्द का अर्थ ही नहीं समझता, जो काम सामने आ जाय उसी के ऊपर टूट पड़ता है, इस प्रकार कर्मसयता यौवन की विशेषता है।

वार्द्धक्य की विशेषता है ज्ञान-अनुभव दूरदर्शिता। इस अवस्था में मनुष्य अनुभवों का भंडार हो जाता है इसलिये उसमें विचारकता और गम्भीरता बढ़ जाती है। वह जल्दी ही किसी प्रवाह में नहीं बहजाता। इस प्रकार इन तीनों अवस्थाओं की विशेषताएँ हैं। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि एक अवस्था में दूसरी अवस्था की विशेषता बिलकुल नहीं पाई जाती। यदि ऐसा हो जाय तो जीवन जीवन न रहे। इसलिये बालकों में भी कर्मठता और विचार होता है, युवकों में भी विनोद और विचार होता है, वृद्धों में भी विनोद और कर्मठता होती है। इसलिये उन अवस्थाओं में जीवन रहता है। परन्तु जिन जीवनों में इन तीनों का अधिक से अधिक सम्मिश्रण और समन्वय होता है वे ही जीवन पूर्ण हैं, धन्य हैं।

बहुत से लोग किसी एक में ही अपने जीवन की सार्थकता समझ लेते हैं, बहुतों का नम्बर दो तक पहुँचता है, परन्तु तीन तक बहुत कम पहुँचते हैं। अगर इस दृष्टि से जीवनों का श्रेणीविभाग किया जाय तो उसके आठ भेद होंगे-

१ गर्भजीवन, २ बालजीवन, ३ युवाजीवन, ४ वृद्धजीवन, ५ बालयुवाजीवन, ६ बालवृद्धजीवन, ७ युवावृद्धजीवन, ८ बालयुवावृद्ध जीवन। दूसरे नामों मे इसे यों कहेंगे:—१ जड़ २ आनंदी, ३ कर्मठ, ४ विचारक, ५ आनंदी-कर्मठ, ६ आनंदी-विचारक, ७कर्मठ विचारक, ८ आनंदी-कर्मठ विचारक।

१ जड़ (उम्म)-जिसके जीवन में न आनन्द है न विचार, न कर्म। यह एक तरहका पशु है या जड़ है।

२ आनन्दी (नन्द)-अधिकांश मनुष्य या प्राय: सभी मनुष्य इसी प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहते हैं परन्तु उनमें से अधिकाश इसमें असफल रहते हैं। असफलता तो स्वाभाविक ही है क्योंकि प्रकृतिकी रचना ही ऐसी ही है कि अधिकाश मनुष्य इस प्रकार एकांगी जीवन व्यतीत कर ही नहीं सकते। आनन्द के लिये विचार और कर्मका सहयोग अनिवार्य है। थोड़े बहुत समय तक कुछ लोग वह बालजीवन व्यतीत कर लेते हैं परन्तु कई तरह से उनके इस जीवन का अन्त हो जाता है। एक कारण तो यही है कि इस प्रकार के जीवन से जो लापर्वाही सी आ जाती है उससे जीवन संग्राम में वे हार जाते हैं, दूसरे कर्मठ व्यक्ति उन्हें लूट लेते हैं। वाजिद-अली शाह से लेकर हजारों उदाहरण इसके नमूने मिलेंगे। आज भी इस कारण से सैकड़ों श्रीमानों को उजड़ते हुए और उनके चालाक मुनीमों को या दोस्त कहलानेवालों को बनते हुए हम देख सकते हैं। इनके जीवन में जो एकान्त बालकता आ जाती है, उसी का दुष्फल ये इन रूपों में भोगते हैं। इस जीवन के नाश का दूसरा कारण है प्रकृति-प्रकोप। ऐयाशी उनके शरीर को निर्बल से निर्बल बना देती है। ये लोग दूसरों से सेवा कराते कराते दूसरों को तो मारते ही हैं परन्तु स्वयं भी मारे जाते हैं, इसके अतिरिक्त डाक्टर वैद्यों की सेवा करते करते भी मरे जाते हैं। इस प्रकार इनका जीवन असफलता की सीमा पर जा पहुँचता है। ये लोग दुनिया को भार के समान हैं।

इस तरह के लोग देखने में शान्त, किन्तु तीव्र स्वार्थी होने के कारण अत्यन्त क्रूर होते हैं।

३ कर्मठ (कज्जेर)-साध्य और साधन के भेद को भूलकर बहुत से लोग कर्म तो बहुत करते हैं परन्तु कर्म का लक्ष्य क्या है इसका उन्हें कभी विचार भी पैदा नहीं होता। जिस किसी तरह सम्पत्ति एकत्रित करते हैं परन्तु सम्पत्ति का उपयोग नहीं कर सकते। उनकी सम्पत्ति न तो दान में खर्च होती है न भोग में खर्च होती है। इस प्रकार सम्पत्ति का संग्रह करके वे दूसरों को कंगाल तो बनाते हैं परन्तु स्वयं कोई लाभ नहीं उठाते।

धन कोई स्वयं सुख या ध्येय नहीं है परन्तु सुख और ध्येय का साधनमात्र है। अगर धन से शान्ति न मिली, भोग न मिला, तो एक पशु-जीवन में और मानवजीवन में अन्तर क्या रहा? जिसने धन पाकर उससे यश और भोग न पाया, दुखियों का और समाजसेवकों का आशीर्वाद न लिया, उसकी सम्पत्ति उसके लिये भार ही है। मृत्यु के समय ऐसे लोगों को अनन्त पश्चात्ताप होता है। क्योंकि सम्पत्ति का एक अणु भी उन के साथ नहीं जाता। ऐसी हालत में उनकी अवस्था कोल्हू के बैल से भी बुरी होती है। कोल्हू का बैल दिन भर चक्कर लगाकर कुछ प्रगति नहीं कर पाता, फिर भी उसके चक्कर लगाने से दूसरे को कुछ न कुछ लाभ होता ही है। परन्तु ऐसे लोग न तो अपनी प्रगति कर पाते हैं न दूसरों की, अर्थात् न तो अपने जीवन को विकसित या समुन्नत बना पाते हैं न दुनिया को भी कुछ लाभ पहुँचा पाते हैं।

४ विचारक (इंकर)-कर्महीन विचारक जघन्य श्रेणी का न सही, किन्तु अकर्मण्य होने से समाज के लिये भारभूत है। इस श्रेणी में ऐसे भी बहुत से लोग आ जाते हैं जो समाज की दृष्टि में बहुत ऊंचे गिने जाते हैं। बहुत से साधुवेषी

इसी श्रेणी में हैं। विचार और विद्वत्ता एक साधन हैं। जो लोग सिर्फ साधन को पकड़कर रह जाते हैं और साध्य को भूल जाते हैं उनका जीवन बिलकुल अधूरा है। अनावश्यक काय-क्लेश सहना और लोकहित से विरक्त रहना जीवन को निरुपयोगी बना लेना है।

५ आनन्दी-कर्मठ (नन्द् कज्जेर)—बहुत से मनुष्य चतुर स्वार्थी होते हैं। वे कर्मशील होंगे मौज मजा भी खूब उड़ायेंगे लेकिन लोकहित की तरफ और सात्विक आनन्द की तरफ ध्यान न देंगे। ऐसे लोग लाखों करोड़ों की जायदाद एकत्रित करते हैं, अर्थोपार्जन के क्षेत्र में अपना सिंहासन ऊंचे से ऊंचा बना लेते हैं, परन्तु उस सिंहासन के नीचे कितने अस्थिपंजर दब रहे हैं—कराह रहे हैं इसकी पर्वाह नहीं करते। लौकिक व्यक्तित्व की दृष्टि से ये कितने भी ऊंचे हों परन्तु जीवन की उच्चता की दृष्टि से ये काफ़ी नीचे स्तर में हैं।

विचारहीन होने के कारण इनकी कर्मठता केवल स्वार्थ की तरफ झुकी रहती है। सात्विक स्वार्थ को वे पहिचान ही नहीं पाते। दूसरों के स्वार्थ की इन्हें पर्वाह नहीं रहती बल्कि उनकी असुविधाओं, दुर्बलताओं तथा भोलेपन से अधिक से अधिक अनुचित लाभ उठालेने की घात में ये लोग रहते हैं इसलिये समर्थ होकर भी ये दुनिया के लिये भारभूत होते हैं। इस श्रेणी में अनेक साम्राज्य-संस्थापक, अनेक धनकुबेर आदि भी आ जाते हैं। इन लोगों की सफलता हज़ारों मनुष्यों की असफलता पर खड़ी होती है, इनका स्वार्थ हजारों मनुष्यों के निर्दोष स्वार्थों का भोग लगाता है, इनका अधिकार हजारों के जन्मसिद्ध अधिकारों को कुचल डालता है। इस श्रेणी का व्यक्ति जितना बड़ा होगा उतना ही भयंकर और अनिष्टकर होगा। दुनिया ऐसे जीवनों को सफल जीवन कहा करती है परन्तु मनुष्यता की दृष्टि से वास्तव में वे असफल जीवन हैं। इतिहास में इनका नाम एक जगह घेर सकता है परन्तु वह श्रद्धेय और वन्दनीय नहीं हो सकता।

६ आनन्दी विचारक (नन्द इंकर)—इस श्रेणी में प्राय. ऐसे लोगों का समावेश होता है जो विद्वान हैं, साधारणतः जिनका जीवन सदाचारपूर्ण है, पास में कुछ पैसा है इसलिये आराम से खाते हैं, अथवा कुछ प्रतिष्ठा है, कुछ भक्त हैं उनकी सहायता से आराम करते हैं, परन्तु ऐसे कुछ काम नहीं करते जिससे समाज का कुछ हित हो अथवा अपनी जीविका ही चल सके। मानव समाज में ऐसे प्राणी बहुत ऊँची श्रेणी के समझे जाते हैं परन्तु वास्तव में इतनी ऊंची श्रेणी के होते नहीं हैं। प्रत्येक मनुष्य को जब तक उसमें कर्म करने की शक्ति है कर्म करने के लिये तैयार रहना चाहिये। कर्म कैसा हो इसका कोई विशेष रूप तो नहीं बताया जा सकता परन्तु यह कहा जा सकता है कि उससे समाज को कुछ लाभ पहुँचता हो। जब मनुष्य जीवित रहने के साधन लेता है तब उसे कुछ देना भी चाहिये।

कोई यह कहे कि रुपया पैदा करके मैंने अपने पास रख लिया है उससे मैं अपना निर्वाह करता हूं मैं समाज से कुछ नहीं लेना चाहता तब निवृत्त होकर आरामसे दिन क्यों न गुजारूं?

परन्तु यहां वह भूलता है। किसी भी मनुष्य को संग्रह करने लायक सम्पत्ति लेने का कोई अधिकार नहीं है। अगर परिस्थितिवश उसकी सेवा का बाजार में मूल्य अधिक है तो उसके बदले में वह अधिक सेवा दूसरों से लेले, परन्तु जीवनोपयोगी साधनों का अथवा उसके प्रतिनिधिरूप सिक्कों आदि का संग्रह करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। अधिक रुपया लेता है तो उसे किसी न किसी रूप में खर्च कर देना चाहिये। हां, योग्य स्थान में खर्च करने के लिये कुछ समय तक संग्रहीत रहे तो बात दूसरी है अथवा उस समय के लिये संग्रह करे जब बदला लिये बिना समाज की सेवा करता हो तो भी वह

संग्रह उचित है, अथवा वृद्धावस्था आदि के लिये संग्रह करे जब अर्थोपयोगी सेवा के लिये मनुष्य अक्षम हो जाता है तब भी संग्रह क्षम्य है। ऐसे अपवादों को छोड़कर मनुष्य को अर्थसंग्रह नहीं करना चाहिये। आराम करने का तो मनुष्य को अधिकार है परन्तु वह कर्म के साथ होना चाहिये। इसलिये जो मनुष्य होकर के भी और कर्म करने की शक्ति रख करके भी कर्म नहीं करता है वह अधूरा आदमी है और ऐसा अधूरा है जिसे टोका जा सकता है जिसपर आक्षेप किया जा सकता है।

जो लोग कर्म की शक्ति रखते हुए भी कर्म-हीन संन्यास ले बैठते हैं, या ए तपस्याओं में—जिनसे अपने को और समाज को लाभ नहीं—अपनी शक्ति लगाते हैं, वे इसी श्रेणी में आते हैं। अथवा इस प्रकार के निरुपयोगी जीवन को उनने अगर दुःखमय बना लिया है तो उनकी श्रेणी और भी नीची होजाती है वे एकान्त विचारक की श्रेणी में (जिसका वर्णन नं. ४ में किया गया है) गिर जाते हैं। ऐसे मनुष्य योगी सिद्ध महात्मा आदि कहलाने पर भी जीवन के लिये आदर्श नहीं हो सकते। उनकी कर्महीनता निर्बलता का परिणाम है, परिस्थिति विशेष में वह लक्ष्य भले ही हो सके परन्तु आदर्श नहीं।

७ कर्मठ विचारक (कज्जेर इंकर)—यह उत्तम श्रेणी का मनुष्य है। जो ज्ञानी भी है और कर्मशील भी है, वह आत्मोद्धार भी करता है और जगदुद्धार भी करता है। परन्तु इसके जीवन में एक तरह से काम का अभाव रहता है। इस श्रेणी का व्यक्ति कभी कभी भ्रम में भी पड जाता है, वह दुःख को धर्म समझने लगता है। यह बात ठीक है कि समाजसेवा के लिये तथा आत्मविकास के लिये अगर कष्ट सहना पड़े तो अवश्य सहना चाहिये, परन्तु कष्ट उपादेय नहीं है। निरर्थक कष्टों को निमन्त्रण देना उचित नहीं है।

जनता में एक भ्रम चिरकाल से चला आता है। वह कष्टको और धर्मको सहचर समझ लेती है, कष्ट की कमी को धर्म की कमी समझ लेती है इसलिये कष्ट की वृद्धि को धर्म की वृद्धि मानती है। जहां कष्ट में और धर्म मे कार्य-कारण-भाव होता है वहां तो ठीक भी कहा जा सकता है परन्तु जहा कष्ट का कोई साध्य ही नहीं होता है वहा भी जनता दोनो का सम्बन्ध जोड़ लेती है। जैसे कोई आदमी किसी की सेवा करने के लिये जागरण करे भूख प्यास के कष्ट सहे तो समझा जा सकता है कि उसका यह कष्ट परोपकार के लिये था इसलिये उसका सम्बन्ध धर्म से था, परन्तु जहा कष्ट का साध्य परोपकार आदि न हो वहा भी ऐसा समझ बैठना भूल है।

अमुक मनुष्य ठंड में बाहर पड़ा रहता है और धूप में खड़ा रहता है इसलिये बड़ा धर्मात्मा है, ऐसे ऐसे भ्रमों में पड़कर जनता दम्भियों की खूब पूजा करती है और दम्भियों की सृष्टि करती है। अमुक मनुष्य ब्रह्मचारी है अर्थात् विवाह नहीं करता इसी से लोग उसे धर्मात्मा समझ लेंगे। वे यह नहीं सोचेंगे कि ब्रह्मचर्य से उसने कितनी शक्ति संचित की है? कितना समय बचाया है और उस शक्ति तथा समय का समाज-सेवा के कार्य में कितना उपयोग किया है। एक आदमी विवाहित है इसीलिये छोटा है, लोग यह न सोचेंगे कि विवाहित जीवन से उसने शक्ति को बढ़ाया है या घटाया है। सेवा के क्षेत्र मे वह कितना बढा है? एक आदमी मनहूसी से रहता है, उसके पास सात्विक विनोद भी नहीं है, बस, वह बड़ा त्यागी और महात्मा है। परन्तु दूसरा जोकि हँसमुख और प्रसन्न रहता है, अपने व्यवहार से दूसरे को प्रसन्न रखता है, निर्दोष क्रीडाओं से वह सुखसृष्टि करता है तो वह छोटा है। जनता की अन्ध-कसौटी के ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त पेश किये जा सकते हैं जहा उसने नरकको धर्म और स्वर्ग को अधर्म समझ रक्खा है।

कर्मठविचारक श्रेणी के बहुत से लोग इस कसौटी पर ठीक उतरने के लिये जानबूझकर अपने जीवन को सुखहीन बनाते हैं। जिस

आनन्द से दूसरे की कुछ हानि नहीं है ऐसे आनन्द का भी वे बहिष्कार करते रहते हैं इसलिये वे जनता में अपना स्थान ऊँचा बना लेते हैं परन्तु इससे सिर्फ व्यक्तित्व की विजय होती है जनता को आदर्श जीवन नहीं मिलता।

इस श्रेणी का मनुष्य सिपाही है सद्गृहस्थ नहीं। वह त्यागी है, समाज-सेवी है और वन्दनीय भी है परन्तु पूर्ण नहीं है-आदर्श नहीं है।

८-आनन्दी कर्मठ विचारक (नन्द कज्जेर इंकर)-

यह आदर्श मनुष्य है, जिसमें संयम, समाज-सेवा और त्याग आदि होकर के भी जो दुनिया को सुखमय जीवन बिताने का आदेश, उपदेश आदि ही नहीं देता किन्तु स्वयं आदर्श उपस्थित करता है। वह आवश्यक कष्टों को नहीं अपनाता, न आवश्यक कष्टों से मुँह छिपाता है। जनता की अन्धकसौटी की उसे पर्वाह नहीं होती वह सिर्फ सेवा और सदाचार से आत्मोद्धार और जगदुद्धार करता है। उसका जीवन आडम्बर और आवरण से हीन होता है वह योगी है। वह बालक भी है, युवक भी है, वृद्ध भी है, हँसता भी है, खेलता भी है और डटकर काम भी करता है, गुरु भी है और दोस्त भी है, अमीर भी है फकीर भी है, भक्ति और प्रेम से गाता भी है, और दूसरों के दुःख में रोता भी है छोटी बड़ी सभी बातों की चिन्ता भी करता है परन्तु अपने मार्ग में असंदिग्ध होकर आगे बढ़ता भी जाता है, इस प्रकार सब रसों से परिपूर्ण है। उसके जीवन का अनुकरण समस्त विश्व कर सकता है। छोटा आदमी भी कर सकता है बड़ा आदमी भी कर सकता है फिर भी उससे जीवन के चक्र को कुछ धक्का नहीं पहुँचता। वह असाधारण है, पूर्ण है, पर लोगों की पहुँच से बाहर नहीं है, सुलभ है। वह भारी है परन्तु किसी के सिर का बोझ नहीं है।

ऐसे लोगों को कभी कभी दुनिया पहिचान नहीं पाती अथवा बहुत कम पहिचान पाती है। जिनके आँखें हैं उनके लिये यह सुन्दर चित्र है परन्तु अन्धों के लिये वह कागज का टुकड़ा है।

ऐसे महापुरुष सैकड़ों होगये हैं परन्तु दुनिया ने उसे कागज का टुकड़ा कहकर, मामूली समझ कर भुलादिया है। परन्तु जो पहिचाने जा सके उनका उल्लेख आज भी किया जासकता है। उनमें म. राम, म. कृष्ण और म. मुहम्मदका नाम बिना किसी टीका टिप्पणी के लिया जासकता है। इनमें उपर्युक्त सब गुण दिखाई देते हैं। ये सेवा के लिये बड़े से बड़े कष्ट भी सहसके हैं और एक सद्गृहस्थ के समान स्वाभाविक आनन्दमय जीवन भी व्यतीत कर सके हैं। ये लोग निःसन्देह आनन्दी-कर्मठ विचारक श्रेणी के महापुरुष हैं।

म. बुद्ध, म. ईसा और म. महावीर के विषय में कुछ लोगों को सन्देह हो सकता है कि इन्हें सातवीं श्रेणी में रखना चाहिये या आठवीं श्रेणी में? ये महापुरुष किस श्रेणी के थे यह बात तो इतिहास का विषय है, परन्तु यह कहा जा सकता है कि जिसप्रकार का कर्ममय संन्यासी जीवन इन लोगों ने बिताया वैसा जीवन बिता करके मनुष्य आठवीं श्रेणी में शामिल किया जायगा।

म. ईसा और म. बुद्ध के विषय में तो निःसन्देह रूप में कहा जा सकता है कि ये आठवीं श्रेणी के थे। म. ईसा में जैसा बालकप्रेम था उससे यह साफ कहा जा सकता है कि उनके जीवन में बालोचित हास्य-विनोद अवश्य था। जनसाधारण में मिश्रित हो जाने की वृत्ति से भी यही बात मालूम होती है।

म. बुद्ध के मध्यम-मार्ग से तो यह बात सैद्धान्तिक रूप में भी मालूम हो जाती है तथा बुद्धत्व प्राप्त होने के बाद जो उनने अनावश्यक तपस्याओं का त्याग कर दिया उससे विदित होता है कि म. बुद्ध निर्दोष आनन्द को पसन्द करते थे। बल्कि कभी कभी उनके शिष्यों को भी उनके आनन्दी जीवन पर कुछ असन्तोष सा उत्पन्न हो उठता था। निःसन्देह यह शिष्यों का अज्ञान

था किन्तु इससे यह साफ मालूम होता है कि उनका जीवन आनन्दी-कर्मठ विचारक था।

म महावीर के विषय में यह सन्देह कुछ बढ़ जाता है। इसका एक कारण तो यह है कि उनका इतिहास बहुत अधूरा मिलता है। उनकी चर्या, मिलने-जुलने तथा वार्तालाप आदि के प्रसंग इतने कम उपलब्ध हैं कि किसी भी पाठक को जैनियों के इस प्रमाद पर रोष आयगा। जैन लोग म. महावीर को पूजने में जितने आगे रहे उतने आगे उन्हें न समझने में भी रहे। फिर भी जो कुछ टूटीफूटी सामग्री उपलब्ध है उससे कहा जा सकता है कि उनका जीवन आनन्दी-कर्मठ-विचारक था। कूर्मापुत्र सरीखे गृहस्थ अर्हंतों की कथा का निर्माण करके उनने इस नीति का काफी परिचय दिया है। साधना के समय में हम उनके जीवन में कठोर तपस्याएं देखते हैं परन्तु अर्हन्त हो जाने के बाद उनके जीवन में अनावश्यक कष्टों को निमन्त्रण नहीं दिया गया। म. महावीर लोगों के घर जाते थे, स्त्रीपुरुषों से मिलते थे, वार्तालाप आदि में उनकी भाषा में कहीं कहीं उनके मुंहसे ऐसी बातें निकलती हैं जो अगर विनोद में न कहीं जाँयँ तो उससे सुननेवालों को भक्ति के स्थान में क्षोभ पैदा हो सकता है, जैसा कि सद्दालपुत्र के वार्तालाप के प्रसंग में है। परन्तु वहां उसे भक्ति ही पैदा हुई है इससे यह साफ मालूम होता है कि उनके जीवन में काफी विनोद भी होना चाहिये। श्रेणिक और चेलना में अगर झगड़ा होता है तो म. महावीर उसके बीच में पड़कर झगड़ा शान्त करा देते हैं। दाम्पत्य के बीच में खड़ा हो सकनेवाला व्यक्ति निर्दोष-रसिक अवश्य होना चाहिये। इसलिये म. महावीर का जीवन भी आनन्दी-कर्मठ-विचारक जीवन था।

म ईसा जो अविवाहित रहे और म बुद्ध और म. महावीर ने जो दाम्पत्य का त्याग किया और अन्ततक चालू रक्खा इसका कारण यह नहीं था कि वे इस प्रकार के जीवन को नापसन्द करते थे, किन्तु यह था कि उस युग में परिव्राजक जीवन बिताने के साधन अत्यन्त अल्प और संकीर्ण थे इसलिये तथा वातावरण बहुत विपरीत होने के कारण वे दाम्पत्य के साथ धर्म-संस्थापन का कार्य नहीं कर सकते थे।

इस श्रेणी में रहनेवाले मनुष्योंका व्यक्तित्व छोटा हो या बड़ा, शक्ति कम हो या अधिक, परन्तु वह जगत के लिये उपादेय है।

४ कर्तव्यजीवन (लंभतोजिवो)

छः भेद

न्याय शास्त्रियों ने वस्तु की एक बड़ी अच्छी परिभाषा की है कि 'जो कर्म करे वह वस्तु' (अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुनो लक्षणम्) इस प्रकार मनुष्य ही नहीं प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है कि उसमें कुछ क्रिया हो। अगर वस्तु में कोई विशेषता है तो उसकी क्रिया में भी कुछ विशेषता होना चाहिये। जड़ जगत के क्रियाकारित्व की अपेक्षा चेतन जगत का क्रियाकारित्व कुछ विशेष मात्रा में होगा। चेतन जगत में भी जिस प्राणी का जितना अधिक विकास हुआ होगा उसका क्रियाकारित्व भी उतना ही उच्च श्रेणी का होगा। वस्तु का लघुत्व और महत्व उसकी क्रियाकारित्वशीलता पर निर्भर है।

मनुष्य प्राणी सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। प्राणियों का लक्ष्य सुख है। अन्य प्राणी आत्म-सुख और पर-सुख के लिये सच्चा प्रयत्न नहीं के बराबर कर पाते हैं। सुख का स्रोत कितनी दूर से किस प्रकार आता है इसका उन्हें पता नहीं होता जब कि मनुष्य इस विषय में काफी बढ़ा चढ़ा है। वह समझता है कि सारा संसार अगर नरक-रूप हो जाय तो मैं अकेला स्वर्ग बनाकर नहीं रह सकता, इसलिये आत्म-सुख के साथ वह पर-सुख के लिये भी पूरा प्रयत्न करता है। इस प्रकार उसकी दृष्टि सुख के सूक्ष्म और विस्तीर्ण स्रोतों तक पहुँचती है। जो मनुष्य आत्म सुख और पर-सुख के लिये जितना अधिक सम्मिलित प्रयत्न करता है वह उतना ही अधिक महान है। जो

अकर्मण्य है या कुकर्मण्य है उस में स्वभाव से ही कुछ न कुछ क्रिया होने से वस्तुत्व तो है परन्तु मनुष्योचित कर्तव्य न करने से मनुष्यत्व नहीं है। वह मनुष्याकार प्राणी है परन्तु मनुष्यत्ववान् मनुष्य नहीं है।

इस वास्तविक कर्मठता की दृष्टि से मनुष्य-जीवन छः भागों में विभक्त किया जा सकता है–इन भागों को कर्तव्यपद कहना चाहिये। १ प्रसुप्त, २ सुप्त, ३ जाग्रत, ४ उत्थित, ५ संलग्न, ६ योगी।

१ प्रसुप्त (शेसुप)–प्राणियों का बहुभाग इसी श्रेणी में है। इस श्रेणी के लोग विचार-शून्य होते हैं। पशुपक्षियों से लेकर आजके अधिकांश मनुष्य तक इसी श्रेणी में हैं। इस श्रेणी के प्राणी नहीं समझते कि जीवन का ध्येय क्या है। सुख की लालसा तो रहती है किन्तु उसे प्राप्त करने की, उद्योग करने की, इच्छा या शक्ति नहीं रहती। दुःख आपड़े तो रोरोकर भोग लेंगे, सुख आया तो उसमें फूल जायँगे, भविष्य की चिन्ता न रहेगी, परोपकार का ध्यान न आयगा उनके सारे कार्य स्वार्थ-मूलक होंगे।

अनेक तरह की निद्राओं में एक ऐसी निद्रा भी होती है जिसमें मनुष्य सोते सोते अनेक काम कर जाता है। दौड़ जाता है, तैर जाता है और शक्ति के बाहर भी काम कर जाता है। इसे स्त्यानगृद्धि (शंसुपो) कहते हैं। इस प्रकार की निद्रावाले मनुष्य की तरह प्रसुप्त श्रेणी का मनुष्य भी कभी कभी कर्मठता दिखलाता है परन्तु उसमें विवेक तो होता ही नहीं है साथ ही साधारण विद्या बुद्धि भी नहीं होती। जुवारी के दाव की तरह उसका पाँसा कभी औंधा तो कभी सीधा पड़ जाता है। ऐसे मनुष्य लाखों कमायेंगे, लाखों गमायेंगे पर यह सब क्यों करते हैं इसका उत्तर न पा सकेंगे। दानादि भी करेंगे तो बिलकुल विवेकशून्य होकर। बिना विचारे रूढ़ियों की पूजा करेंगे उनका अनुसरण करेंगे। ये लोग इसी लिये जिन्दे रहते हैं कि मौत नहीं आती। बाकी जीवन का कुछ ध्येय इनके सामने नहीं होता।

जिस प्रकार प्राकृतिक जड़ शक्तियाँ कभी कभी प्रलय मचा देतीं हैं और कभी कभी सुभिक्ष कर देतीं हैं परन्तु इसमें उनको विवेक नहीं होता उसी तरह प्रसुप्त श्रेणी के लोग भी अच्छी या बुरी दिशा में विशाल कार्य कर जाते हैं। परन्तु यह सब स्त्यानगृद्धि सरीखे आवेग में कर जाते हैं। उसमें विवेक नहीं होता। इस श्रेणी के लोग संयमी का वेष ही क्यों न लेलें पर महान असंयमी होते हैं। उत्तरदायित्व का भान भी नहीं होता। विश्वासघात इनके हृदय को खटकता भी नहीं है। विश्वासघात वञ्चकता इनकी दृष्टि में होशियारी है। सन्ध्या, नमाज, पूजा, प्रार्थना करने में नहीं, उसका ढोंग करने में इनके धर्म की इतिश्री होजाती है। धर्म का सम्बन्ध नैतिकता से है यह बात इनकी समझ के परे है। बड़े बड़े पापों की भी पापता इनकी समझ में स्वयं नहीं आती अगर कोई सुझाये तो 'यँह चलता ही है' कहकर उपेक्षा कर जाते हैं। यह इनकी अति-निद्रितता का परिणाम है।

२ सुप्त (सुप)–प्रसुप्त श्रेणी के मनुष्यों की अपेक्षा इसकी निद्रा कुछ हलकी होती है। इसका चैतन्य भीतर भीतर निरर्गल रूप में नृत्य करता रहता है किन्तु स्वप्न की तरह निष्फल होता है। इस श्रेणी के मनुष्य विद्वान और बुद्धिमान भी हो सकते हैं। बड़े भारी पंडित, शास्त्री, वकील, प्रोफेसर, जज, धर्म समाज और राष्ट्र के नेता तक होसकते हैं फिर भी कर्तव्य मार्ग में सोते ही रहते हैं। दुनिया की नजरों में ये समझदार तो कहलाते हैं, प्रतिष्ठा भी पाजाते हैं परन्तु न तो इनमें विवेक होता है न सात्त्विक आत्म-सन्तोष। ये सोचेंगे बहुत, परन्तु इनके विचार व्यापक न होंगे, दृष्टि संकुचित रहेगी। काम भी करेंगे परन्तु स्वार्थ की उस व्यापक व्याख्या को न समझ सकेंगे, जिसके भीतर विश्वहित समा जाता है। थोड़ासा धक्का लगते ही इनका कार्य स्वप्न की तरह टूट जायगा और ये चौंक पड़ेंगे और कोई दूसरा स्वप्न लेने लगेंगे। स्वप्न की तरह

इनके कार्य चञ्चल और निष्फल होते हैं।

इन्हें ज्ञान तो होता है पर सच्चा नहीं होता। फलाफल के विचार में इनकी दृष्टि दूर तक नहीं जाती। कोई सेवा करेंगे तो तुरन्त ही विशाल फल चाहेंगे। तुरन्त फल न मिला तो सेवा छोड़ बैठेंगे। अगर थोड़ा फल मिला तो भी उत्साह टूट जायगा और भागने की बात सोचने लगेंगे। बातों में खूब आगे रहेंगे परन्तु काम में पीछे। दूसरे को उपदेश देने में परम पंडित और स्वयं आचरण करने में पूरे कायर, और अपनी कायरता को छिपाने के प्रयत्न में काफी तत्पर।

अपनी शक्ति का वास्तविक उपयोग कैसे करना इसका ज्ञान इन्हें नहीं होता या बाबूनी ज्ञान होता है, विश्वास-प्राप्त सच्चा ज्ञान नहीं होता। अमुक तो करता नहीं है मैं क्यों करूं? व्याख्यान तो दे आता हूँ फिर संयम सेवा सहायता का क्या काम? मुझे क्या गरज पड़ी है? मैं बड़ा आदमी हूँ, मुझे मुफ्त में ही बड़प्पन और यश मिलना चाहिये। इस प्रकार की विचारधाराएँ इनके हृदय में उठा करतीं हैं जिनकी भँवरों में कर्मठता फँसी रहती है। कभी कभी इनकी कर्मठता जाग्रत भी हो जाती है तो स्वार्थ के कारण वह विपरीत दिशा में जाती है। बड़े बड़े दिग्विजयी सम्राट प्रायः इस श्रेणी के होते हैं।

सुप्तावस्था मनुष्य की वह अवस्था है जब मनुष्य का पांडित्य तो जाग्रत हो जाता है पर विवेक जाग्रत नहीं होता। इसलिये उसमें सच्चा स्वार्थत्याग नहीं आ पाता और जहां स्वार्थत्याग नहीं है, वहां संयम नहीं हो सकता। इस प्रकार यह पंडित होनेपर भी विवेकहीन असंयमी प्राणी है।

३ जाग्रत (जिग)—जीवन के वास्तविक विकास की यह प्रथम श्रेणी है। यहां मनुष्य का विवेक जाग्रत होता है, दृष्टि विशाल होती है, स्वप्न जगत को छोड़कर वह वास्तविक जगत में प्रवेश करता है। फिर भी इसमें कर्मठता नहीं होती या नाममात्र की होती है। पुराने जो संस्कार पड़े हैं वे इतने प्रबल होते हैं कि जानते समझते हुए भी यह कर्तव्य नहीं कर पाता। इस के लिये इसे पश्चात्ताप भी होता है। सुप्त की अपेक्षा इसमें यह विशेषता है कि यह अपने दोषों को और त्रुटियों को समझता है तथा स्वीकार करता है। उन्हें छुपाने की अनुचित चेष्टा नहीं करता। सुप्त श्रेणी का मनुष्य ऐसा विवेकी नहीं होता। वह अपनी त्रुटियों को गुण साबित करने की चेष्टा करेगा। कायरता को चतुराई या दूरदेशी कहेगा, इस प्रकार स्वयं धोखा खायगा या दूसरों को धोखा देगा। जब कि जाग्रत श्रेणी का मनुष्य ऐसा न करेगा।

वह मार्ग देखता है, मार्ग पर चलने की इच्छा भी करता है, पर अपनी शक्ति में पूर्ण विश्वास न होने से और संस्कारों से आई हुई स्वार्थवृत्ति की कुछ प्रबलता होने से कर्तव्य से विरत सा रहता है। परन्तु इसमें कषायों की प्रबलता नहीं रहती, अथवा वह प्रबलता नहीं रहती जैसी सामान्य मनुष्य में रहती है।

जाग्रत श्रेणी के मनुष्य के हृदय में एक प्रकार का असन्तोष सदा रहना चाहिये। जिसे वह कर्तव्य समझता है उसे वह कर नहीं पाता, इस बात का उसे असन्तोष या खेद रहना आवश्यक है। अगर उसे यह सन्तोष होजाय कि मैं आखिर समझता तो हूँ, नहीं कर पाता तो नहीं सही, जाग्रत श्रेणी का तो कहलाता हूँ यही क्या कम है, इस प्रकार का सन्तोष आत्मवञ्चकता और परवञ्चकता का सूचक है। ऐसी हालत में वह जाग्रत श्रेणी का न रहेगा सुप्त श्रेणी में चला जायगा।

जाग्रत श्रेणी का मनुष्य कर्तव्य की प्रेरणा होने पर इस तरह का बहाना कभी न बनायगा कि मैं तो जाग्रत श्रेणी का मनुष्य हूँ कर्तव्य करना मेरे लिये अनिवार्य नहीं है। वह कर्तव्य को लालच की दृष्टि से देखेगा और उसे पकड़ने का प्रयत्न करेगा। अधिक कुछ न बनेगा तो यथाशक्ति दान देगा। जो मनुष्य सचमुच जाग्रत

है वह उत्थित होने की कोशिश करता ही है।

बहुत से मनुष्य यह सोचा करते हैं कि मैं अपना अमुक कार्य करलूं फिर जनसेवा के लिये यों करूंगा और त्यों करूंगा। वे जीवन भर यह सोचते ही रहते हैं पर उनका अमुक काम पूरा नहीं हो पाता और उनका जीवन समाप्त होजाता है। यह ठीक है कि मनुष्य को परिस्थिति का विचार करना पड़ता है, साधन जुटाने पड़ते हैं, पहिले अपने पैरों पर खड़ा हो जाना पड़ता है पर साथ ही यह भी ठीक है कि ज्यों ज्यों उसका अमुक काम पूर्णता की ओर बढ़ता जाता है त्यों त्यों वह जनसेवा सम्बन्धी कर्तव्य मार्ग में भी बढ़ता जाता है। जब तक उसका स्वार्थ पूरा न हो जाय तब तक वह कर्तव्य का योग्य मात्रा में श्रीगणेश ही न करे तो ये जाग्रत श्रेणी के मनुष्य के चिह्न नहीं हैं किन्तु सुप्त श्रेणी के चिह्न हैं। जाग्रत श्रेणी का मनुष्य 'न नव मन तेल होय न राधा नाचे' की कहावत चरितार्थ नहीं करता। वह ज्यों ज्यों साधन बढ़ते जाते हैं त्यों त्यों कर्तव्य में भी बढ़ता जाता है। और इस प्रकार बहुत ही शीघ्र उत्थित श्रेणी में पहुँच जाता है। और फिर संलग्न बन जाता है।

बाट देखने की जिनको बीमारी हो गई है वे जीवन के अन्त तक कुछ काम नहीं कर पाते। क्योंकि उनका अमुक काम जबतक पूरा होता है तब तक जीवन के वे दिन निकल जाते हैं जिन दिनों कुछ करने का उत्साह रहता है। विघ्न बाधाओं का सामना करने की कुछ ताकत रहती है। अमुक काम पूरा करने तक उनमें बुढ़ापा आजाता है फिर 'गई बहुत, रही थोड़ी, की बात याद आने लगती है। इस समय किसी सेवा का कार्य शुरू करना और जीवन भर जो आदत पड़ी रही है उसके विपरीत चलना कठिन होता है। जो जाग्रत श्रेणी का मनुष्य है उसमें यह बाट देखने की बीमारी न होगी। वह अपनी शक्ति को जल्दी से जल्दी उपयोग में लाना चाहेगा।

सोता हुआ मनुष्य यदि जाग पड़े तो वह अवश्य उठने की चेष्टा करेगा। अगर उठने के लिये उसका प्रयत्न बन्द हो गया हो तो समझना चाहिये कि वास्तव में वह जागा ही नहीं है। इसी प्रकार यहां पर भी जाग्रत श्रेणी का मनुष्य उठने का अगर प्रयत्न न करे तो समझ लेना चाहिये कि वह जाग्रत नहीं है।

४ उत्थित (ब्रुट)– जो मनुष्य वास्तविक कर्मठ है, जनसेवा के मार्ग में आगे बढ़ा है, जनसेवा जिसके जीवनकी आवश्यकता बनगई है, वह उत्थित है। इसके पुराने संस्कार इतने प्रबल नहीं होते और न स्वार्थ-वासना इतनी प्रबल होती है कि उसके लिये वह कर्तव्य पर सर्वथा उपेक्षा कर सके। जनसेवा के लिये वह पूर्ण त्याग नहीं करता परन्तु मर्यादित त्याग अवश्य करता है। सेवा के क्षेत्र में वह महाव्रती नहीं है पर देशव्रती अवश्य है। जनसेवक होने से उसमें सदाचार भी आगया है। क्योंकि जो मनुष्य सदाचारी न हो वह सच्चा जनसेवक नहीं बन सकता। इस प्रकार इसमें पर्याप्त मात्रा में सदाचार भी है, त्याग भी है, निर्भयता भी है। जीवन के क्षेत्र में यही इसका उत्थान है।

जाग्रत श्रेणी का मनुष्य अपनी त्रुटियों को समझता भी था स्वीकार भी करता था परन्तु उन्हें यथेष्ट मात्रा में दूर नहीं कर पाता था, जब कि यह दूर कर पाता है। यह जाग्रत श्रेणी के मनुष्य की तरह दानादि तो करेगा पर उतने में ही इसके कर्तव्य की इतिश्री न हो जायगी किन्तु वह निर्भयता से सेवा के क्षेत्र में आगे बढ़ेगा।

५ संलग्न (सिलग)– यह साधु है। यह अधिक से अधिक देकर कम से कम लेता है। पूर्ण सदाचारी है। जनहित के सामने इसके ऐहिक स्वार्थ गौण हो गये हैं। यह अनावश्यक कष्ट नहीं सहता पर जनहित के लिये यथेष्ट कष्ट सहने के लिये तैयार रहता है। अपरिग्रही होता है। स्वार्थ के लिये धन संचय इसका लक्ष्य नहीं होता। जनसेवा के लिये इसका संचय होता है

यह साधु है। परिस्थिति के अनुसार परिव्राजक हो सकता है, स्थिरवासी हो सकता है, सन्यासवेषी हो सकता है गृहस्थवेषी हो सकता है, दाम्पत्य जीवन बिता सकता है, ब्रह्मचारी रह सकता है। वेष, आश्रम, स्थान का कोई नियम नहीं है। त्याग, निर्भयता, सदाचार, अपरिग्रहता और निस्वार्थता की यह मूर्ति होता है।

किसी दिन मानव-समाज का अगर सुवर्ण-युग आया तो मानव समाज ऐसे साधुओं से भर जायगा। उस समय शासन-तन्त्र नाम के लिये रहेगा। उसकी आवश्यकता मिट जायगी। असंयम और स्वार्थिता ढूंढ़े न मिलेगी।

संलग्न श्रेणी का मनुष्य पाप का अवसर आने पर भी पाप नहीं करता। बड़े बड़े प्रलोभनों को भी दूर कर देता है। उसके ऊपर शासन करने की आवश्यकता नहीं होती। अगर उसका कोई गुरु हो तो वह गुरु के शासन में रहता है परन्तु इसके लिये उसे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसकी साधुता स्वभाव से ही उसे शासन के बाहर नहीं जाने देती। पथ-प्रदर्शन के लिये वह सूचना ग्रहण करता है परन्तु उसमें असंयम नहीं होता। कदाचित अज्ञान सम्भव है-पर असयम नहीं।

६ योगी (जिम्म)-योगी अर्थात् कर्मयोगी। जीवन का यह आदर्श है। सदाचार, त्याग, निःस्वार्थता इसमें कूट कूट कर भरी रहती है। यह विपत्ति और प्रलोभनों से परे है। संलग्न श्रेणी का मनुष्य विपत्ति से ठिठकसा जाता है। अपयश से घबरा सा जाता है। पर योगी के सामने यह परिस्थिति नहीं आती। वह यश अपयश मानापमान की कोई पर्वाह नहीं करता। फलाफल की भी पर्वाह नहीं करता किन्तु कर्तव्य किये चला जाता है। असफलता भी उसे निराश नहीं कर सकती। वह घर में हो या वन में हो, गृहस्थ हो या संन्यासी हो, पर परमसाधु है, स्थितप्रज्ञ है, अर्हंत है, जिन है, जीवन्मुक्त है, वीतराग है, आप्त है। कोई उसे पहिचाने या न पहिचाने इसकी वह पर्वाह नहीं करता।

उपायों साधनों और परिस्थितियों पर वह विचार करता है इसलिये उसे सविकल्प कह सकते हैं, परन्तु कर्तव्य मार्ग में दृढ़ रहने की दृष्टि से वह निर्विकल्प है। शंका और अविश्वास उसके पास नहीं फटकने पाते। सत्य और अहिंसा के सिवाय वह किसी की पर्वाह नहीं करता। जनहित की पर्वाह करता है किन्तु वह सत्य अहिंसा की पर्वाह में आजाती है। यह जीवन की परमोत्कृष्ट दशा है जब समाज ऐसे योगियों से भर जायगा तब वह हीरक युग होगा।

कर्तव्य मार्ग में कर्मठता ही मनुष्यता की कसौटी है इस दृष्टि से यहां छः पद बनाये गये हैं। जिस समय मनुष्य-समाज प्रसुप्त श्रेणी के मनुष्यों से भरा रहता है उस युग को मनुष्य का मृत्तिका युग (मिट्टी युग) (मीत हूलो) कहना चाहिये। जब समाज सुप्तों से भरा रहता है तब उसे उपल युग या पत्थर युग (खुड हूलो) कहना चाहिये। जब मनुष्य समाज जाग्रतों से भर जायगा तब उसे धातु युग (मिंक हूलो) कहेंगे और जब उत्थित श्रेणी के मनुष्यों से भर जायगा तब उसे रजत युग (बाहाम हूलो) कहेंगे। जब संलग्न श्रेणी के मनुष्यों से भर जायगा तब सुवर्ण युग (पीताम हूलो) कहेंगे और जब योगियों से मानव समाज भरा हुआ होगा तब वह हीरक युग (सोचाम हूलो) कहलायगा। विकास की यह चरम सीमा है। यही वैकुण्ठ है, मुक्ति है।

भौतिक दृष्टि से मनुष्य किसी भी युग में आगया हो परन्तु आत्मिक दृष्टि से मनुष्य अभी पत्थर युग में या मिट्टी युग में से गुजर रहा है। हां, संलग्नों की संख्या भी है और योगी भी हैं परन्तु इतनी सी संख्या से सुवर्णयुग या हीरकयुग नहीं आजाता, इसके लिये उनकी बहुलता चाहिये। वह कब आयगा कह नहीं सकते पर उस दिशा में हम जितने ही आगे बढ़ें कर्तव्य पदों पर चढ़ने की हम जितनी अधिक कोशिश करें, उतना ही अधिक हमारा कल्याण है।

५- अर्थजीवन (टेयो जिवो)

छः भेद

यद्यपि समस्त प्राणी सुखार्थी हैं परन्तु दूसरों की पर्वाह न करके केवल अपने सुख के लिये हाय हाय करने से कोई सुखी नहीं होपाता इसलिये अधिक से अधिक स्वपर कल्याण ही जीवन का ध्येय है। यह बात ध्येयदृष्टि अध्याय में विस्तार से बताई जाचुकी है। इस स्वार्थ परार्थ की दृष्टि से जो जीवन अधिक से अधिक स्वपरकल्याणकारी होगा वह जीवन उतना ही महान है। इस अपेक्षा से जीवन की छः श्रेणियाँ (छुंजीवो) बनती हैं— १-व्यर्थस्वार्थी २-स्वार्थी ३-स्वार्थप्रधान ४-समस्वार्थी ५-परार्थप्रधान ६-विश्वहितार्थी।

इनमें पहिले दो जघन्य (कत) बीच के दो मध्यम (कूक) और अन्त के दो उत्तम (सत) श्रेणी के हैं।

१-व्यर्थस्वार्थी (मुगलुभ)- जिस स्वार्थ का वास्तव में कोई अर्थ नहीं है ऐसे स्वार्थ के लिये जो अन्धे होकर पाप करने को उतारू होजाते हैं वे व्यर्थस्वार्थी हैं। शेर के आगे मनुष्य को छोड़कर उस मनुष्य की मौत देखकर प्रसन्न होना व्यर्थस्वार्थीपन है। पहिले कुछ उच्छृंखल राजा लोग ऐसे व्यर्थस्वार्थी हुआ करते थे। आज भी नाना रूप में यह व्यर्थस्वार्थीपन पाया जाता है। जिसमें किसी इन्द्रियों को तृप्ति नहीं मिलती सिर्फ मन की कल्पना ही तृप्त होती है वह व्यर्थस्वार्थीपन है।

प्रश्न—जब लोग दूसरों का मज़ाक उड़ाते हैं तब इससे उनका कोई लाभ तो होता ही नहीं है इसलिये यह व्यर्थस्वार्थीपन कहलाया और मज़ाक करनेवाले व्यर्थस्वार्थी कहलाये। इसलिये जीवन में हास्य विनोद को कोई स्थान ही न रहा।

उत्तर—विनोद (हशो) चार तरह का होता है १ सुप्रीतिक २ शैक्षणिक, ३ विरोधक, ४ रौद्र। जिस विनोद में सिर्फ प्रेम का प्रदर्शन किया जाता है, जिसमें द्वेष अभिमान आदि प्रगट नहीं होते वह सुप्रीतिक (सुलच) है। इसका ध्येय मनबहलाव और प्रेमप्रदर्शन है। इसमें जिसकी हँसी की जाती है वह भी खुश होता है और जो हँसी करता है वह भी खुश होता है।

जो विनोद किसी की भूल बताकर उसका सुधार करने की नियत से किया जाता है वह शैक्षणिक (बोजज) है। जैसे किसी शिकारी से कहा जाय कि भाई तुम तो जानवरों के महाराजा हो, शेर से सब जानवर डरते हैं, इसलिये वह जानवरों का राजा है तुम से शेर भी डरता है इसलिये तुम जानवरों के महाराजा हो। क्यों जी, तुम्हें अब पशुपति कहाजाय? इस विनोद में द्वेष नहीं है किन्तु शिकारी को शिकार से छुड़ाने की भावना है। यह शैक्षणिक है।

जिस विनोद में विरोध प्रगट किया जाता है वह विरोधक (फ़ुलुर) है। शैक्षणिक में सुप्रीतिक बराबर तो नहीं, फिर भी कुछ प्रेम का अंश रहता है, परन्तु विरोधक में उतना अंश नहीं रहता उसमें सिर्फ विरोध प्रगट करने, या उसकी गलती के लिये शाब्दिक दंड देने की भावना रहती है। शैक्षणिक की अपेक्षा विरोधक में कुछ कठोरता अधिक है। जैसे म. ईसा को क्रास पर लटकाते समय काँटों का मुकुट पहनाकर हँसी की गई कि आप तो शाहंशाह हैं। किसी शत्रु को तोप से उड़ाते समय कहना—चलो, तुम्हें आकाश की सैर करादें। ये विरोधक विनोद के उग्र दृष्टान्त हैं। पर साधारण जीवन में भी विरोधक विनोद के साधारण दृष्टान्त मिलते हैं।

रौद्र विनोद (क्रूर हशो) वहाँ है जहां अपना कोई स्वार्थ नहीं है, उससे विरोध भी नहीं है, उसका लाभ भी नहीं है, सिर्फ मनोविनोद के नामपर दूसरे के मर्मस्थल को चोट पहुँचाई जाती है, उसका दिल दुखाया जाता है। इसका एक दृष्टान्त, जिस समय ये पंक्तियाँ लिखी जा रही

थीं उसी समय मिला। सत्याश्रम की इमारत के काम में कुछ मजदूरिनें काम कर रहीं थीं उनके पास एक आदमी आया और पूछने लगा कि क्या यहाँ कुछ काम मिलेगा। काम यहाँ नहीं था पर सीधा जवाब न देकर वे उसकी हँसी उड़ाने लगीं-क्यों न मिलेगा ? तुम्हें न मिलेगा तो किसे मिलेगा। प्रेस मे काम करो, अच्छा पगार मिलेगा, आदि। इस हँसी में व्यर्थ ही एक गरीब के मर्मस्थल को चोट पहुंचाई गई। इस प्रकार की हंसी साधारण लोगों के जीवन में बहुत होती है पर यह अनुचित है। साइकिल आदि से गिरने पर भी दर्शक लोग हंसी उड़ाने लगते हैं, दैवी विपत्ति से भी लोग हंसी उड़ाने लगते हैं, अन्य विपत्ति आनेपर भी लोग हसी उड़ाने लगते हैं, यह सब रौद्र है। विनोद ऐसा होना चाहिये जिससे दोनों का दिल खुश हो। जीवन मे विनोद की जरूरत है जिसके जीवन में विनोद नहीं है वह मनहूस जीवन किसी काम का नहीं, पर विनोद सुप्रीतिक होना चाहिये। आवश्यकता-वश शैक्षणिक और विरोधक भी हो सकता है पर रौद्रपन कभी नहीं होना चाहिये। इससे व्यर्थस्वार्थीपन प्रगट होता है।

प्रश्न—विनोद सुप्रीतिक ही क्यों न हो उसमें कुछ न कुछ चोट तो पहुँचाई ही जाती है, तब हंसी-मजाक जीवन का एक आवश्यक अंग क्यों समझा जाय ? एक कहावत है 'रोग की जड़ खाँसी, लड़ाई की जड़ हाँसी' इसलिये हंसी तो हर हालत में त्याज्य ही है।

उत्तर—हंसी प्रसन्नता का चिह्न और प्रसन्नता का कारण है, साथ ही इससे मनुष्य दुःख भी भूलता है इसलिये जीवन में इसकी काफी आवश्यकता है। हाँ, हंसी मे चोट अवश्य पहुँचती है पर उससे दर्द नहीं मालूम होता बल्कि आनन्द आता है। जब हम किसी को शाबासी देने के लिये उसकी पीठ थपथपाते हैं तब भी उसकी पीठ पर कुछ चोट तो होती है पर उससे दर्द नहीं होता, इसी प्रकार सुप्रीतिक विनोद की चोट भी होती है विनोद लड़ाई की भी जड़ है किन्तु लड़ाई तभी होती है जब वह विरोधक या रौद्र हो। शैक्षणिक विनोद भी लड़ाई की जड़ हो जाता है जब पात्रापात्र का विचार न किया जाय। हमने किसी को सुधारने की दृष्टि से विनोद किया, किन्तु उसको इससे अपना अपमान मालूम हुआ तो लड़ाई हो जायगी। इसलिये शैक्षणिक विनोद करते समय भी पात्र अपात्र का और मर्यादा का विचार न भूलना चाहिये। सुप्रीतिक विनोद में भी इन बातों का विचार करना जरूरी है। हंसी विनोद प्राय. बराबरी वालों के साथ या छोटे के साथ किया जाता है। जिनके साथ अपना सम्बन्ध आदर पूजा का हो उनके साथ विनोद परिमित और अत्यन्त विवेक-पूर्ण होना चाहिये। जिसकी प्रकृति विनोद सह-सके विनोद का आदर करे उसके साथ विनोद करना चाहिये सब के साथ नहीं। विनोद भी एक कला है और बहुत सुन्दर कला है पर इसके दिखाने के लिये बहुत योग्यता मनोवैज्ञानिकता और हृदय शुद्धि की आवश्यकता है। इस प्रकार कलावान होकर जो विनोद करता है वह व्यर्थ-स्वार्थी से बिलकुल उल्टा अर्थात् विश्वहितार्थी है।

२ स्वार्थी (लुब्ध)-जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों के न्यायोचित स्वार्थ की भी पर्वाह नहीं करते वे स्वार्थी हैं। चोर बदमाश मिथ्या-भाषी विश्वासघातक हिंसक आदि सब स्वार्थी हैं। जगत के अधिकांश प्राणी स्वार्थी ही होते हैं। स्वार्थीपन ही सकल पापों की जड़ है।

प्रश्न—व्यर्थस्वार्थी और स्वार्थी में अधिक पापी कौन है ?

उत्तर—जगत में व्यर्थ स्वार्थीपनकी अपेक्षा स्वार्थीपन ही अधिक है, पर विकास की दृष्टि से व्यर्थस्वार्थीपन निम्न श्रेणी का है इसमें असंयम या पाप की मात्रा भी अधिक है। व्यर्थस्वार्थीपन स्वार्थीपन की अपेक्षा अधिक भयंकर है। स्वार्थी की गतिविधि से परिचित होना जितना कठिन है उससे कई गुणा कठिन व्यर्थस्वार्थी की गति-विधि से परिचित होना है।

प्रश्न—टोना टोटका अपशकुन आदि करनेवाले स्वार्थी हैं या अन्धस्वार्थी ? अपशकुन आदि निष्फल होने से यहाँ व्यर्थस्वार्थीपन ही मानना चाहिये ।

उत्तर—यह स्वार्थीपन ही है क्योंकि ये काम किसी ऐसे स्वार्थ के लिये किये जाते हैं जिसे व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। भले ही उस से सफलता न मिलती हो। इससे मूढ़ता या अज्ञान का विशेष परिचय मिलता है असंयम तो स्वार्थी के बराबर ही है। व्यर्थस्वार्थी अधिक असंयमी है।

स्वार्थी और व्यर्थस्वार्थी पूर्ण असंयमी और मूढ़ होते हैं ये भविष्य के विषय में भी कुछ सोच विचार नहीं करते, अपने स्वार्थीपन के कारण मानव समाज का सर्वनाश तक किया करते हैं भले ही इसमें उनका भी सर्वनाश क्यों न हो जाय।

स्वार्थीपन व्यक्तिगत रूप में भी होता है और सामूहिक रूप में भी होता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर जब अत्याचार या अन्याय करता है तब सामूहिक स्वार्थीपन होता है। दुनिया में अभीतक अधिकांश राष्ट्र और अधिकांश जातियों में ऐसा स्वार्थीपन भरा हुआ है। इसीलिये यह जगत् नरक के समान बना हुआ है। इससे बारी बारी से सभी व्यक्तियों सभी जातियों और सभी राष्ट्रों को पाप का फल भोगना पड़ रहा है।

३ स्वार्थ-प्रधान (लुम्भो-चिन्दर)—स्वार्थ प्रधान वे व्यक्ति हैं जो स्वार्थ की रक्षा करते हुए कुछ परोपकार के कार्य भी कर जाते हैं। ऐसे लोग दुनिया की भलाई की दृष्टि से दान या सेवा न करेंगे किन्तु उसमें यश मिलता होगा, पूजा मिलती होगी, तो दान करेंगे। स्वार्थ और परार्थ में परस्पर विरोध उपस्थित हो तो परार्थ को तिलाजलि देकर स्वार्थ की ही रक्षा करेंगे। परोपकार सिर्फ वहीं करेंगे जहां स्वार्थ को धक्का न लगता हो या जितना धक्का लगता हो उसकी कसर किसी दूसरे ढंग से निकल आती हो। एक तरह से ये हैं तो स्वार्थी ही, पर अन्तर इतना ही है कि जहां स्वार्थी परोपकार की बिलकुल पर्वाह नहीं करता वहां स्वार्थप्रधान व्यक्ति कुछ खयाल रखता है। अपना कुछ नुकसान न हो और परोपकारी बनने का गौरव मिलता हो तो क्या बुराई है ? यही इनकी विचारधारा रहती है। बड़े बड़े दानवीरों और जनसेवकों में से भी बहुत कम इस श्रेणी के ऊपर उठ पाते हैं। ये लोग स्वार्थ के लिये अन्याय भी कर सकते हैं।

४ समस्वार्थी (सम्मलम्भर)—जिनका स्वार्थ और परार्थ का पलड़ा बराबर है वे समस्वार्थी हैं। ये त्यागी नहीं होते दानी होते हैं पर अपने स्वार्थ का खयाल बराबर रखते हैं। फिर भी स्वार्थ-प्रधान की अपेक्षा ये काफी ऊँचे हैं क्योंकि भले ही इनके जीवन में परोपकार की मुख्यता न हो पर इतनी बात अवश्य है कि ये स्वार्थ के लिये किसी पर अन्याय न करेंगे। ये भले के लिये भले, और बुरे के लिये बुरे बनेंगे। स्वार्थ-प्रधान से इनमें यह बड़ा भारी अन्तर है। बाकी ये स्वार्थप्रधान के समान हैं।

५ परार्थप्रधान (भक्तोचिन्दर)—ये स्वार्थ की अपेक्षा परोपकार को प्रधानता देते हैं। जगत की सेवा के लिये सर्वस्व का त्याग कर जाते हैं यश अपयश की भी पर्वाह नहीं करते पर इसके बदले में वे इस जन्म में नहीं तो परलोक में कुछ चाहते हैं स्वर्ग आदि की आशा ईश्वर या खुदा का दर्बार इनकी नजरों में रहता है। ये परोपकारी हैं जिनका परोपकार करते हैं उनसे बदला भी नहीं चाहते, यह बात समस्वार्थी में नहीं होती, पर परलोक आदि का अवलम्बन न हो तो इनका परोपकार खड़ा नहीं रह सकता। ये सिर्फ सत्य या विश्वहित के भरोसे अपना परोपकारी जीवन खड़ा नहीं कर सकते। कोई न कोई तर्कहीन बात इनकी श्रद्धा का सहारा होती है। विश्वहित का मौलिक आधार इनका कमजोर होता है जिसे ये श्रद्धा से जकड़कर रखते हैं। बाकी जहां तक संयम त्याग आदि का सम्बन्ध है ये परार्थप्रधान

हैं। ये परार्थ को ही स्वार्थ का असली साधन मानते हैं।

६ विश्वहितार्थी (पुमभत्तर)–इनका ध्येय है–

जगतहित में अपना कल्याण।

यदि तू करता त्राण न जग का तेरा कैसा त्राण॥

ये विवेक और संयम की पूर्ण मात्रा पाये हुए होते हैं। विश्व के साथ इनकी एक तरह से अद्वैतभावना होती है। स्वार्थ और परार्थ की सीमाएँ इनकी इस प्रकार मिली रहती हैं कि उन्हें अलग अलग करना कठिन होता है। ये आदर्श मनुष्य हैं।

प्रश्न—कोई भी मनुष्य हो उसकी प्रवृत्ति अपने सुख के लिये होती है। जब हमें किसी दुःखी पर दया आती है और उसके दुःख दूर करने के लिये जब हम प्रयत्न करते हैं तब यह प्रयत्न परोपकार की दृष्टि से नहीं होता किन्तु दुःखी को देखकर जो अपने दिल में दुःख हो जाता है उस दुख को दूर करने के लिये हमारा प्रयत्न होता है, इस प्रकार अपने दिल के दुःख को दूर करने का प्रयत्न स्वार्थ ही है, तब स्वार्थ को निन्दनीय क्यों समझना चाहिये और परोपकार जीवन का ध्येय क्यों होना चाहिये?

उत्तर– परोपकार जीवनका ध्येय भले ही न कहा जाय किन्तु परोपकार अगर स्वार्थ का अंग बन जाय और ऐसा स्वार्थ जीवन का ध्येय हो तो परोपकार जीवन का ध्येय हो ही गया। असल बात यह है कि यहां जो अर्थ जीवन के छः भेद किये गये हैं वे असल में स्वार्थ के छः रूप हैं। कोई व्यर्थस्वार्थीपन या स्वार्थीपन को स्वार्थ समझते हैं कोई विश्वहितार्थिता को स्वार्थ समझते हैं। स्वार्थ के छः भेदों का क्रम उत्तरोत्तर उत्तमता की दृष्टि से यहां किया गया है। जहां पर का दुःख अपना दुःख बनता है अपना दुःख दूर करना परदुख का दूर करना हो जाता है ऐसा स्वार्थ परम स्वार्थ भी है और परम परार्थ भी। परन्तु स्वार्थ के अन्य खराब रूप भी हैं इसलिये इस उत्तम स्वार्थ को परार्थ शब्द से कहते हैं क्योंकि परार्थ भी उस स्वार्थ की दूसरी बाजू है। और उसी ने इस स्वार्थ को उत्तम बनाया है इसलिये उसे इसी नाम से अर्थात् परार्थ नाम से कहना उचित समझा जाता है। इसमें स्पष्टता अधिक है।

स्वार्थ के जो रूप एकपक्षी हैं या परार्थ के विरोधी हैं उन में परार्थ का अंश न होने से केवल स्वार्थरूप होने से उन्हें स्वार्थ शब्द से कहा जाता है। निस्वार्थ जीवन में ऐसे ही स्वार्थी जीवन का निषेध किया जाता है। जिनने विश्वसुख को आत्मसुख रूप समझ लिया है वे वास्तव में श्रेष्ठस्वार्थी या परार्थी हैं। स्वार्थ और परार्थ एक ही सिक्के के दो बाजू हैं। इस अद्वैत को जिसने जीवन में उतार लिया उसका जीवन ही आदर्श जीवन है।

६–प्रेरणा जीवन (आरो जिवो)

(पाच भेद)

मनुष्य मनुष्यता के मार्ग में कितना आगे बढ़ा हुआ है इसका पता इस बात से भी लगता है कि उसे कर्तव्य करने की प्रेरणा कहाँ कहाँ से मिलती है। इस दृष्टि से जीवन की पाच श्रेणियाँ (थुंजीपो) बनती हैं।

१ व्यर्थप्रेरित, २ दंडप्रेरित, ३ स्वार्थ-प्रेरित, ४ संस्कारप्रेरित, ५ विवेकप्रेरित।

१ व्यर्थप्रेरित (नको गेआर)–जो प्राणी बिलकुल मूढ़ हैं जिनका पालन पोषण अच्छे संस्कारों में नहीं हुआ, जिन्हें न दंड का भय है न स्वार्थ की समझ, न कर्तव्य का विवेक, इस प्रकार जिनकी दृढ़ता अखंड है वे व्यर्थप्रेरित हैं।

यह एक विचित्र बात है कि विकास और अविकासकी चरमसीमा प्रायः शब्दोंमें एकसी होजाती है। जिस प्रकार कोई योगी चरम विवेकी ज्ञानी संयमी मनुष्य दंड से भीत नहीं होता, स्वार्थ के चक्कर में नहीं पड़ता, कोई रूढ़ि उसे नहीं बाँधपाती उसी प्रकार इस व्यर्थप्रेरित मनुष्य को न तो दंड का भय है, न स्वार्थ का विचार, न संस्कारों की छाप, बिलकुल निर्भय निर्द्वन्द होकर वह अपना

जीवन व्यतीत करता है। यह जड़ता की सीमा पर है। और योगी विवेक की सीमापर है। जिस प्रकार शराब आदि के नशे में चूर मनुष्यपर दण्ड आदि का भय असर नहीं करता पर इस निर्भयता में और सत्याग्रही की निर्भयता में अन्तर है उसीप्रकार व्यर्थप्रेरित मनुष्य की निर्भयता और योगी की निर्भयता में अन्तर है। व्यर्थप्रेरित मनुष्य ऐसा जड़ होता है कि, उसे मारपीटकर रास्तेपर चलाना चाहो तो भी नहीं चलता, उसके स्वार्थ के विचार से उसे समझाना चाहो तोभी नहीं समझता, उसको अच्छी संगति में रखकर सुधारना चाहो तो भी नहीं सुधरता, उसे पढ़ा लिखाकर तथा उपदेश देकर मनुष्य बनाना चाहो तोभी शैतान बनता है, यह व्यर्थप्रेरित मनुष्य है। इसकी पशुता चरमसीमापर है।

२ दंडप्रेरित (डेंचो गेआर)—जो आदमी कानून के भय या दण्ड के भय से सीधे रास्ते पर चलता है वह दंडप्रेरित मनुष्य है इसमें पूरीपूरी पशुता है।

जबतक मनुष्य में पशुता है तबतक दंड की आवश्यकता रहेगी ही। समाज से दंड या कानून तभी हटाया जा सकता है जब मनुष्यसमाज इतना सुसंस्कृत बन जाय कि अपराध करना असम्भव माना जाने लगे। वह स्वर्णयुग जब आयगा तब आयगा परन्तु जबतक वह युग नहीं आया है तबतक इस बात की कोशिश अवश्य होते रहना चाहिये कि समाज में दंडप्रेरित मनुष्य कम से कम हों।

दंड या कानून के भय से जो काम होता है वह न तो स्थायी होता है न व्यापक। कानून तो बड़े बड़े दिखावटी मामलों में ही हस्तक्षेप कर सकता है और उसके लिये काफी प्रबल प्रमाण उपस्थित करना पड़ते हैं। फीसदी अस्सी पाप तो कानून की पकड़ में ही नहीं आसकते और जो पकड़ में आसकते हैं उनमें भी बहुत से पकड़ में नहीं आते। कानून तो सिर्फ इसके लिये है कि निरंकुशता सीमातीत न हो जाय। जो सिर्फ दंड से डरते हैं उनको अंकुश में रखने के लिये राष्ट्र की बड़ी शक्ति खर्च होती है, फिर भी मौका मिलते ही वे कोई भी पाप करने को उतारू हो-जाते है। उनमें मनुष्यता का अंश नहीं आने पाया है।

कोई आदमी जानवर है या मनुष्य, इसका निर्णय करना हो तो यह देखना चाहिये कि वे दंड से प्रेरित होकर उचित कार्य करते हैं या अपनी समझदारी से प्रेरित होकर। पहिली अवस्था में वे मनुष्याकार जानवर हैं दूसरी अवस्था में मनुष्य।

किसी किसी मनुष्य की यह आदत रहती है कि जब उन्हें दस पाँच गालियाँ देकर रोको तभी वे उस रोक को जरूरी रोक समझते हैं नहीं तो उपेक्षा कर जाते हैं। जो सरल और नम्र सूचनाओं पर ध्यान नहीं देता और वचन या तन से ताडित होने पर ध्यान देता है वह जानवर है।

जिस समाज में दंडप्रेरितों की संख्या जितनी अधिक होगी वह समाज उतना ही हीन और पतित है। इसी प्रकार जिस मनुष्य में दंड-प्रेरितता जितने अंश में है, वह उतने ही अंश में पशु है।

प्रश्न—कभी कभी एक बलवान मनुष्य अत्याचार करने लगता है तब उसके अत्याचार के आगे एक समझदार को भी झुक जाना पड़ता है अथवा कुछ समय के लिये शान्त हो जाना पड़ता है, इसीप्रकार एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्र पर पशुबल के आधार पर विजय पालेता है तब एक सज्जन को भी झुककर चलना पड़ता है क्या पराधीन राष्ट्रों को और पीड़ित मनुष्यों को पशु कोटि में रक्खा जाय।

उत्तर—पशुबल से विवश होकर अगर कभी हमें अकर्तव्य करना पड़े तो इतने से ही हम पशु न हो जायँगे। पशु होने के लिये यह आवश्यक है कि हम पशुबल से विवश होकर अकर्तव्य को कर्तव्य समझने लगें। अगर हम गुलामी को गौरव समझते हैं, अत्याचारियों की

दिलसे तारीफ करते हैं तो मनुष्य होकर भी पशु हैं।

परिस्थिति से विवश होकर हमें कभी कभी इच्छाके विरुद्ध काम करना पड़ता है। पर प्रेरित-जीवन का यह प्रकरण इसलिये नहीं है कि तुम्हारे अकार्यों की जांच करे। यहां तो यह बताया जाता है कि तुम भले काम किसकी प्रेरणा से करते हो? इससे तुम्हारी समझदारी और संयम की जांच होती है। किसी के दबाने से जब कोई अनुचित कार्य करना है तब उसकी निर्बलता का विशेष परिचय मिलता है। यद्यपि निर्बलता में भी अमुक अंश में असंयम है पर उसमें मुख्यता निर्बलता की है। पशुता का सम्बन्ध निर्बलता से नहीं किन्तु अज्ञान और असंयम से है।

३ स्वार्थप्रेरित (लुभो गे श्रार)-स्वार्थप्रेरित वह मनुष्य है जिसमें समझदारी आगई है और जो दीर्घदृष्टि से अपने स्वार्थ की रक्षा की बात समझता है। दंड-प्रेरित नौकर तब काम करेगा जब उसको फटकारा जायगा, गाली दीजायगी, पर स्वार्थप्रेरित नौकर यह सोचेगा कि अगर मैं मालिक को तुग न करूंगा, उनको बोलने को जगह न रक्खूंगा, उनकी इच्छा से अधिक काम करूंगा तो मेरी नौकरी स्थायी होगी, तरक्की होगी और आवश्यकता पर मेरे साथ रियायत की जायगी। इस प्रकार वह भविष्य के स्वार्थ पर विचार करके कर्तव्यमें तत्पर रहता है। दंडप्रेरित की अपेक्षा वह मालिक को अधिक आराम पहुँचाता है और स्वयं भी अधिक निश्चिन्त और प्रसन्न रहता है, इसका अपमान भी कम होता है।

एक दूकानदार इसलिये कम नहीं तौलता कि मैं पुलिस में पकड़ा जाऊंगा तो वह दंडप्रेरित है पर दूसरा इसलिये कम नहीं तौलता कि इस से उसकी साख मारी जायगी, लोग विश्वास नहीं करेंगे, दूकान कम चलेगी आदि, तो वह स्वार्थ-प्रेरित है। दंड-प्रेरित की अपेक्षा स्वार्थप्रेरित-बेईमानी कम करेगा इसलिये यह श्रेष्ठ है। बहुत से लोग भीतर से संयमी न होने पर भी व्यापार में ईमानदारी का परिचय देते हैं जिससे साख बनी रहे इससे वे स्वयं भी लाभ उठाते हैं और दूसरों को भी निश्चिन्त बनाते हैं इसलिये दंड-प्रेरित की अपेक्षा स्वार्थप्रेरित श्रेष्ठ है।

एक देश में दो जातियाँ हैं वे नाममात्र के कारण से आपस में लड़ती हैं, लड़ाई तभी रुकती है जब कोई तीसरी शक्ति या सरकार डंडे के बल पर उन्हें रोक रखती है। ऐसी जातियों में दंडप्रेरितता अधिक होने से कहना चाहिये कि पशुता अधिक है। पर जब वे यह विचार करतीं हैं कि दोनों की लड़ाई से दोनों का ही नुकसान हैं। हमारे पांच आदमी मरे और उसके बदले में दूसरों के हम दस आदमी भी मारें तो इससे हमारे पाच जी न उठेंगे और आपस में लड़ने से कोई भी तीसरी शक्ति हम दोनों को गुलाम बनी लेगी।

इस प्रकार के विचार से वे दोनों जातियाँ मिलकर रहें तो यह उनकी स्वार्थप्रेरितता होगी जो कि दंडप्रेरितता की अपेक्षा श्रेष्ठ है। इसमें पशुता नहीं है और मनुष्यताका अंश आगया है।

४ संस्कारप्रेरित (ढम्गो गे श्रार)— संस्कार-प्रेरित वह मनुष्य है जिसके दिलपर अच्छे कार्यों की छाप ऐसी मजबूत पड़ गई है कि अच्छे कार्य को भंग करने का विचार ही उसके मन में नहीं आता। अगर कभी ऐसा मौका आता भी है तो उसका हृदय रोने लगता है, बहिन भाई के सम्बन्ध की पवित्रता संस्कारप्रेरितता का रूप है। स्वार्थप्रेरितता की अपेक्षा संस्कारप्रेरितता इसलिये श्रेष्ठ है कि संस्कारप्रेरित मनुष्य स्वार्थ को धक्का लगने पर भी अपने सत्कर्तव्य को नहीं भूलता—अन्याय करने को तैयार नहीं होता।

किसी देश में अगर दो जातियाँ हैं और वे समान स्वार्थ के कारण मिल गई हैं तो दंड-प्रेरित की अपेक्षा यह सम्मिलन अच्छा होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसका वह सम्मिलन स्थायी है। किसी भी समय कोई तीसरी शक्ति उनमें से किसी एक का बलिदान करके

दूसरों को पुष्ट करना चाहे तो उनके स्वार्थ में अन्तर पड़ने से वह सम्मिलन नष्ट हो जायगा। वह देश अशान्ति और निर्बलता का घर बनकर नष्ट होजायगा, गुलाम बन जायगा। पर अगर वह सम्मिलन संस्कार-प्रेरित हो, दोनों में सांस्कृतिक एकता होगई हो, तो तीसरी शक्ति को उनके अलग अलग दो टुकड़े करना असम्भव होजायगा। संस्कृति, स्वार्थ की पर्वाह नहीं करती, वह तो स्वभाव बन जाती है जो स्वार्थ नष्ट होनेपर भी विकृत नहीं होती।

प्रश्न—भारतवर्ष में संस्कारों का बहुत रिवाज है, बच्चा जब गर्भ में आता है तभी से उसके ऊपर संस्कारों की छाप लगना शुरू हो जाती है। सोलह संस्कार तो प्रसिद्ध ही हैं पर इससे भी अधिक संस्कार इस देश में होते हैं पर इन संस्कारों के होनेपर भी कुछ सफलता दिखाई नहीं देती। इसलिये संस्कारप्रेरितता का कोई विशेष प्रयोजन नहीं मालूम होता।

उत्तर—संस्कार के नाम से जो मन्त्रजाप किया जाता है वह संस्कार नहीं है। आज तो वह बिलकुल निकम्मा है परन्तु जिस समय उसका कुछ उपयोग था उस समय भी सिर्फ यही कि बच्चे के अभिभावकों को बच्चेपर अमुक संस्कार डालने की जिम्मेदारी का ज्ञान होजाय। ज्ञान संयम विनय आदि के संस्कार मिनिट दो मिनिट के मंत्र जाप से नहीं पड़ सकते उस के लिये वर्षों की तपस्या या साधना चाहिये।

संस्कार एक तरह की छाप है जो बारबार हृदयपर लगने से दृढ़ता के साथ अंकित होजाती है। अमुक विचारों का हृदय में बारबार चिन्तन कराने से, उसको कार्यपरिणत करने से, वैसे ही दृश्य बारबार सामने आने से हृदय उन विचारों में तन्मय होजाता है। अनुभव से, तर्क से, महान् पुरुषों के वचन अर्थात् शास्त्र से, और सत्संगति से भी यह तन्मयता आती है। इसप्रकार जो संस्कार पड़ते हैं वे मनुष्य का स्वभाव बन जाते हैं इसका परिणाम यह होता है कि किसी निर्दिष्ट मार्गपर मनुष्य सरलता से जा सकता है। एक मनुष्य कठिन अवस्था में भी मांस नहीं खाता, काम-पीड़ित होनेपर भी माता बहिन बेटी के विषय में संयम रखता है यह सब संस्कारका ही फल है। स्वार्थ और कानून (दंड) जहाँ रोक नहीं कर पाता वहाँ संस्कार रोक कर जाता है। संस्कार के अभाव में कभी कभी बुद्धि से जँचे हुए अच्छे काम करने में भी मनुष्य हिचकने लगता है। एक मनुष्य सर्वधर्म-समभाव को ठीक समझने पर भी उसे व्यवहार में लाने में कुछ लज्जित सा या हिचकिचाता-सा रहता है इसका कारण संस्कार का अभाव है। सैकड़ों बड़े बड़े काम ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य संस्कार के वश में होकर बिना किसी विशेष प्रयत्न के सरलता से कर जाता है और सैकड़ों छोटे छोटे काम ऐसे हैं जिन्हें मनुष्य इच्छा रहने पर भी नहीं कर पाता। संस्कार का लाभ यह है कि मनुष्य बुद्धि पर विशेष जोर दिये बिना कोई भी काम कर सकता है या बुरे कामसे बचा रह सकता है। मनुष्य आज पशु से जुदा हुआ है उसका कारण सिर्फ बुद्धि-वैभव ही नहीं है किन्तु संस्कारों का प्रभाव भी है।

मनुष्य के हृदय में जो जानवर मौजूद है उसको दूर करने के लिये ये तीन उपाय हैं संस्कार, स्वार्थ और दंड। पहिला व्यापक है, निरुपद्रव है और स्थायी है; इस प्रकार सात्विक है उत्तम है। दूसरा राजस है मध्यम है। तीसरा तामस है, जघन्य है। मानव हृदय का पशु जब तक मरा नहीं है तब तक तीनों की आवश्यकता है। परन्तु जब तक मनुष्यता संस्कार का रूप न पकड़ले तब तक मनुष्य चैन से नहीं सो सकता। पैरों के नीचे दबा हुआ सर्प कुछ कर सके या न कर सके पर वह कुछ कर न सके इसके लिये हमारी जितनी शक्ति खर्च होती है, प्रतिक्षण हमें जितना चौकन्ना रहना पड़ता है, उससे किसी तरह जिन्दा तो रहा जा सकता है पर चैन नहीं मिलती। दंड या कानून का उपाय ऐसा ही है।

मानव हृदय के भीतर रहने वाली पशुता से अपनी रक्षा करने के लिये स्वार्थ का सहारा लेना

साँप के आगे दूध का कटोरा रख कर अपनी रक्षा करने के समान है। दूध के प्रलोभन में भूला हुआ सर्प काटेगा नहीं परन्तु वह छेड़खानी नहीं सह सकता और अगर किसी दिन उसे दूध न मिलेगा तब वह उच्छृंखल भी हो सकता है।

अगर सर्प के विषदंत उखाड़ लिये जायँ और वह पालतू भी बना लिया जाय तब फिर डर नहीं रह जाता। संस्कार के द्वारा मानव हृदय की पशुता की यही दशा होती है। इसलिये यही सर्वोत्तम मार्ग है।

छोटीसे छोटी बातसे लेकर बड़ीसे बड़ी बात तक इन तीनों की उपयोगिता की कसौटी हो सकती है। आप ट्रेन में जाते हैं, डब्बे में जगह जगह लिखा हुआ है कि 'थूको मत' थूंकनु नहीं, थुंकू नका (Do not Spit) इस प्रकार विविध भाषाओं में लिखा रहने पर भी यात्री डब्बे में थूकते हैं। दंड का भय उन्हें नहीं है। दंड देना कुछ कठिन भी है। हाँ वे यह सोचें कि हम दूसरे को तकलीफ देते हैं, दूसरे हमें तकलीफ देंगे, दूसरों का थूकना हमें बुरा मालूम होता है, हमारा दूसरों को होगा, इस प्रकार स्वार्थ की दृष्टि से वे विचार करें तब ठीक हो सकता है। पर हरएक में इतना गाम्भीर्य नहीं होता, बहुत से मनुष्य निकटदर्शी ही होते हैं। वे सोचते हैं कि अगले स्टेशन पर अपने को उतर ही जाना है फिर दूसरे थूका करें तो अपना क्या जाता है? इस प्रकार स्वार्थ उनके हृदय की पशुता को नहीं मार पाता है। परन्तु जब यही बात संस्कार के द्वारा स्वभाव में परिणत हो जाती है तब मनुष्यत्व चमक उठता है, वह जाग्रत रहता है और बिना किसी विशेष प्रयत्न के काम करता है। यह तो एक छोटासा उदाहरण मात्र है, पर इसी दृष्टि से राष्ट्रकी बड़ी बड़ी समस्याएँ भी हल करना चाहिये। किसी देश में विविध जातियों या विविध सम्प्रदायों के बीच में अगर संघर्ष होता हो तो उसे शान्त करने के लिये संस्कार, स्वार्थ और दंड में से पहिला मार्ग ही श्रेष्ठ है। समन्वय या ऐक्य का आधार संस्कृति होना चाहिये। दंड या स्वार्थ के आधार पर खड़ा हुआ ऐक्य पूर्ण या स्थायी नहीं हो सकता।

दंड से शान्ति होना कठिन है बल्कि ऐसे देशव्यापी जातीय मामलों में तो असंभव ही है। क्योंकि दंड-नीति का पालन कराना जिनके हाथ में है वे ही तो झगड़नेवाले हैं। वादी और प्रतिवादी न्यायाधीश का काम न कर सकेंगे। ऐसी हालतमें कोई तीसरी शक्ति की जरूरत होगी। और वह तीसरी शक्ति दोनों का शिकार करने लग जायगी। इस प्रकार उस तीसरी शक्ति के साथ दोनों का एक नया ही संघर्ष चालू हो जायगा।

बात यह है कि दंड नीति की ताकत इतनी नहीं है कि वह प्रेम या एकता करा सके। अगर उसे ठीक तरह से काम करने का अवसर मिले तो इतना तो हो सकता है कि वह अत्याचार अन्याय का बदला दिलाने में सफल हो जाय। इससे अन्याय अत्याचारों पर अंकुश भी पड़ सकता है पर उन्हें रोक नहीं सकता और प्रेम करने के लिये विवश कर सकना तो उसकी ताकत के हर तरह बाहर है।

साथ ही जहा संस्कृति में एकता नहीं है वहां कानून को न्याय के अनुसार काम करने का अवसर ही नहीं मिलता इसलिये प्रेम पैदा करने की बात तो दूर, पर अन्याय अत्याचार को रोकने में भी वह समर्थ नहीं हो पाता। जहां जातीय द्वेष है जहां सांस्कृतिक एकता नहीं है वहां कानून की गति भी कुंठित हो जाती है।

ऐक्य और प्रेम में स्वार्थ भी कारण हो जाता है। हम तुम्हारे अमुक काम में मदद करें तुम हमारे अमुक काममें मदद करो इस प्रकार स्वार्थ का विनिमय भी कभी काम कर जाता है पर वह अल्पकालिक होता है और कभी कभी उसका अन्त बड़ा दयनीय होता है।

आज कल अनेक राष्ट्रों के बीच में जो सन्धियाँ होती हैं वे इसका पर्याप्त स्पष्टीकरण हैं। संधिपत्र की स्याही भी नहीं सूखपाती कि संधिका भंग शुरू हो जाता है। एक राष्ट्र आज किसी

राष्ट्र का जिगरी दोस्त बना बैठा है और दूसरे क्षण स्वार्थ की परिस्थिति बदलते ही वह उसपर गुर्राने लगता है। आज दोस्त बनकर कंधे से कंधा भिड़ाये हुए है कल शत्रु बनकर छाती पर संगीन तानने लगता है। स्वार्थ के आधार पर जो मैत्री या एकता होगी उसकी यही दशा होगी।

एकता शान्ति आदि के लिये श्रेष्ठ उपाय है संस्कार। स्वार्थ और दंड इसे सहायता पहुँचा सकते हैं परन्तु स्थायिता लानेवाला और स्वार्थ और दंड को सफल बनानेवाला संस्कार ही है। मानव-हृदयमें द्वैतका एक विचित्र भ्रम समाया हुआ है। व्यक्ति और ब्रह्मके बीचमें उसने ऐसी अनेक कल्पनाएँ कर रक्खी हैं जो व्यर्थ ही उसका नाश कर रही हैं। मनुष्यने जो नाना गिरोह बना रक्खे हैं उनमें कोई मौलिक असाधारण समानता नहीं है। हो सकता है कि मेरे गिरोहका एक आदमी लखपति बनकर मौज उड़ाता रहे और मैं सूखी रोटीके लिये तड़पता रहूँ और कदाचित दूसरे गिरोह का आदमी मुझे सहायता दे, सहानुभूति रक्खे।

एक गरीब हिन्दू और एक श्रीमान् हिन्दू की अपेक्षा एक गरीब हिन्दू और गरीब मुसलमान में सहानुभूति कहीं अधिक होगी फिर भी हिन्दू और मुसलमान सामूहिक रूपमें परस्पर द्वेष करेंगे। कैसा भ्रम है? भारतका एक विद्वान और इंग्लैंड का एक विद्वान परस्पर अधिक सजातीय है, कर्म से दोनों ही ब्राह्मण हैं पर एक विद्वान अंग्रेज भी दूर से दूर रहनेवाले मूर्ख से मूर्ख अंग्रेज को तो अपना समझेगा और भारत के विद्वान से घृणा करेगा। यह एक सांस्कृतिक भ्रम है जो योग्य संस्कृति के द्वारा मिट सकता है। लोगों के दिल पर जन्म से ही ऐसे संस्कार डाल दिये जाते हैं कि अमुक गिरोह के लोग तुम्हारे भाई के समान हैं और अमुक गिरोह के शत्रु के समान। आचार विचार की अच्छी और अनुकूल बातें भी कुसंस्कृति के द्वारा मनुष्य को बुरी और प्रतिकूल मालूम होने लगती हैं। जो दोष कुसंस्कारों पर अवलम्बित है वह सुसंस्कारों से ही अच्छी तरह जा सकता है।

जिस आदमी पर सच बोलने के संस्कार डाले गये हैं वह आवश्यकता होनेपर भी झूठ नहीं बोलता। सच झूठ के लाभालाभ का विचार किये बिना ही सच बोलता है, परन्तु जिसपर झूठ बोलने के कुसंस्कार पड़े हैं वह मामूली से मामूली कारणों पर भी झूठ बोलेगा, अनावश्यक झूठ भी बोलेगा, व्यक्तिगत असंयम के विषय में जो बात है सामूहिक असंयम के विषयमें भी वही बात है।

जिनको हमने पराया समझ लिया है उन की जरासी भी बात पर सिर फोड़ देंगे पर जिनको अपना समझ लिया है उनके भयंकर से भयंकर पापों पर भी नजर न डालेंगे। कुसंस्कारों के द्वारा आये हुए सामूहिक असंयम ने हमें गुणों का या सदाचार का अपमान करना सिखा दिया है और दोषों तथा दुराचार का सम्मान करने में निर्लज्ज बना दिया है। इन्हीं कुसंस्कारों का फल है कि मनुष्य मनुष्य में हिन्दू मुसलमानों का जाति-वैर बना हुआ है, छूताछूत का भूत सिर पर चढ़ा हुआ है, जातियों के नामपर हजारों जेलखाने बने हुए हैं, जिनमें सब का दम घुट रहा है। दंड इन्हें नहीं हटा पाता, स्वार्थ-सिद्धि का प्रलोभन भी इन से बचने के लिये मनुष्य को समर्थ नहीं बना पाता। संस्कार ही एक ऐसा मार्ग है जिससे इन रोगों को हटाने की आशा की जासकती है।

वैयक्तिक असंयम को दूर करने के लिये मनुष्य को ईमानदार बनाने के लिये सत्संगति और सुसंस्कारों की आवश्यकता है, यह बात निर्विवादसी है इस पर कुछ नई सी बात नहीं कहना है, पर सामूहिक असंयम को दूर करने के लिये सर्व धर्म-समभाव और सर्व-जाति-समभाव के संस्कारों की आवश्यकता है। यह बात संस्कार से अर्थात् समझा बुझाकर या अपने व्यवहार से दूसरों के हृदय पर अंकित कर देने से ही हो सकती है। राजनैतिक स्वार्थ के नाम

पर मनुष्य को इसके लिये उत्तेजित किया जा सकता है पर उत्तेजना अपने स्वभाव के अनुसार क्षणिक ही होगी।

जब लोगों के हृदय पर यह बात अंकित हो जायगी कि पूजा नमाज का एक ही उद्देश है एक ही ईश्वर के पास भक्ति पहुँचती है, सत्य और अहिंसा की सभी जगह प्रतिष्ठा है, प्रेम और सेवा को सबने अच्छा और आवश्यक कहा है, राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि सभी महापुरुष समाज के सेवक थे, इन सभी का आदर करना चाहिये, सभी से हम कुछ न कुछ अच्छी बातें सीख सकते हैं, समय समय पर सभी के खास गुणों की आवश्यकता होती है, तब दंड का जोर बताये बिना, राजनैतिक स्वार्थ या प्रलोभन बताये बिना स्थायी एकता हो जायगी। नाम से सम्प्रदाय भेद रहेगा पर उन सब के भीतर एक व्यापक धर्म होगा जो सब को एक बनायेगा। और यह भी सम्भव है कि सभी सम्प्रदाय किसी एक नये नाम के अन्तर्गत होकर अपनी विशेषता और विशेष नामों के साथ भी एक बन जायँ। जैसे वैदिक धर्म और शैव वैष्णव आदि सम्प्रदायों ने तथा आर्य और द्राविड़ी सभ्यताओं ने हिन्दू धर्म का नाम धारण कर लिया और इस बात की पर्वाह नहीं की कि हिन्दू नाम अवैदिक, अर्वाचीन और यवनों के द्वारा दिया गया है, इस प्रकार एक धर्म की सृष्टि होगई। उसी प्रकार हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी, सिक्ख आदि सभी सम्प्रदायों की और पंथों की एक संस्कृति बनना चाहिये। इस प्रकार सांस्कृतिक एकता हो जाने पर सम्प्रदाय के नाम पर चलने वाला जो सामूहिक असंयम है वह नामशेष हो जायगा।

कुसंस्कारों ने हमें नाममोही बना दिया है सुसंस्कारों के द्वारा हमारा नाममोह मर सकता है फिर तो हम बिना किसी पक्षपात के परस्पर में आदान प्रदान कर लेंगे और जिनके आदान प्रदान की आवश्यकता न होगी उनको दूसरों की विशेषता समझेंगे-घृणा न करेंगे।

दंड भी काम करे, लोगों के सामने समस्वार्थता के नाम पर भी मिलने की अपील की जाय, परन्तु हम भूल न जाँयँ कि हमें मनुष्य मात्र में सांस्कृतिक एकता पैदा करना है। सब की एक जाति और एक धर्म बनाना है। वह नैतिक धर्म होगा, प्रेम-धर्म होगा। वह मनुष्य जाति होगी सभ्य जाति होगी। हम दंड के भय से नहीं, भौतिक स्वार्थ के प्रलोभन से नहीं, लेकिन एक सुसंस्कृत मनुष्य होने के नाते प्रेम के पुजारी बनें, विश्वबन्धुत्व की मूर्ति बनें, जिससे हमारा संयम प्रेम और बन्धुत्व चतुराई या चाल न हो किन्तु स्वभाव हो और इसी कारण से उसमें अमरता हो।

इस प्रकार समाजमें संस्कार-प्रेरितोंका बहुभाग हो जाने से मानव समाज में स्थायी शान्ति हो जाती है और मनुष्य सभ्य तथा सुखी हो जाता है।

४ विवेक-प्रेरित-(अंको गेआर) विवेक-प्रेरित वह मनुष्य है जो अपने स्वार्थ की पर्वाह न करके, नये और पुराने की पर्वाह न करके, अभ्यास हो या न हो पर जो जनकल्याणकारी काम करता है। यद्यपि संस्कारों से मनुष्य श्रेष्ठ बन जाता है पर संस्कार के नाम पर ऐसे कार्य भी मनुष्य करता रहता है जो किसी जमाने में अच्छे थे पर आज उनसे हानि है। संस्कार प्रेरित मनुष्य उनको हटाने में असमर्थ है। पर जो विवेक-प्रेरित है वह उचित सुधार या उचित क्रांति के लिये सदा तैयार रहता है। इस प्रकार संस्कारों के द्वारा आई हुई सब अच्छी बातों को तो वह अपनाये रहता है और बुरी बातों को छोड़ने में उसे देर नहीं लगती है।

विवेक प्रेरित मनुष्य विद्वान हो या न हो पर बुद्धिमान, अनुभवी मनोवैज्ञानिक और निःपक्ष विचारक अवश्य होता है। इन्हीं विवेक प्रेरितों में से जो उच्च श्रेणी के विवेक प्रेरित होते हैं जिनकी निःस्वार्थता साहस और जनसेवकता

चढ़ी चढ़ी रहती है और जो कर्मयोगी होते हैं वे ही तीर्थंकर जिन बुद्ध अवतार पैगम्बर मसीह आदि बन जाते हैं। पैगम्बरों के विषय में जो यह कहा जाता है कि वे ईश्वर के दूत या सन्देशवाहक होते हैं उनकी यह ईश्वरदूतता और सन्देशवाहकता और कुछ नहीं है विशाल रूपमें उच्च श्रेणी की विवेकप्रेरितता ही है। विवेक-रूपी फरिश्ते से उन्हें पैगाम मिलता है।

निःस्वार्थता, बुद्धिमत्ता, विचारशीलता, मनोवैज्ञानिकता और अनुभवों के कारण मनुष्य में सदसद्विवेकबुद्धि जग पड़ती है। इस विवेक बुद्धि से वह भगवान सत्य का सन्देश सुन सकता है अर्थात् जनकल्याणकारी कार्यों का उचित निर्णय कर सकता है। यही ईश्वर प्रेरणा है। और विशाल परिमाण में होने पर यही पैगम्बरपन या सन्देशवाहकता है।

विवेक प्रेरित मनुष्य ही सब मनुष्यों मे उच्च श्रेणी का मनुष्य है। वह गरीब स गरीब भी हो सकता है या अमीर से अमीर भी। राजा भी होसकता है और रंक भी। यशस्वी भी होसकता है और यशहीन भी। गृहस्थ भी होसकता है और सन्यासी भी।

प्रेरितो के पाच भेदो से इस बात का पता लगता है कि कौन मनुष्य विकास की दृष्टि से किस श्रेणी का प्राणी है। पहिला स्वयं प्रेरित मनुष्य पशुओं से भी गया बीता है वह एक तरह का कीट (कीतक) है। दूसरा दंड प्रेरित पशु के समान (उत) है। तीसरा स्वार्थ प्रेरित अर्ध मनुष्य (शिकमान) है। चौथा संस्कार प्रेरित वास्तविक मनुष्य (मान) है। और पाँचवां विवेक प्रेरित पूर्णमनुष्य (दंकमान) है, फरिश्ता या देव (नन्दक) है।

७–जीविका जीवन (काजो जिवो)

मनुष्य अपनी जीविका किस प्रकार चलाता है इसपर से भी उसके जीवन की उत्तमता या अधमता का पता लगता है। बल्कि यह कहना चाहिये कि यह जीवन की एक बड़ी कसौटी है। जीविका के क्षेत्र में मनुष्य की मनुष्यता की करीब करीब पूरी परीक्षा होती है। इस दृष्टि से मानव-जीवन उत्तरोत्तर हीन ग्यारह श्रेणियों (विजीपो) में विभक्त होता है। इनमें पहिली उत्तमोत्तम (सोसत), २–३ री उत्तम (सत) ४–५–६–७ वीं साधारण (पौम) आठवीं अधम (कत) और ९–१०–११–१२ वीं अधमाधम (सोकत) हैं।

१– साधुता जीविका (शन्दं काजो) उत्तमोत्तम
२– तुला जीविका (सिमं काजो) उत्तम
३– निवृत्ति जीविका (खिन्नं काजो) ,,
४– शोषण जीविका (हर्प्प काजो) साधारण
५–उत्तराधिकारित्व जीविका (लेलंरीजंकाजो) ,,
६– मोघ जीविका (नकं काजो) साधारण
७– आश्रय जीविका (शुंडं काजो) ,,
८– भिक्षा जीविका (भिक्कं काजो) अधम
९– पाप जीविका (पापं काजो) अधमाधम
१०– ठग जीविका (चीटं काजो) ,,
११– चोर जीविका (चुरं काजो) ,,
१२– घात जीविका (गोवं काजो) ,,

जिस जीविका में जितनी अधिक सेवा और संयम है वह उतनी ही उच्च, और जिस जीविका में जितनी अधिकअ सेवा और असंयम है वह उतनी नीच जीविका है।

१ साधु जीविका-समाजोपयोगी अधिक से अधिक कार्य करना और निर्वाह के लिये कम से कम, या सेवा के मूल्यसे कम लेना साधु जीविका है। साधुदीक्षा लेलेना साधुजीविका नहीं है, किन्तु सेवा से कम लेना साधु जीविका है। यह जीविका कोई भी मनुष्य कर सकता है और साधुजीवी कहलासकता है। साधुदीक्षा लेकर यदि कोई

अधिक जनसेवा नहीं करता तो वह साधु कहला-कर भी भिक्षाजीवी मोघजीवी आदि कहला सकता है ठगजीवी आदि भी कहला सकता है। और साधुदीक्षा न लेने वाला मनुष्य भी अगर जगत को अपनी महान सेवाएँ देरहा है और उससे काफी कम लेरहा है तो वह साधुजीवी कहलासकता है। असली बात उसके द्वारा होने वाला लाभ है जो दुनिया को मिलता है।

२ तुला जीविका-जो अपनी सेवाएँ बदले के अनुसार देता है वह तुलाजीवी है। जीविका का यही मुख्य और व्यापक रूप है। दूकानदार, मजदूर, नौकरी पेशा करनेवाले, आदि यदि ईमा-नदारी से काम करे तो वे तुला जीविका करने वाले कहलायँगे।

३ निवृत्तिजीविका-जिनने जीवन में तीस चालीस वर्ष, काफी सेवा करली और अब वृद्ध होकर पेन्शन लेरहे हैं या उस समय बुढ़ापे के लिये जो धन सञ्चित करलिया था उससे गुजर कर रहे हैं, या पालपोसकर सन्तान को कमाऊ बनादिया है इसलिये सन्तान की कमाई से गुजर कर रहे हैं, ये सब निवृत्ति जीवी हैं।

४ शोषण जीविका-पूँजी, या पद आदि के द्वारा अपने श्रम या सेवा आदि के मूल्य से अधिक लाभ उठा लेना शोषण जीविका है। बड़े बड़े कारखानों वाले तो यह शोषण जीविका करते ही हैं पर छोटे छोटे लोग भी यह शोषण जीविका करते हैं। दूसरे को संकट में देखकर उससे उचित से अधिक दाम वसूल कर लेना भी शोषण जीविका है। यह काम साधारण स्थिति के धनी भी करलेते हैं। योग्यता और सेवाभाव न होते हुए भी गुट बनाकर गुट के बलपर राज्यमन्त्री आदि बनजाना, या चापलूसी आदि के बलपर कोई ऐसा पद प्राप्त करलेना जिसकी योग्यता अपने में न हो, न उसके अनुकूल सेवा देसकते हों, तो यह भी शोषण जीविका है।

५ उत्तराधिकारित्व जीविका- मातापिता आदि से उत्तराधिकारित्व में मिली हुई सम्पत्ति से गुजर करना उत्तराधिकारित्व जीविका है।

६ मोघजीविका-जीविका के लिये कुछ ऐसे काम करना जिससे समाज का हित नहीं है, कुतू-हल आदि के वश होकर समाज से कुछ मिल जाता है तो यह मोघजीविका है।

इसके उदाहरण में निश्चित नाम लेना कुछ कठिन है। किसी की दृष्टि में कोई कार्य बिलकुल व्यर्थ होने से मोघजीविका है, किसी की दृष्टि में नहीं है। हाथ देखकर भविष्य बताना, अशुभ ग्रहों की शान्ति के लिये पूजा अनुष्ठान आदि करना, शरीर कष्टों का प्रदर्शन करना, आदि किसी की दृष्टि में व्यर्थ कार्य हैं किसी की दृष्टि में आवश्यक या उपयोगी। इसलिये इसका निर्णय युग के अनुसार, वैज्ञानिकता की प्रगति और व्यापकता के अनुसार करना चाहिये।

७ आश्रयजीविका- शारीरिक असमर्थता आदि के कारण किसी के आश्रित रहना और उसकी सम्पत्ति से गुजर करना आश्रयजीविका है। अगर उसने थोड़ा बहुत कार्य किया भी, पर जितना वह लेता है उसके अनुरूप न किया, या ऐसा काम किया जिसके बिना कोई खास हानि नहीं थी अर्थात् करीब करीब ज्यों का त्यों काम चल सकता था तो ऐसा नाममात्र का काम करने वाला भी आश्रयजीवी कहलायगा।

इस प्रकार का जीवन बालकों के लिये उचित है।

दुर्दैवयोग से कोई अन्धा आदि होगया हो तो उसे क्षन्तव्य है।

सामर्थ्य रखते हुए भी आलस्यवश, प्रलो-भनवश, या गृहस्वामी संकोचवश कुछ कहता नहीं इसलिये पड़े रहना, आश्रयी बने रहना अपराध है।

पत्नी बाहर कमाने भले ही न जाती हो पर यदि वह गृहिणी के योग्य कर्तव्य करती है तो उसकी जीविका आश्रयजीविका नहीं है, किंतु

तुलाजीविका है। अथवा पति की जीविका जिस श्रेणी की हो उस श्रेणी की जीविका है। वास्तव में पतिपत्नी दोनों साझेदार हैं।

राष्ट्र ने या समाज ने नारी के लिये जो कर्तव्य आवश्यक निश्चित कर दिये हों उन कर्तव्यों को न करनेवाली नारीकी जीविका आश्रयजीविका कहलायगी।

समाजवादी आर्थिक योजना के युग में एक नारी आश्रयजीविका वाली कहला सकती है, पूँजीवादी युग में वह नहीं भी कहलासकती। युग के अनुसार इसका विचार किया जासकता है। पर साधारणतः पतिपत्नी आर्थिक दृष्टि से अभिन्न हैं, परस्पर पूरक हैं इसलिये दोनों की जीविका एक मानी जायगी।

८ भिक्षाजीविका—भीख मांगकर गुजर करना भिक्षा जीविका है। किसी साम्प्रदायिक परम्परा के अनुसार कोई साधु आदि की हैसियत से भिक्षा ले तो वह भिक्षाजीवी नहीं है, हा! इसके बदले में वह उचित सेवा देता हो।

जिन्हें श्रद्धापूर्वक दान दिया जाता है, बिना याचना किये दान दिया जाता है, भिक्षुक के अनुसार दीनता का प्रदर्शन जिन्हें नहीं करना पड़ता है, न मन में लाना पड़ता है वे भी भिक्षाजीवी नहीं हैं। वे यदि उचित सेवा देते हैं तो साधुजीवी हैं। कुछ सेवा नहीं देते सिर्फ अन्धश्रद्धा का लाभ उठाते हैं तो मोघजीवी हैं।

साधुवेष लेकर भी जो दीनता दिखाते हैं वे भिक्षाजीवी हैं।

९ पापजीविका—जीविकाके नामपर जो लोग ऐसा कार्य करते हैं जिससे पाप फैलता है वह पाप जीविका है। पाप जीविका के कार्य समाज-हित के विरोधी होते हैं। जैसे—जूवा खेलने खिलाने का धंधा पाप जीविका है। जानवरों को लड़ाने का धंधा पापजीविका है।

१० ठगजीविका—विश्वासघात आदि करके किसी को ठग लेना ठगजीविका है।

ये ठग अनेक तरह के होते हैं। मुख्यता से इनके तीन भेद हैं—प्रलोभनठग, दम्भठग, उधार ठग।

प्रलोभनठग (लौभं चीट) लुभाकर ठगने वाले प्रलोभनठग हैं। जैसे दूना सोना बनादेने का प्रलोभन देकर ठगनेवाले आदि प्रलोभन ठग हैं। इसमें ठगनेवाले तो पापी अपराधी हैं ही, पर जो ठगजाता है वह भी कुछ अपराधी है। उसमें भी एक तरह की असंयम वृत्ति पाई जाती है। पर इससे प्रलोभन ठग की नीचता कम नहीं होती।

दम्भठग (कुट्टं चीट) दम्भ ढोंग आदि करके लोगों को ठग लेनेवाला दम्भठग है। शरीर में सफेदा आदि लगाकर अपने को कोढ़ी बनाकर, अन्धे लँगड़े आदि होने आ ढोंग करके ठगलेने वाला दम्भठग है। अथवा भविष्य में किसी उचित और सम्भव कार्य का विश्वास दिलाकर सुविधाएं प्राप्त करलेने वाला भी दम्भ ठग है।

उधार ठग (रुपं चीट) उधार के नामपर किसी से सम्पत्ति लेकर फिर न चुकानेवाला उधारठग है। इसमें सब से बड़े उधार ठग वे हैं जो उधार लेते समय ही यह विचार रखते हैं कि होगा तो चुकावेंगे नहीं तो ये मुझसे क्या लेलेंगे। चुकाने की परिस्थिति होजानेपर भी नहीं चुकाते। ये बहुत ही नीच और बेईमान हैं।

दूसरे उधारठग वे हैं जो उधार लेते समय तो चुकाने का भाव रखते हैं पर पीछे जिनकी नियत बदल जाती है। इसलिये चुकाने की परिस्थिति आजाने पर भी नहीं चुकाते हैं। क्या करें? बालबच्चों को भूखा मारें? नहीं हो तो कहां से दें? आदि बातें कहने लगते हैं? खर्च का हिसाब पेश करने लगते हैं। ऐसे लोग मित-व्यय से काम लें तो चुका सकते हैं पर नहीं लेते। मतलब यह कि कुछ न कुछ नियत बिगड़ जाती है इसलिये चुकाने की यथासम्भव कोशिश नहीं करते। ये भी नीच और बेईमान हैं।

जो लोग उधार देने का धन्धा नहीं करते, किन्तु किसी व्यक्तिको दुःख संकट में पड़ा जान-

कर करुणावश उधार दे देते हैं उनका ऋण न चुकाने वाला और भी बड़ा उधार ठग है। उसकी कृतघ्नता नीचता हरामखोरी और भी ज्यादा है।

जो आदमी उधार लेने से लेकर अन्ततक ऋण चुकाने का भाव रखता है और समय समय पर प्रगट करता है, अधिकसे अधिक मितव्ययी बनकर थोड़ा बहुत चुकाता रहता है, समय पर न चुका सकनेका पश्चात्ताप प्रगट करता रहता है, वह उधार ठग नहीं है। पर किसीकी मनोवृत्ति को पूरी तरह कोई परख नहीं सकता, इसलिये ऐसे व्यक्ति को भी दुनिया उधार ठग समझे तो उसे सहन करना चाहिये।

जो लोग उधार लेकर उसे अस्वीकार कर देते हैं वे उधार ठग तो हैं ही, साथ ही बड़े चोर भी हैं।

जो लोग उधार लेकर सिर्फ अस्वीकार ही नहीं करते किन्तु, ऋणदाता पर कोई दोषारोपण भी करते है उसकी झूठी बदनामी भी करते हैं वे ठग होने के साथ डकैत भी हैं।

जिनने ऋण चुका दिया है व्याज भी चुका दिया है फिर भी दर व्याज आदि के कारण, या साहुकारी हथकंडो के कारण ऋणग्रस्त बने हुए हैं ऐसे लोगों को किसी तरह सरकार या समाज के द्वारा ऋणमुक्त कर दिया जाय तो वे उधार ठग नहीं हैं।

ठग जीवी लोग जीवनभर या सदा ठगजीविका ही करते हैं यह बात नहीं है, वे दूसरी जीविका भी करते है पर जिसके जीवन में ठगजीविका को स्थान है वह ठगजीवी है। ठगजीविका से किसी धन मार लिया और फिर उसे पूंजी बनाकर कोई अच्छा धन्धा भी करने लगा तौभी उस अच्छे धन्धे का मूलाधार या मुख्याधार ठगजीविका होने से वह ठगजीवी कहा जायगा। जब तक ठगजीविका से कमाया हुआ धन वह वापिस न करदे और मनसे वचन से और धनसे कुछ प्रायश्चित्त भी न करले तब तक ठगजीवी है।

११–चोर जीविका—चोरी करके जीविका करना चोरजीविका है। दूसरा धन्धा करते हुए भी कभी कभी चोरी करनेवाला चोर ही कहा जायगा। इसकी बेईमानी और पतितता स्पष्ट है।

१२–घातजीविका—डकैती आदि करके जबर्दस्ती दूसरोंका धन छीननेवाला घातजीवी है। दूसरों को परेशान करके सताकर रिश्वत लेने वाला भी घातजीवी है डकैत के समान है। यह बेईमान पतित और क्रूर है।

मनुष्य को उत्तमोत्तम या उत्तम जीविका करना चाहिये। साधारण जीविका विवशता में ही क्षन्तव्य है, अधम जीविका न करना चाहिये, और अधमाधम जीविका तो मरने से भी बुरी है।

यह एक भ्रम है कि पेट भरने के लिये अधम या अधमाधम जीविका करना ही पड़ती है। अगर कोई मनुष्य ईमान पर कायम रहे तो वह जीविका के क्षेत्रमें असफल नहीं होगा, अगर थोड़ी बहुत कमी रहेगी तो सुखशांति गौरव की प्राप्ति से वह कमी न अखरेगी. बल्कि इस दृष्टि से टोटल मिलाने पर लाभ ही रहेगा। जीविका की दृष्टि से मनुष्य को अपना जीवन उत्तम बनाना चाहिये। इसमें सिर्फ परमार्थ ही नहीं है स्वार्थ भी है।

८–यशोजीवन [फिमो जिवो]

जीवन की सफलता की बहुत बड़ी कसौटी यश है। धन वैभव पद अधिकार और पूजा भी यश की बराबरी नहीं कर सकते क्योंकि ये सब प्रकाश हीन हैं। जीवन का प्रकाश यश है, और जीवन की उम्र भी यही है। जिसका नाम जिस रूपमें जितने महत्व के साथ जब तक जीता है तब तक वह अमर है ऐसा समझा जाता है और यह ठीक है।

पर यश में भी अन्तर बहुत है, उसके असंख्य या अनन्त भेद हैं। किसी किसी का यश सैकड़ों वर्षों तक काफी महत्व के साथ देश देशान्तरों तक में फैला रहता है किसी का यश कुछ समय तक या जीवनभर रहता है, उसमें

श्रद्धा या पूज्यता का भाव नहीं रहता सिर्फ आतंक या लोगों की जानकारी रहती है। कोई कोई तो बदनाम ही होते हैं अपयश पाते हैं। अपयश वास्तव में मृत्यु है नरक है। हां! वे अपयश जो आगे चलकर यश में बदल जाने वाले हैं, या विवेकियों की दृष्टिमें अपयश नहीं है जनता की मूर्खता के कारण पैदा हुए हैं वास्तव मे अपयश नहीं है। इन सब बातों का विचार करते हुए यशोजीवन के मूलमें तीन और फिर उन्नीस भेद होते हैं। १-सुयशजीवन (सुपिम जिवो) २-अयश जीवन [नोपिम जिवो] ३-दुर्यशजीवन [रूपिम जिवो]

अच्छे यशवाला जीवन सुयश जीवन है।

जिस जीवन मे न सुयश है न अपयश वह अयश जीवन है।

जिस जीवन मे दुर्यश है बदनामी है वह दुर्यशजीवन है।

सुयश जीवन तीन श्रेणियों [विजीपो] और नव उपश्रेणियों (फूतिजीपो) मे बटा हुआ है।

१- उत्तम यश (सतपिमो)
१-परमयश (शोपिमो) स्थायी उच्च विस्तीर्ण
२-महायश (सोपिमो) स्थायी उच्च
३-भविष्ययश (लसलेर पिमो)

२-मध्यम (साधारण) यश (पौम पिमो)
४-प्रजीवनयश (शे जिवं पिमो) स्थायी व्यापक
५-जीवनयश (जिवंपिमो) स्थायी
६-प्रदीपयश (शेदिम्प पिमो) उच्च व्यापक
७-दीपयश (दिम्पं पिमो) उच्च

३- जघन्य यश (रिक्त पिमो)
८-छायायश (छुव पिमो) व्यापक
९- पलकयश (रिंक पिमो) अस्थायी तुच्छ अव्यापक

१ परमयश—जो यश पीढ़ियों या शताब्दियों तक रहा है रहनेवाला है, युग के यातायात के अनुसार हजारों कोसों में फैला हुआ है, यशस्वी व्यक्ति के विषय में लोगों को आदर का भाव है ऐसे यश को परम यश कहना चाहिये। म. राम, म कृष्ण, म बुद्ध, म. ईसा, म मुहम्मद, म. मार्क्स आदि इसी श्रेणी के यशस्वी हैं। म. महावीर विस्तीर्णता में कुछ कम होने पर भी इसी श्रेणी में लिये जासकते हैं। म सुकरात आदि भी परम यशस्वी हैं। सम्राट् अशोक की गिनती भी परमयशस्वियों में की जासकती है। म कन्फ्यूसियस भी परमयशस्वी हैं।

२—महायश—जो विस्तार में कम हैं पर बाकी बातों में परमयशस्वी के समान है। वे महायशस्वी हैं परमयशस्वी और महायशस्वी की योग्यता में कोई निश्चित अन्तर नहीं होता। दोनों करीब करीब एक सरीखे हैं। सिर्फ प्रचार के कारण यह अन्तर पैदा होता है।

३—भविष्ययश-जिनने जीवन में उचित यश नहीं पाया किन्तु जिनके उपकार और योग्यता इतनी महान है कि मरने के बाद उनका यश फैलेगा। आज जिनको हम परमयशस्वी या महायशस्वी कहते हैं उनमें से अधिकांश अपने जीवन में भविष्ययशस्वी ही थे। इसलिये जो सच्चा जनसेवक है वह परमयशस्वी या महायशस्वी बनने की चिन्ता नहीं करता, वह भविष्ययशस्वी होने में ही सन्तुष्ट रहता है। हां! कुछ ऐसे विवेकी होते हैं जो भविष्ययशस्वी की परमयशस्विता या महानयशस्विता जीवन में ही पहिचान लेते हैं वे उस भविष्ययशस्वी को परमयशस्वी ही कहते हैं, यह उचित और आवश्यक है।

४—प्रजीवनयश-जो यश काफी स्थायी है व्यापक भी है परन्तु जिसमें उच्चता नहीं है या बहुत कम है। तारीफ तो होती है आश्चर्य भी होता है पर विचार करने पर काफी मात्रा में भक्ति आदर श्रद्धा अनुराग आदि पैदा नहीं होता। जैसे आगरे का ताजमहल अपने निर्माता का नाम शताब्दियों के लिये अमर किये हुए है, देश देशान्तरों में वह यश फैला है इसलिये व्यापक भी है पर ताजमहल बनवाने के बारेमें वह भक्ति आदर आदि पैदा नहीं होते जो एक जनसेवक के बारे में पैदा होते हैं। विचारक यही

सोचता है कि ठीक है, प्रजा की कमाई से अपने पत्नी प्रेम का स्मारक एक बादशाह ने बनवाया है, वह भी सिर्फ इसलिये कि वह उसकी प्यारी पत्नी थी, न कि कोई विश्व हितैषिणी महामहिला। इसमें महत्व क्या है। इसप्रकार के यश को सुजीवन यश कहते हैं। यह काफी जीता है और विस्तार के साथ जीता है।

५ जीवन यश- यह यश जीवनयश के समान है सिर्फ विस्तार में कम है। कोई ऐसा काम किया जाय जो चिरकाल तक लोग याद रक्खें, पर उसका विस्तार न हो, न पूज्यता बुद्धि हो। अनेक ग्राम नगरों में ऐसी चीजें मिल जाती हैं जिन्हें शताब्दियों से लोग जानते हैं पर आस-पास के लोग ही जानते हैं। इससे जो यश मिलता है वह जीवन यश है।

६ प्रदीपयश- सामयिक वातावरणसे लाभ उठाकर जो महत्ता और व्यापकता प्राप्त की जाती है उससे पैदा होने वाले यश को प्रदीप यश कहते हैं। राजनैतिक आन्दोलन में भाग लेकर मनुष्य जल्दी दूर दूर तक विख्यात होजाता है और लोगों की पूज्य बुद्धि भी मिल जाती है। किसी खास प्रसंगपर अनशन आदि करने से भी ऐसा उच्च व्यापक यश मिलजाता है। राजनैतिक नेता बनने से, या राज्यमन्त्री आदि पद पाजाने से भी, या राजनैतिक संस्था का कोई पद पालेने से भी इस प्रकार का यश मिलजाता है। पर उसकी उम्र बहुत थोडी है। हां! जो लोग स्थायी और वास्तविक जनसेवा भी करते हैं और इसके बाद कदाचित शासन आदि का पद भी पाजावे हैं वे परमयशस्वी होजाते हैं जैसे हजरत मुहम्मद आदि हुए हैं। पर ऐसे बहुत कम होते हैं अधिकतर इसी छट्ठी श्रेणी के होते हैं। जैसे प्रदीप काफी दूर तक तीव्र प्रकाश देता है पर देता है तभी तक, जब तक उसे तेल आदि मिलता रहता है, तेल समाप्त होते ही बुझ जाता है। इसीप्रकार प्रदीप यश तभी तक है जब तक अमुक सामयिक घटना का जोश है या अमुक पद है, इसके बाद समाप्त होजाता है।

७ प्रदीपयश-यह दीपयश के समान है पर व्यापकता में कम है। काफी छोटे क्षेत्र में इसका फैलाव होता है. हां पूज्यता काफी ऊंची होती है। साम्प्रदायिक क्षेत्र में ऐसे यशस्वी देखे जाते हैं।

८ छायायश- इस यश में विस्तार है पर उच्चता और स्थायिता नहीं। अनेक नट नटियों के नाम देश देशान्तरों में फैल जाते हैं, पर उनके बारे में वह भक्ति आदर आदि नहीं होता जो एक परोपकारी हितैषी के बारे में होता है। उनके रूप और शब्द से लोग अपनी आंखें और कान सेंकना चाहते हैं। और मरने के बाद वे भुला दिये जाते हैं, इतना ही नहीं, बहुत से तो जवानी के बाद ही भुलादिये जाते हैं। इस प्रकार यह यश जमीनपर पडी हुई घड़ीभर की छाया के समान होने के कारण छाया यश कहलाता है।

९ पलक यश- जो यश थोड़ी देर को थोड़े से लोगों में फैलता है और उससे वास्तविक महत्ता नहीं मिलती। वह पलक मारने सरीखा क्षणिक होने के कारण पलक यश कहलाता है, शानदार शादी का उत्सव कर दिया, शान दिखाने के लिये भोज कर दिया, अच्छा जुलूस निकाल दिया, आदि ऐसे कार्य जिनका प्रभाव स्थानीय और क्षणिक होता है, लोगों में उसके प्रति सिर्फ ईर्ष्या या आश्चर्य ही पैदा होता है वह पलक यश है। यह बहुत क्षुद्र है।

१० जिनके जीवन में किसी प्रकार का यश नहीं होता है वह अयश जीवन है। साधारण मनुष्यों का जीवन प्रायः ऐसा ही होता है। हाला कि थोड़ा बहुत पलक यश बहुतोंको मिलजाता है।

जिस प्रकार यश जीवन के नव भेद बताये गये हैं उसी प्रकार दुर्यश जीवन के भी नव भेद होते हैं। पर भेदों का क्रम उलट जाता है क्योंकि यश पहिले दर्जे का हो तो जीवन सब से अच्छा

समझा जाता है पर दुर्यश पहिले दर्जे का हो तो जीवन सब से खराब समझा जाता है। यहां जो जीवन की श्रेणियाँ बनाई गई हैं वे सब से अच्छे जीवन से लेकर सब से खराब जीवन तक गई हैं। इसलिये पलक यश के बाद अयश जीवन और फिर पलक दुर्यश जीवन आता है। परम दुर्यश जीवन जो सबसे गया बीता जीवन है। इसप्रकार ग्यारह से उन्नीस तक दुर्यश जीवन के भेद हैं।

११-पलकदुर्यश [रिंकं रूपिमो] किसी छोटीसी गलती से थोड़े से लोगों के बीच में होने वाली बदनामी, जो कुछ समय में भुलादी-जायगी पलकदुर्यश कहलाती है। अधिकांश व्यक्ति कभी न कभी ऐसी बदनामी पाजाते हैं।

१२-छाया दुर्यश [छुवं रूपिमो] पलक दुर्यश के समान कुछ बड़ीसी बदनामी, जो कुछ अधिक लोगों में फैलती है पर कुछ दिनों में भुलाने लायक है।

१३-धूम दुर्यश [धुगं रूपिमो] बदनामी की बात ऊँचे दर्जे की हो, पर बहुत फैल नहीं पायी हो और न स्थायी होपाई हो। धुएँ की तरह थोड़ी जगह में फैलकर उड़जाने वाली हो, पर आग लगने के समान उत्कटता का चिन्ह अवश्य हो।

१४ प्रधूम दुर्यश [शेधुगं रूपिमो]-बद-नामी का कार्य काफी बड़ा हो, फैल भी गया हो, पर टिकाऊ न हो।

बहुत फैलने या टिकने का विचार सापेक्ष दृष्टि से करना चाहिये। जिस कार्यमें बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति की जितनी बदनामी होसकती है उस कार्य से अप्रसिद्ध व्यक्ति की उतनी बदनामी नहीं होसकती। पर इस कारण से अप्रसिद्ध व्यक्ति ऊंची श्रेणी का नहीं होजाता। उसकी परिस्थिति के अनुसार ही उसकी बदनामी की व्यापकता और स्थायिता का विचार किया जायगा और उसी के अनुसार उसकी श्रेणी निश्चित होगी।

१५-जीवन दुर्यश (जिवं रूपिमो)- ऐसा पाप किया जाय जिससे जीवनभर या काफी समय तक बदनामी रहे। पर वह न तो बहुत फैले न बहुत उच्च हो।

१६-प्रजीवन दुर्यश (शेजिवं रूपिमो)-जीवन दुर्यश जब स्थायी के साथ विस्तीर्ण भी होजाय तो वह प्रजीवन दुर्यश होजाता है।

१७-भविष्य दुर्यश (लसलेर रूपिमो)-आज जो बदनामी छिपीहुई है या तुच्छ है पर कुछ समय बाद या जीवन के बाद जो स्थायी हो जायगी, यथाशक्य फैल भी जायगी वह भविष्य दुर्यश है।

१८-महादुर्यश (सो रूपिमो)-जो बदनामी किसी कारण विस्तार न पासकी हो पर जितने क्षेत्रमें फैली हो काफी उत्कट हो और स्थायी हो। विश्वासघात कृतघ्नता आदि से ऐसी बदनामी मिला करती है

१९ परम दुर्यश (शो रूपिमो) जो बद-नामी काफी तीव्र हो खूब फैली हो और बहुत समय तक के लिये स्थायी हो जैसे रावणादि की बदनामी वह परम दुर्यश है।

यश की दृष्टिसे मनुष्य को अपना जीवन टटोलना चाहिये। दुर्यश से बचकर यथाशक्य यश की ऊंची श्रेणियों में रहना चाहिये।

९-लिंगजीवन [नंगो जिवो]

तीन भेद

नर नारी ये मानवजीवन के दो अंग हैं। अकेली नारी आधा मनुष्य है अकेला नर आधा मनुष्य है। दोनों के मिलने से पूर्ण मनुष्य बनता है। इस प्रकार दम्पति को हम पूर्ण मनुष्य कह सकते हैं।

हिन्दुओं में जो वह प्रसिद्धि है कि शिवजी का आधा शरीर पुरुषरूप है और आधा नारी, इस रूपक का अर्थ यही है कि पूर्ण मनुष्य में नर और नारी दोनों की विशेषताएँ हुआ करती हैं। पर यह ध्यान रखना चाहिये कि वे विशेषताएँ

मन बुद्धि या गुणों से सम्बन्ध रखनेवाली हैं शरीर से नहीं। लैंगिक दृष्टि से कोई मनुष्य पूर्ण है इसका यह मतलब नहीं है कि उसकी दाढी में एक तरफ बाल हैं और दूसरे तरफ नहीं, एक तरफ मूंछ है दूसरी तरफ नहीं, एक तरफ स्त्रियों सरीखे स्तन हैं दूसरी तरफ पुरुषों सरीखे। किसी पूर्ण पुरुष का ऐसा चित्र मजाक चित्र ही कहा जा सकेगा। उभयलिंगी चित्रण करना हो तो वह गुणसूचक होना चाहिये।

लैंगिक दृष्टि से मानव जीवन के तीन भेद हैं १ नपुंसक, २ एकलिंगी, ३ उभयलिंगी।

१ नपुंसक (नोनंग)—जिस मनुष्य में न तो स्त्रियोचित गुण हैं न पुरुषोचित, वह नपुंसक है। समाज की रक्षा में, उन्नति में, सुख शान्ति में नारी का भी स्थान है और नर का भी। जो न तो नारी के गुणों से जगत की सेवा करता है न नर के गुणों से, वह नपुंसक है।

नर नारी

नर और नारी की शरीररचना में प्रकृति ने जो अन्तर पैदा कर दिया है उसका प्रभाव उनके गुणों तथा कार्यों पर भी हुआ है। उससे दोनों में कुछ गुण भी पैदा हुए हुए और दोनों में कुछ दोष भी। ज्यों ज्यों विकास होता गया त्यों त्यों दोनों में उन गुण दोषों का भी विकास होता गया। इस प्रकार नर और नारी में आज बहुत अन्तर दिखलाई देने लगा है जब कि मौलिक अन्तर इतना नहीं है। बुद्धिमत्ता विद्वत्ता आदि में नर और नारी समान हैं। किन्तु शताब्दियों तक विद्वत्ता आदि के क्षेत्र में काम न करने से, आने जाने की पूरी सुविधा न मिलने से और अनुभव की कमी के कारण, नारी विद्वत्ता आदि में कम मालूम होती है, पर इस विषय में मूल में कोई अन्तर नहीं है।

शरीर रचना के कारण नर और नारी में जो मौलिक गुण दोष हैं वे बहुत नहीं है। वात्सल्य नारी का गुण है निर्बलता दोष। सबलता नर का गुण है लापर्वाही दोष। इस एक एक ही गुण दोष से बहुत से गुण दोष पैदा हुए हैं।

नारी की विशेष अंग-रचना के अनुसार उसका सन्तान से इतना निकट सम्बन्ध होता है कि वह अलग प्राणी होने पर भी उसे अपने में संलग्न समझती है। अपनी पर्वाह न करके भी सन्तान की पर्वाह करती है। सन्तान के साथ यह आत्मौपम्य भाव नारी की महान् विशेषता है। संयम सेवा, कोमलता, प्रेम आदि इसी वृत्ति के विकसित रूप हैं। अगर प्रेम या अहिंसा को साकार रूप देना हो तो उसे नारी का आकार देना ही सर्वोत्तम होगा।

नारी का वात्सल्य या प्रेम मूल में सन्तान के प्रति ही था। एक तरफ तो वह नाना रूपों में प्रकट हुआ दूसरी तरफ उसका क्षेत्र विस्तीर्ण हुआ। इस दुहरे विकास ने मानव समाज में सुख समृद्धि की वर्षा की है। जितने अंश में वह विकास है उतने ही अंश में वहाँ स्वर्ग है।

नारी में जब सन्तान के लिये वात्सल्य आया तब उसके साथ सेवा का आना अनिवार्य था। इस प्रकार सेवा के रूप में नारी जीवन की एक झांकी और दिखाई देने लगी। सेवा भी नारी का स्वाभाविक गुण हो गया।

जहाँ वात्सल्य है वहाँ कोमलता स्वाभाविक है। नारी में दुग्धपानादि कराने से तन की कोमलता तो थी ही, साथ ही प्रेम और सेवा के कारण उसमें मनकी कोमलता भी आगई। बच्चे का रोना सुनकर उसका मन भी रोने लगा उसकी बेचैनी से उसका मन भी बेचैन होने लगा। इस कोमलता ने दूसरे के दुःखों को दूर करने और सहानुभूति के द्वारा हिस्सा बटाने में काफी मदद की।

वात्सल्य और सेवाने नारीमें सहिष्णुता पैदा की। नारी के सामने मनुष्य निर्माण का एक महान कार्य था और वह उसमें तन्मय थी इसलिये उसमें सहिष्णुता का आना स्वाभाविक था। जिसके सामने कुछ निर्मायक कार्य होता है

वह चोटों की कम पर्वाह करता है। बदला लेने की भावना भी उसमें कम होती है। वह हुंकार तभी करता है जब चोट असह्य हो जाती है या उसके विधायक कार्य में बाधा पड़ने लगती है। नारी शरीर से कोमल होने पर भी जो उसमें कष्टसहिष्णुता अधिक है उसका कारण मानव-निर्माण के कार्य में प्राप्त हुई कष्टसहिष्णुता का अभ्यास है। नर ने इसका काफी दुरुपयोग किया है फिर भी नारी विद्रोह नहीं कर सकी और सहयोग के लिये पुरुष को ही खींचने की कोशिश करती रही इसका कारण उसकी सन्तानवत्सलता या मानव निर्माण का कार्य है।

मानव निर्माण के कार्य ने नारी में एक तरह की स्थिरता या संरक्षणशीलता पैदा की। मानव निर्माण या और भी विधायक कार्य प्रक्षुब्ध वातावरण या अस्थिर जीवन में नहीं हो सकते, उसके लिये बहुत शान्त और स्थिर जीवन चाहिये। इसलिये नारीने घर बसाया। चिड़ियाँ जैसे अंडों के लिये घोंसला बनाती हैं और इस काम में मादा चिड़िया नर चिड़िया का सहयोग प्राप्त करती है, उसी प्रकार नारीने घर बसाया और नर का सहयोग प्राप्त किया।

जब घर बना तब जीवन में स्थिरता आई उपार्जन के साथ सग्रह हुआ, भविष्य की चिन्ता हुई, इससे उच्छृंखलता पर अंकुश पड़ा और इस तरह समाज का निर्माण हुआ।

नारी के सामने मानव-निर्माण घर बसाना, समाज-रचना आदि विशाल कार्य आये। अगर मनुष्य पशु होता तब तो यह कार्य इतना विशाल न होता, अकेली नारी ही इस कार्य को पूरा कर डालती, पर मनुष्य पशुओं से कुछ अधिक था इसलिये उसका निर्माण कार्य भी विशाल था। अकेली नारी इस विशाल कार्य को अच्छी तरह न कर पाती इसलिये उसने पुरुष का सहयोग चाहा। नारी घर रूपी कारखाने में बैठकर निर्माण कार्य करने लगी और पुरुष सामान जुटाना और संरक्षण कार्य करने लगा। इस अवस्था में पुरुष सिर्फ सहयोगी था, नारी मालकिन थी। नारी के आकर्षण से पुरुष यह कार्य करता था पर सन्तान के विषय में पुरुष को कोई आकर्षण न था, न घर की चिन्ता थी, इसलिये पुरुष में वह स्थिरता नहीं थी जिस की आवश्यकता थी। मन ऊबने पर वह जहाँ चाहे चल देता था। पर नारी का तो घर था, बाल बच्चे थे और था उसके आगे मानव-निर्माणका महान् कार्य. वह इतनी अस्थिर नहीं हो सकती थी। वह स्थिर थी और स्थिर सहयोग ही चाहती थी। इसलिये पुरुष को सदा लुभाये रखने के लिये नारी की चेष्टा होने लगी, इसी कारण नारी में कलामयता शृङ्गारप्रियता आदि गुणों का विकास हुआ। इससे पुरुष का आकर्षण तो बढ़ा ही, साथ ही उसका मूल्य भी बढ़ा उसमें आत्मीयता की भावना अधिक आई और वह नारी के बराबर तो नहीं, फिर भी बहुत कुछ स्थिर हो गया।

इस प्रकार नारी के सन्तानवात्सल्य नामक एक गुणने उसमें सेवा कोमलता सहिष्णुता स्थिरता शृङ्गारप्रियता या कलामयता आदि अनेक गुण पैदा किये। संगति और संस्कारों ने ये गुण नारी मात्र में भर दिये। सन्तान न होने पर भी बाल्यावस्था से ही ये गुण नारी में स्थान जमाने लगे। नारी के सहयोग से ये गुण पुरुष में भी आये और ज्यों ज्यों मनुष्य का विकास होता गया त्यों त्यों इनका क्षेत्र विस्तृत होता गया यहां तक कि सन्तानवात्सल्य फैलते फैलते विश्व-बन्धुत्व बन गया।

जगत में आज जो अहिंसा, संयम, प्रेम, त्याग, सेवा, सहिष्णुता, स्थिरता, कौटुम्बिकता, सौंदर्य, शोभा, कलामयता आदि गुणोंका विकसित रूप दिखाई देता है उसका श्रेय नारी या नारीत्व को है क्योंकि इनका बीजारोपण उसीने किया है इसलिये नारी भगवती है नारीत्व वन्दनीय है। नारीत्व का अर्थ है प्रेम सेवा सहिष्णुता कला आदि गुणों का समुदाय और मानव-निर्माण का महान् कार्य।

नारी की विशेष शरीर रचना के कारण जहाँ उस में उपर्युक्त गुण आये वहाँ थोड़ी मात्रा में एक दोष भी आया। वह है आंशिक

रूप में शारीरिक निर्बलता। नारीशरीर के रक्त मांस द्वारा ही एक प्राणी की रचना होती है इसलिये यह बात स्वाभाविक थी कि पुरुष शरीर की अपेक्षा नारी का शरीर कुछ निर्बल हो। इस निर्बलता में नारी का जरा भी अपराध नहीं था बल्कि मानव-जाति के निर्माण और संरक्षण के लिये होनेवाले उसके स्वाभाविक त्याग का यह अनिवार्य परिणाम था। वह निर्बलता उसके त्याग की निशानी होने से सम्मान की चीज है।

यह भी स्वाभाविक था कि जैसे गुणों में वृद्धि हुई उसी प्रकार इस दोष में भी वृद्धि होती, सो वह हुई। पशुपक्षियों में नर मादा की शक्ति में जो अन्तर होता है उससे कई गुणा अन्तर मानव-जातिके नर मादा में है। गुणों की वृद्धि तो उचित कही जासकती है पर यह दोषवृत्ति उचित नहीं कही जा सकती। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को नारीत्व के गुण प्राप्त करने के लिये अधिक से अधिक प्रयत्न करना चाहिये पर नारीत्व के इस सहज दोष से बचने की कोशिश भी करना चाहिये। नारी-शरीरधारी मनुष्य को उतनी ही निर्बलता क्षम्य है जो मानव-निर्माण के लिये अनिवार्य हो चुकी है।

और अब तो शारीरिक शक्ति भी सिर्फ मुट्ठी के बलपर निर्भर नहीं है। अब तो अस्त्रशस्त्रों के ऊपर निर्भर है। अगर बुद्धिमत्ता हो, जानकारी हो, हस्तकौशल हो, साहस हो तो अस्त्रशस्त्रों के सहारे निर्बल भी सबल का सामना कर सकता है। इस प्रकार नारी की सहज निर्बलता अब उतना अनिष्ट पैदा नहीं कर सकती है। अन्य साधनों से वह पशुबल में भी पुरुष के समकक्ष खड़ी हो सकती है। इस तरफ नारीका विकास होना चाहिये। फिर भी जो निर्बलता रह जाय वह परोपकार का परिणाम होने से उसका अनादर न करना चाहिये, उसका दुरुपयोग भी कदापि न करना चाहिये।

पुरुष को मानव-निर्माण के कार्य में नहीं के बराबर लगना पड़ा, इसलिये उसमें नारी की अपेक्षा सबलता अधिक आई। यह पुरुष का विशेष गुण है। इस गुण ने अन्य गुण पैदा किये। सबलता से निर्भयता पैदा हुई, घर के बाहर भ्रमण करने के विशेष अवसर मिले, नारी के कार्य में संरक्षक होने से बाहिरी संघर्ष अधिक हुआ इन सब कारणों से उसकी बुद्धि का विकास अधिक होगया, अनुभवों के बढ़ने से विद्वत्ता बहुत बढ़ी, वीरता साहस आदि गुणों का भी काफी विकास हुआ। बाहरी परिवर्तन अर्थात् बड़े-बड़े परिवर्तन करने की मनोवृत्ति और शक्ति भी इसमें अधिक आगई, नारी के छोटे से संसार का इस विशाल विश्व के साथ सम्बन्ध जोड़ने में पुरुष का ही कर्तृत्व अधिक रहा। इस प्रकार पुरुष नारीत्व के गुणों में पीछे रहकर भी अन्य अनेक गुणों में बढ़ गया।

पुरुष में बल की जो विशेषता हुई उसने अन्य अनेक गुणों को पैदा किया पर उसमें जो लापर्वाही का दोष था उसने अन्य अनेक दोषों को पैदा किया इसके कारण सबलता दोषों को बढ़ाने में भी सहायक हुई।

नारी को मानव-निर्माण के कार्य में पुरुष की आवश्यकता थी, पुरुष ने इसका दुरुपयोग किया। रक्षक होने से, सबल होने से, बाहरी जगत से विशेष सम्बन्ध होने से वह मालिक बन गया। पहिले उसकी लापर्वाही का परिणाम यह होता था कि जब उसका दिल चाहता था तब घर छोड़कर चल देता था, अब यह होने लगा कि घर की मालकिन को अलग कर दूसरी को लाने लगा।

कहीं कहीं इस ज्यादती को रोकने के लिये जो प्रयत्न हुआ और उससे जो समझौता हुआ उसके अनुसार पहिली मालकिन को निकालना तो बन्द होगया पर उसके रहते दूसरी मालकिन लाने का अधिकार हो गया। घर से बाहर रहने के कारण उपार्जन का अवसर पुरुष को ही अधिक मिला, इधर मालकिनों को बदलने या निकालने या दूसरी लाने का अधिकार भी उसे

मिला इस प्रकार नारी दासी रह गई और पुरुष स्वामी बन गया। अब उल्टी गंगा बहने लगी। पुरुष जो अज्ञात स्थानों में जाने का और बाहर की हर एक परिस्थिति के सामना करने का अभ्यासी था वह तो घरवाला बनकर घर में रहा, और नारी, जिसे घर के बाहर निकलने का बहुत कम अभ्यास था, घरवाली बनने के लिये अपना घर-पैतृक कुल छोड़ने लगी। खैर, कम से कम किसी एक को घर छोड़ना ही पड़ता, परन्तु खेद तो यह है कि एक घर छोड़कर भी वह दूसरे घर में घरवाली न बन सकी। वह दासी ही बनी। यद्यपि उसे पदवी तो पत्नी अर्थात् मालकिन की मिली पर वह पदवी अर्थशून्य थी। इसी प्रकार घरवाली की पदवी भी व्यर्थ हुई। पुरुष तो घरवाला रहा पर वह घरवाली के नाम से घर बनी। बड़े बड़े पंडितों ने भी कहा—दीवार वगैरह को घर नहीं कहते घरवाली को घर कहते हैं [गृहं हि गृहिणी माहुः न कुड्यकटिसंहतिम्-सागारधर्मामृत] इस प्रकार मूल में जो घरवाला नहीं था वह तो घरवाला बन गया और जो घरवाली थी वह घर होकर रह गई।

इस प्रकार नारीत्व और पुरुषत्व के गुणों ने जहाँ मनुष्य को हर तरह विकसित या समुन्नत बनाया उसी प्रकार इनके सहज दोषों ने मनुष्य को हैवान और शैतान बनाया। नारीत्व का मूल्य उसके गुण से है वह पुरुष को भी अपनाने की चीज है और नारीत्व का जो दोष है वह नारी को भी छोड़ना चाहिये। पुरुषत्व का मूल्य उसके गुण से है वह नारी को भी अपनाना चाहिये। और पुरुषत्व का जो दोष है वह पुरुष को भी छोड़ना चाहिये।

जिसमें न तो नारीत्व के गुण हैं न पुरुषत्व के, अगर हैं तो दोनों के या किसी एक के दोष हैं, वह नपुंसक है। भले ही वह शरीर से नपुंसक न हो—स्त्री या पुरुष हो।

२ एकलिंगी (ऊनलिंग)—जिसमें या तो पुरुषत्व के गुण विशेषरूप में हैं या नारीत्व के गुण, वह मनुष्य एकलिंगी है। किसी मनुष्य में कलाप्रियता सेवा आदि की भावना हो पर शक्ति विद्वत्ता आदि पुरुषोचित गुण न हो वह नारीत्ववान मनुष्य है भले वह शरीर से नारी हो, पुरुष हो या नपुंसक हो। इसी प्रकार जिसमें पुरुषत्व के गुण हों परन्तु नारीत्व के गुण न हों वह पुरुषत्ववान मनुष्य है, भले ही वह नारी हो, नपुंसक हो या पुरुष हो। यह एकलिंगी मनुष्य अधूरा मनुष्य है मध्यम श्रेणी का है।

प्रश्न—एकलिंगी मनुष्य पुरुष हो या नारी, इसमें कोई बुराई नहीं है परन्तु पुरुषत्ववती नारी और नारीत्ववान पुरुष, यह अच्छा नहीं कहा जा सकता। नारी, पुरुष बने और पुरुष, नारी बने यह तो लैंगिक विडम्बना है।

उत्तर—ऊपर जो पुरुषत्व के और नारीत्व के गुण बताये गये हैं वे इतने पवित्र और कल्याणकारी हैं कि कोई भी उन्हें पाकर धन्य हो सकता है। अगर कोई मनुष्य रोगियों की सेवा करने में चतुर और उत्साही है तो वह नारीत्ववान पुरुष जगत् की सेवा करके अपने जीवन को सफल ही बनाता है उसका जीवन धन्य है। इसी प्रकार कोई नारी झाँसी की लक्ष्मीबाई या फ्रांस की देवी जोन की तरह अपने देश की रक्षा के लिये शस्त्र-सञ्चालन करती है तो ऐसी पुरुषत्ववती नारी भी धन्य है उसका जीवन सफल है कल्याणकारी है। इन जीवनों में किसी तरह से लैंगिक विडम्बना नहीं है। लैंगिक विडम्बना वहाँ है जहाँ पुरुष नारीत्व के गुणों का परिचय नहीं देता, कोई जनसेवा नहीं करता, किन्तु नारी का वेष बनाता है, नारी जीवन की सुविधाएँ चाहता है और नारी के ढंग से कामुकता का परिचय देता है। गुण तो गुण हैं उनसे जीवन सफल और धन्य होता है फिर वे नारीत्व के हों या पुरुषत्व के, और उन्हें कोई भी प्राप्त करे।

प्रश्न—नारीत्ववान पुरुष पुरुषत्व की विड-

त्वता भले ही न हो किन्तु यह तो कहना ही पड़ेगा कि पुरुषत्ववान् पुरुष से वह हलके दर्जे का है इसी प्रकार नारीत्ववती नारी से पुरुषत्व-वती नारी हीन है।

उत्तर—हीनाधिकता का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, इसका सम्बन्ध है युग की आवश्यकता से। किसी देशव्यापी बीमारी के समय अगर रोगियों की सेवा मे कोई पुरुष होश्यार है तो वह नारीत्ववान पुरुष का दर्जा किसी योद्धा से कम नहीं है। राष्ट्र के ऊपर कोई आक्रमण हुआ हो तो राष्ट्र रक्षा के लिये युद्ध क्षेत्र में काम करने वाली पुरुषत्ववती नारी किसी नारीत्ववती नारी से कम नहीं है। आदर्श तो यही है कि प्रत्येक मनुष्य मे दोनों की विशेषताएँ हों, वह उभय-लिंगी हो, परन्तु यदि ऐसा न हो तो अपनी रुचि योग्यता और राष्ट्र की आवश्यकता के अनुसार किसी भी लिंग का काम कोई भी चुन सकता है।

कोई कोई पुरुष बच्चों के लालन-पालन में इतने होश्यार होते हैं कि नारियों से भी बाजी मार ले जाते हैं, बहुत से पुरुष रंगमंच पर अनेक रसों का ऐसा प्रदर्शन करते हैं और कलात्मक जीवन का ऐसा अच्छा परिचय देते हैं कि अनेक अभिनेत्रियों से बाजी मार ले जाते हैं, और भी अनेक स्त्रियोचित कार्य हैं जिनमें बहुत से पुरुष निष्णात होते हैं ऐसे कार्य करनेवाले नारीत्ववान् पुरुष पुरुषत्ववान पुरुष से छोटे न होंगे।

नारीत्ववान पुरुष हमें छोटा मालूम होता है इसका कारण है कि युगोंसे पूंजीवाद साम्राज्य-वाद आदि के कारण बाजार में नारीत्व के कार्यों का मूल्य कम होगया है इसलिये पुरुषत्ववाली नारी का हम सन्मान करते हैं और नारीत्ववान पुरुष को या नारीत्ववती नारी को हम क्षुद्र दृष्टि से देखते हैं। यह नारीत्व के विषय मे अज्ञान है।

घर में झाड़ू दे लेना, बच्चे को दूध पिला देना या नाचना गाना ही नारीपन नहीं है और साधारण नारी इन कार्यों को जिस ढंग से करती है उतनेमें ही नारीपन समाप्त नहीं होता। नारीपन का क्षेत्र व्यापक और महत्वपूर्ण है। ऊंची से ऊंची चित्रकारी, संगीत, नृत्य, पाकशास्त्र की ऊंची से ऊंची योग्यता, मानव हृदय को सुसं-स्कृत बनाना शिक्षण देना, स्वच्छता, अनेक मनुष्यों के रहन सहन की सुव्यवस्था, प्रतिकूल परिस्थिति में शान्ति और व्यवस्था के साथ टिके रहना, प्रेम वात्सल्य, मिष्टभाषण, आदि अनेक गुण और कर्म नारीपन के कार्य हैं। राज्य का सेनापति यदि पुरुषत्ववान पुरुष है तो गृहसचिव नारीत्ववान पुरुष है। नारी के हाथ में आज कहाँ क्या रह गया है यह बात दूसरी है पर नारीत्व का क्षेत्र उतना संकुचित नहीं है। उसका क्षेत्र विशाल है और उच्च है। इसलिये नारीत्व को छोटा न समझना चाहिये और इसीलिये नारीत्ववान पुरुष भी छोटा नहीं है। हाँ इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये कि समाज को इस समय किसकी अधिक आवश्यकता है? आवश्यकता के अनुसार गुणों और कार्यों को अपनाकर हरएक नर और नारी को अपना जीवन सफल बनाना चाहिये।

प्रश्न—यदि पुरुष मे भी नारीपन उचित है और नारी मे भी पुरुषपन उचित है तो पुरुष को भी लम्बे बाल रख कर नारियों सरीखा शृङ्गार करना, साड़ी आदि पहिनना उचित समझा जायगा और इसी प्रकार स्त्रियों का पुरुषो-चित वेष रखना भी उचित समझा जायगा। क्या इससे लैंगिक विडम्बना न होगी।

उत्तर—अवश्य ही यह विडम्बना है पर यह नारीत्ववान पुरुष का रूप नहीं है। अमुक तरह का वेष रखना नारीपन या पुरुषपन नहीं है। नर और नारी के वेष में आवश्यकता-नुसार या सुविधानुसार अन्तर रहना उचित है। नारीपन या पुरुषपन के जो गुण यहां बतलाये गये हैं उन गुणों से हरएक मनुष्य [नर या नारी] अपना और जगत का कल्याण कर सकता है परन्तु नर नारी की या नारी नर की पोशाक पहिने इससे न तो उनको कुछ लाभ है न दूसरों

को। बल्कि इससे व्यवहार में एक भ्रम पैदा होता है।

नर नारी की पोशाक में कितना अन्तर हो, देशकाल के अनुसार उनमें परिवर्तन हो कि नहीं हो, हो तो कितना हो ? नारी पुरुष-वेष की तरफ कितनी झुके, पुरुष नारी वेष की तरफ कितना झुके आदि बातों पर विस्तार से विचार किया जाय तो एक खासी पुस्तक बन सकती है। यहां उतनी जगह नहीं है इसलिये यहां इस विषय में कुछ इशारा ही कर दिया जाता है।

१-नारी और नर की पोशाक में कुछ न कुछ अन्तर होना उचित है। नारी ऐसा वेष ले कि देखने से पता ही न लगे कि यह नारी है और नर ऐसा वेष ले कि देखने से पता ही न लगे कि यह नर है, यह अनुचित है। साधारणतः वेष अपने लिंग के अनुसार ही होना उचित है। इसका एक कारण यह है कि इससे नर नारी में जो परस्पर लैंगिक सन्मान और सुविधा-प्रदान आवश्यक है उसमें सुविधा होती है। अनावश्यक और हानिकर लैंगिक सम्बन्ध से भी बचाव होता है। दूसरी बात यह है कि नर और नारी को मानसिक सन्तोष अधिक होता है।

नारी अधूरा मनुष्य है और नर भी अधूरा मनुष्य है दोनों के मिलने से पूरा मनुष्य बनता है इस प्रकार वे एक दूसरे के पूरक हैं। शारीरिक दृष्टि से इन दोनों में जो विषमता है वह इस पूरकता के लिये उपयोगी है। वेष की विषमता शारीरिक विषमताका शृंगार है या उसे बढ़ानेवाली है और शारीरिक विषमता पूरकता का कारण है इसलिये वेष की विषमता भी पूरकता का कारण है। एक नारी का हृदय नारी-वेषी पुरुष से इतना सन्तुष्ट नहीं होता जितना पुरुष-वेषी पुरुष से। इसी प्रकार एक पुरुष का हृदय पुरुष वेषी नारी से इतना सन्तुष्ट नहीं होता जितना नारी-वेषी नारी से इसलिये अमुक अंश में वेष की विषमता जरूरी है। हाँ, इस नियम के कुछ अपवाद भी हैं।

क-युद्ध क्षेत्र आदि में अगर कुछ काम करना पड़े और परिस्थिति ऐसी हो कि नारी को पुरुष-वेष लेना ही कार्य के लिये उपयोगी हो तो ऐसा किया जासकता है,

ख-अन्याय या अत्याचार से बचने के लिये वेष-परिवर्तन की आवश्यकता हो तो वह क्षम्य है।

ग-रंगमंच आदि पर अभिनय करने के लिये अगर नर को नारी का या नारी को नर का वेष लेना पड़े तो यह भी क्षम्य है।

घ-जनसेवा, न्यायरक्षा आदि के लिये गुप्तचर का काम करना पड़े और वेष-परिवर्तन करना हो तो वह भी क्षम्य है।

इस प्रकार के अपवादों को छोड़कर नर नारी की पोशाक में कुछ न कुछ अन्तर रहना चाहिये।

२-वेष जलवायु और कार्यक्षेत्र के अनुसार होना उचित है। गरम देशों में जो वेष ठीक हो सकता है वही ठंडे देशों में होना चाहिये यह नहीं कहा जासकता या एक ऋतु में जो वेष उचित कहा जासकता है वही दूसरी में भी उचित है यह नहीं कहा जासकता। मानलो किसी देश में नारियाँ साधारणतः साड़ी पहिनती हैं पर शीत ऋतु में ठंड से बचने के लिये उनने ऊनी कोट पहिन लिया या बरसात में पानी से बचने के लिये बरसाती कोट पहिन लिया तो कोट, साधारणतः पुरुष की पोषाक होनेपर भी, उक्त अवसरों पर नारी के लिये भी वह अनुचित न कहा जायगा।

३-नर और नारी के वेष में कुछ वैषम्य रहने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि एक दूसरे के वेष की अच्छाइयाँ ग्रहण न की जाँयँ। सौन्दर्य और स्वच्छता की दृष्टि से एक दूसरे के वेष की बात ग्रहण करने में कोई बुराई नहीं है। उदाहरणार्थ एक दिन ऐसा था जब हरएक पुरुष अपनी दाढ़ी पर के बाल सुरक्षित रखता था, अब भी बहुत से लोग रखते हैं पर उन बालों से सफाई में कुछ असुविधा होती है, सौन्दर्य भी कुछ कम

रहता है इसलिये दाढ़ी के बाल बनवाने का रिवाज चल पड़ा। धीरे धीरे यही बात मूंछों के विषय में हुई, मूंछ मुड़ाने का रिवाज भी बन गया। बहुत से शास्त्रों के अनुसार तो यह भी कहा जाने लगा कि देव तथा दिव्य पुरुषों के मूंछें नहीं होतीं, दाढ़ी पर बाल नहीं होते। पुरुष ने नारी वेष का जो यह अनुकरण किया वह स्वच्छता आदि की दृष्टि से उचित ही कहा जा सकता है।

वेष के विषय में ये खास खास सूचनाएं हैं इनका पालन होना चाहिये। बाकी लिंगजीवन के प्रकरण में नारीत्व और पुरुषत्वका वेषसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, न शरीर-रचनासे मतलब है। उसके द्वारा तो मानव-जीवन के लिये उपयोगी गुणों को दो भागों में विभक्त करके बतलाया है और हरएक मनुष्य को कम से कम किसी एक भाग को अपनाने की प्रेरणा है। एक भी भाग को न अपनाने पर उसमें नपुंसकत्व आजायगा।

प्रश्न—लैंगिक जीवन के आपने तीन भेद किये हैं पर स्पष्टता के लिये यह जरूरी था कि उसके चार भेद किये जाते। नपुंसक जीवन, स्त्री-जीवन, पुरुष-जीवन और उभय लिंगी जीवन। स्त्री-जीवन और पुरुष-जीवन को मिलाकर एक-लिंगी जीवन के नाम से दो भेदों का एक भेद क्यों बनाया ?

उत्तर—जीवनदृष्टि अध्याय में जीवन का श्रेणी-विभाग बताया गया है। नपुंसक जीवन से एकलिंगी जीवन अच्छा है, एकलिंगी जीवन से उभयलिंगी जीवन अच्छा है इस प्रकार श्रेणी विभाग बनजाता है परन्तु स्त्री-जीवनसे पुरुषजीवन अच्छा इस प्रकार का श्रेणी-विभाग नहीं बनता, इसलिये ये अलग अलग भेद नहीं बनाये गये।

प्रश्न—नारी और नर मनुष्यत्व की दृष्टि से समान हैं। ऐसी भी नारियाँ हो सकती हैं जो बहुत से नरों से उच्च श्रेणी की हों पर टोटल मिलाया जाय तो यह कहना ही पड़ेगा कि नारी से नर श्रेष्ठ है। नारी में निम्नलिखित दोष या गुणाभाव हुआ करता है इसलिये नारी नर से हीन है—

१ निर्बलता, २ मूढ़ता, ३ मायाचार, ४ भीरुता, ५ विलासिता, ६ अनुदारता, ७ कलहकारिता, ८ परापेक्षता, ९ दीनता, १० रूढ़िप्रियता, ११ क्षुद्रकर्मता, १२ अचौर्य आदि दोषों के कारण नारी नर से हीन ही कही जायगी। एक बात यह भी है कि नारी उपभोग्य है और पुरुष उपभोक्ता है इसलिये भी नारी हीन है।

उत्तर—नारी में स्वभाव से कौन से दोष हैं इसका विचार करने के लिये सिर्फ एक घर पर या किसी समय के किसी एक समाज पर नजर डालने से ही काम न चलेगा। इसके लिये विशाल विश्व और असीम कालपर नजर डालना पड़ेगी। इस दृष्टि से उपर्युक्त दोषों का विचार यहाँ किया जाता है।

१-निर्बलता (नेटुंगिरो)— इसके विषय में पहिले बहुत कुछ लिखा जा चुका है। निर्बलता अनेक तरह की है। इनमें से मानसिक या वाचनिक निर्बलता नारी में नहीं है, कायिक निर्बलता है, परन्तु वह भी बहुत थोड़ी मात्रामें, उसका कारण सन्तानोत्पादन है। सन्तानोत्पादन मानव-जातिके जीवनके लिये अनिवार्य है और उसका श्रेय [सौ में निन्यानवे भाग] नारीको है। इस उपकार के कारण आनेवाली थोड़ी बहुत शारीरिक निर्बलता हीनता का कारण नहीं कही जासकती। जैसे ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं। ब्राह्मण अपनी बौद्धिक शक्ति द्वारा समाज की सेवा करता है और क्षत्रिय शारीरिक शक्ति द्वारा। इसलिये क्षत्रिय बलवान होता है पर इसीलिये क्या ब्राह्मण से क्षत्रिय उच्च होगा ? ब्राह्मण की शारीरिक शक्ति शूद्र से भी कम होगी, वैश्य से भी कम होगी परन्तु इसीलिये वह सब वर्णों से नीचा न हो सकेगा। यह निर्बलता बौद्धिक सेवा के कारण है। जो निर्बलता समाज की भलाई करने का फल हो वह हीनता का कारण नहीं कही जासकती। नारी की निर्बलता मानव-जाति के रक्षणरूप महान से महान कार्य का फल है इसलिये वह हीनता का

कारण नहीं कही जा सकती।

दूसरी बात यह है कि नारी की यह अधिक निर्बलता सामाजिक सुव्यवस्था के लिये किये गये कार्यक्षेत्र के विभाग का फल है। अगर कार्य-क्षेत्र का विभाग बदल जाय तो अवस्था उल्टी हो जाय। बाली द्वीप में व्यापार खेती आदि सभी काम नारियाँ ही करती हैं इसलिये वे तीस तीस चालीस चालीस फुट के झाड़ पर एक हाथ से लटक कर दूसरे हाथ से फल तोड़ सकती हैं, बहादुरी के सब काम वे ही करती हैं। जब कि पुरुष घर मे रहते हैं रोटी बनाते हैं झाडू देते हैं। स्त्रियो से वे ऐसे ही डरते हैं जैसे दूसरे देशो मे स्त्रिया पुरुषो से डरती हैं। इसलिये नर नारी मे बल की बात को लेकर हीनाधिकता बताना ठीक नहीं।

२-मूढता (ऊतो)- साधारण नारी उतनी ही मूढ़ होती है जितना कि साधारण नर। हां, जो पुरुष विद्याजीवी या बाह्य जगत से विशेष सम्पर्कवाले होते हैं और उनके घर की स्त्रियाँ इसी कोटि की नहीं होतीं तो उनकी दृष्टि में वे मूढ कहलातीं हैं। अन्यथा एक ग्राम्य नारी और ग्राम्य पुरुष की मूढता मे कोई खास अन्तर नही होता।

जहां नारी को विद्योपार्जन तथा बाहिरी सम्पर्क का विशेष अवसर मिलता है वहां नारी चतुरता या समझदारी के क्षेत्र में पुरुष से कम नहीं रहती।

३ मायाचार (कूटो)- नारी मे मायाचार न पुरुष से अधिक है न कम। और न सभी तरह का मायाचार बुरा कहा जा सकता है। मायाचार जहां द्वेष और हिंसा से सम्बन्ध रखता है वहीं वह मायाचार कहा जाता है, अन्यथा बहुतसा मायाचार तो शिष्टाचार और दया आदि का फल होता है। मायाचार कई तरह का होता है। क-लज्जाजनित, ख-शिष्टाचारी, ग-राहस्यिक, घ-तथ्य शोधक, ङ-आत्मरक्षक, च-प्रतिबोधक, छ-विनोदी, ज-प्रवञ्चक। इनमें से प्रवञ्चक ही वास्तविक मायाचार है बाकी सात भेदों मे तो सिर्फ मायाचार का शरीर है मायाचार का आत्मा नहीं है। उससे दूसरों के न्यायोचित अधिकारों को धक्का नहीं लगता इसलिये वे निन्दनीय नहीं कहे जा सकते।

क-लज्जाजनित मायाचार (लिजोजकूटो) किसी को ठगने की दृष्टि से नहीं होता, वह एक तरह की निर्बलता या संकोच का परिणाम होता है। बहुतसी नववधुओं में यह पाया जाता है। बहुत से लड़के लड़कियाँ विवाह के लिये इच्छुक हों तो भी लज्जावश उससे इनकार करेंगे, उससे दूर भागने का ढोंग करेंगे। यह लज्जाजनित मायाचार कहीं कहीं नारी में कुछ विशेष मात्रा में आ गया है। यह पर्दा आदि कुप्रथाओं का, बहुत काल से डाले गये संस्कारों का और कार्यक्षेत्र के भेद का परिणाम है, नारी का मौलिक दोष नहीं है। और जबतक यह अतिमात्रा में नहीं हो, जीवन के कार्यों में अड़ंगा न डाले तबतक तो यह सुन्दर भी है, आकर्षण की कला भी है, काम का अंग है, हिंसक नहीं है।

ख-शिष्टाचारी मायाचार (तुमंकुटो) भी क्षन्तव्य है। जब एक मुसलमान भोजन करने बैठता है तब पास मे बैठे हुए आदमी से, खास कर मुसलमान से कहता है--आइये, बिस्मिल्ला कीजिये। यह प्रेम-प्रदर्शन का एक शिष्टाचार है। हिन्दुओं में भी कहीं कहीं पानी के विषय में ऐसा शिष्टाचार पाया जाता है। एक भोज में बहुत से हिन्दू बैठे हैं एक सज्जन पानी पीने के लिये अपने लोटे में से कटोरी मे पानी भरते हैं और सब से कहते हैं लीजिये लीजिये। (अब यह शिष्टाचार प्रायः बन्द हो गया है) निःसन्देह वे समझते हैं कि पानी कोई लेगा नहीं, और यही समझ कर बताते हैं, इसलिये यह मायाचार है, परन्तु शिष्टाचारी मायाचार होने से क्षन्तव्य है। ऐसे शिष्टाचार कितने अंश में रखना चाहिये कितने अंश में नहीं, यह विचार दूसरा है पर जो भी शिष्टाचार के नाम पर रह जाय उसमें

अगर ऐसा मायाचार हो तो वह क्षमा करने योग्य है। यह शिष्टाचारी मायाचार नर नारी में बराबर ही पाया जाता है इससे नारी को दोष नहीं दिया जा सकता।

ग–राहस्यिक मायाचार (हूहिंड कूटो) क्षन्तव्य ही नहीं है बल्कि एक गुण है। मानलो पति पत्नी में कुछ झगड़ा हो रहा है इतने में बाहर से किसी ने द्वार खटखटाया। पति पत्नी ने इस विचार से कि बाहर के आदमी को दोनों के झगडे का पता कदापि न लगने देना चाहिये न दोनों के बीच से तीसरे को दखलंदाजी का मौका देना चाहिये, अपना झगड़ा छिपा लिया और इस प्रकार प्रसन्न मुख से दरवाजा खोला मानों दोनों में कोई विनोद हो रहा था। यह राहस्यिक मायाचार गुण है जोकि नर और नारी दोनों में पाया जाता है, और पाया जाना चाहिये।

घ–कभी कभी शिष्टाचार और वस्तु-स्थिति का पता लगाने के लिये मायाचार करना पड़ता है, जैसे किसी के घर जाने पर घरवाले ने कहा आइये भोजन कीजिये। अब यह पता लगाने के लिये मना कर दिया कि इसने सिर्फ शिष्टाचार-वश भोजन के लिये कहा है या वास्तव में इसके यहां भोजन कराने की पूरी तैयारी है। अगर तैयारी होती है तो वह दूसरे बार इस ढंग से अनुरोध करता है कि वस्तु-स्थिति समझ में आ जाती है, नहीं तो चुप रह जाता है। यह मायाचार तथ्य-शोधक (लसिको हिर) है क्योंकि इससे अनुरोध करनेवाले की वस्तुस्थिति का पता लगता है। यह अगर नारी में अधिक हो तब तो उसकी विवेकशीलता ही अधिक सिद्ध होगी।

ङ–अन्याय और अत्याचार से बचने के लिये जो मायाचार किया जाता है वह आत्म-रक्षक (एम रव) है। यह नर नारी में बराबर है और क्षन्तव्य है।

च–किसी आदमी को समझाने के लिये या उसकी भलाई करने के लिये जो मायाचार करना पड़ता है वह प्रतिबोधक मायाचार (दोजं कूटो) है। यह बड़े बड़े महापुरुषों में भी पाया जाता है बल्कि उनमें अधिक पाया जाता है, वह तो महत्ता का द्योतक है। हाँ, इसका प्रयोग निःस्वार्थता और योग्यता के साथ हो।

छ–हँसी विनोद में सब की प्रसन्नता के लिये जो मायाचार किया जाता है वह विनोदी मायाचार (हर्शं कूटो) है। यह भी क्षन्तव्य है। नर नारी में यह समान ही पाया जाता है।

ज–प्रवचक मायाचार (चीटं कूटो) वह है जहाँ अपने स्वार्थ के लिये दूसरों को धोखा दिया जाता है विश्वासघात किया जाता है। यही मायाचार वास्तविक मायाचार है, पाप है, घृणित है। यह सर्वथा त्याज्य है।

ऊपर के सात तरह के मायाचारों में तो सिर्फ इतना ही विचार करना चाहिये कि उनमें अति न हो जाय, उनका प्रयोग बेमौके न हो जाय, या इस ढंग से न हो जाय कि दूसरों की परेशानी वास्तव में बढ़जाय और उनको नुकसान उठाना पड़े। कुछ समझदारी के साथ उनका प्रयोग होना चाहिये बस, इतना ठीक है। सो इनके प्रयोग में नर नारी में विशेष अन्तर नहीं है।

आठवाँ प्रवचक मायाचार किस में अधिक है कहा नहीं जासकता? परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि यह मायाचार निर्बलता का परिणाम है। मनुष्य जहाँ क्रोध की निष्फलता समझलेता है वहां मायाचार का प्रयोग करता है। पीड़कों में क्रोध की अधिकता होती है पीड़ितों में मायाचार की। अगर कहीं नारी में थोड़ा बहुत मायाचार अधिक हो तो उसका कारण यह है कि नारी सहस्राब्दियों से पीड़ित है। जब वह क्रोध प्रगट नहीं कर सकती तब नरम पड़कर मायाचार से काम लेती है। यह परिस्थिति का प्रभाव है, स्वभाव नहीं। जहां उसे अधिकार है, बल है, लापर्वाही है वहां वह मायाचार नहीं करती क्रोध करती है और तब दुनिया उसे उग्र

या निर्लज्ज कहने लगती है। इन बातों का प्रभाव जैसा नर पर पड़ता है वैसा ही नारी पर। दोनों में कोई मौलिक भेद नहीं है।

४-भीरुता (डिडीरो)- यह निर्बलता का परिणाम है। निर्बलता के विषय में पहिले कहा जा चुका है। अधिकांश निर्बलता जैसे कृत्रिम है इसी प्रकार भीरुता भी कृत्रिम है। जहाँ स्त्रियाँ अर्थोपार्जन करती हैं वहा उनमें भीरुता पुरुष से बहुत अधिक नहीं है।

आर्थिक दृष्टि से मध्यम या उत्तम श्रेणी के कुटुम्बों में ही यह भीरुता अधिक पाईजाती है क्योंकि अर्थोपार्जन के क्षेत्र में उन्हें बाहर नहीं जाना पड़ता इसलिये बाहर के लिये उनमें भीरुता बहुत आगई। इसके अतिरिक्त एक बात यह और हुई कि इस श्रेणी के पुरुष भीरु स्त्रियों को अधिक पसन्द करने लगे। क्योंकि नारियों को अपनी कैद में रखने के लिये भीरुता की बेड़ी सब से अच्छी बेड़ी थी। इससे पुरुष बिना किसी विशेष कार्य के नारी की दृष्टि में अपनी उपयोगिता साबित करता रहता था।

नारी को भीरु बनाये रखने के लिये भीरुता की तारीफ होने लगी। भीरु, यह प्रेम का अच्छा से अच्छा संबोधन माना जाने लगा। भौंरे से डरकर प्रेयसी प्रियतम को सहायता के लिये पुकारती है यह काव्यशास्त्र का सुन्दर वर्णन समझा जाने लगा। पतन यहां तक हुआ कि भीरुता सतीत्व समझा जाने लगा।

रविषेणकृत जैन पद्मपुराण की एक कथा मुझे याद आती है कि नघुष नाम का राजा राज्य का भार अपनी पट्टरानी सिंहिका के हाथ में सौंपकर उत्तर दिशा में दिग्विजय के लिये निकला पर उधर दक्षिण दिशा के राजाओं ने राजधानी पर आक्रमण कर दिया। रानी ने सेना लेकर वीरता से उनका सामना किया, उन्हें हराया, इतना ही नहीं उसने दक्षिण की तरफ दिग्विजय यात्रा भी की और सब राजाओं को जीतकर राजधानी में आगई। इससे मालूम होता है कि रानियाँ भी राजाओं की तरह वीरता दिखाती थीं और युद्ध सञ्चालन करती थीं। परन्तु जब राजा आया और उसे मालूम हुआ कि रानी ने इतनी वीरता दिखाई है तब उसे बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा कि शीलवती स्त्रियों में इतनी अक्ल नहीं हो सकती। इससे उसने रानी का महिषीपद छीन लिया। इसके बाद दिव्ययोग से रानी की शील की परीक्षा हुई और उसमें वह सच्ची निकली इत्यादि कथा है।

इस कथा से इतना तो मालूम होता है कि एक दिन क्षत्राणियों में वीरता होना पुरुषों की दृष्टि में शीलभंग का चिह्न समझा जाने लगा था। भीरुता की तारीफ होने लगी थी। उनकी वीरता आत्महत्या [जौहर] में समाप्त होने लगी थी। इस प्रकार जहाँ भीरुता की तारीफ और वीरता से घृणा होने लगी हो, वीरता अकुलीनता (कुजंजो) और शीलहीनता (नेमिज्जो) का चिह्न समझी जाने लगी हो, वहाँ नारी अगर भीरु हो गई तो उसमें उसका कोई स्वभावदोष नहीं कहा जा सकता। इतना ही कहा जासकता है कि शताब्दियों तक पुरुषों ने जो षड्यन्त्र किया वह सफल हो गया। यह नारी का स्वभाव-दोष नहीं है, कृत्रिम है, शीघ्र मिट सकता है।

५-विलासिता (चिंगीरो)- यह दोनों का दोष है। कहीं नर में यह अधिक होती है कहीं नारी में। विलासप्रियता बढ़ने के यों तो अनेक कारण है पर एक मुख्य कारण आर्थिक है। जहा नारी सम्पत्ति की मालकिन नहीं है वहा उसमें उत्तरदायित्व कम हो जाय यह स्वाभाविक है। जिस प्रकार दूसरे के यहा भोज में गये आदमी खूब लापर्वाही से खाते हैं, नुकसान की चिन्ता नहीं करते, उसी प्रकार उस नारी में एक प्रकार की लापर्वाही आ जाती है। जो मालकिन नहीं है वह सिर्फ अधिक से अधिक विलास की बात सोचती है, अकर्मण्य और आलसी बनती है।

नारियों में जो आभूषणप्रियता पाई जाती है उसका कारण शृंगार या बड़प्पन दिखाने की

भावना ही नहीं है किन्तु आर्थिक स्वामित्व की आकांक्षा भी है, बल्कि यही कारण अधिक है। अन्य सम्पत्ति पर तो सारे कुटुम्ब का हक रहता है और उसकी मर्जी के विरुद्ध सहज में ही उसका उपयोग किया जा सकता है इसलिये नारी भूषणों के रूप में सम्पत्ति का संग्रह करती है। इसे भी लोग विलास कहते हैं जब कि इसका मुख्य कारण आर्थिक है।

विलास-प्रियता का एक कारण और है कि आर्थिक पराधीनता-प्राप्त नारी को पुरुष ने अपने विलास की सामग्री बनाया। अगर नारीमें विलास नहीं मिला तो पुरुष इधर उधर आंखे डालने लगा इसलिये भी नारी को विलासिनी बनना पड़ा। पुरुष भी इसे पसन्द करता है। वह इससे घृणा करता है तभी, जब विलास के वह साधन नहीं जुटा सकता या उसके अन्य कामों में बाधा आती है। इसलिये विलासिता का दोष केवल नारीपर नहीं डाला जासकता, इसका उत्तरदायित्व व्यापक है, सामाजिक है।

६ अनुदारता (नोमंचो)-नारी का कार्य-क्षेत्र घर है इसलिये उसके विचारो में संकुचितता आ गई है। यह नारीत्व का दोष नहीं है, कार्यक्षेत्र का दोष है। आम तौर पर पुरुषों में भी यह दोष पाया जाता है। एक बात यह है कि नारीका सन्तान के साथ घनिष्ट सम्पर्क होने से पहिले वह इस छोटे से संसार को बना लेना चाहती है, अमुक अंश मे यह आवश्यक भी है। फिर भी अनुदारता कम करने की जो जरूरत है उसकी पूर्ति वहां जल्दी हो जाती है जहा नारी घर के बाहर काफी निकलती है और थोड़े बहुत अंशो में सामाजिक आदि व्यापक कार्यों में भाग लेती है।

७ कलहकारिता (खूरीरो)-यह पुरुषों और नारियो में एक समान है। घर के बाहर रहने से पुरुष के हाथ में बडी शक्तिया आ गई हैं इसलिये वह कलम से और तलवारो से कलह करता है, नारिया मुंह से कलह करती हैं। पुरुष को घर के काम नहीं करना पडते इसलिये वह घर कलह को क्षुद्र कह कर हंसता है। पर जब उसे घरू काम करना पडता है तब यह हँसी बन्द हो जाती है। मैंने देखा है कि जब पुरुष को काफी समय तक नारियो के समान घरू काम करना पड़ते हैं तब वह भी उन बातों में कलहकारी बन जाता है। कलह बुरी चीज है पर वह नर नारी दोनो में है। नारीनिन्दा से पुरुष निर्दोष नहीं हो सकता, दोनों को अपनी कलहकारिता घटाना चाहिये और छोटी छोटी बातों में कलह न हो इसके लिये यह जरूरी है कि नारीके हाथ में बड़ी बातें भी आयें जिससे कलह-शक्ति का रूपान्तर किया जाय।

जैसे एक नारी व्याख्यान देना और लेख लिखना जानती हो तो इसका स्वाभाविक परिणाम होगा कि उसकी कलह शक्ति सैद्धान्तिक विवेचन और तार्किक खंडन मंडनमें बदल जायगी और कलह के छोटे छोटे कारणो पर वह उपेक्षा करने लगेगी। मतलब यह है कि कलहकारिता नर नारी में समान है। जो भेद है वह कार्यक्षेत्र आदि का है। उसे रूपान्तरित करने की जरूरत है जिससे वह क्षुद्र और हानिकर न रह जाय।

८ परापेक्षता (बुमटिगो)-प्राणीमात्र परापेक्ष हैं, खास कर जहाँ समाज रचना है वहाँ परापेक्षता विशेष रूपमे है। वह नर में भी है और नारी मे भी है। फिर भी अगर नारीमें पुरुष से कुछ अधिक परापेक्षता है तो उसका कारण वह भीरुता और अर्थोपार्जन की अशक्ति है जो समाज ने व्यवस्था के लिये उसपर लाद दी है। यह दोष अन्य कृत्रिम दोषोंपर आश्रित है यह स्वतंत्र दोष नहीं है।

९ दीनता (नूहो)-इसका कारण भी समाज की वह आर्थिक व्यवस्था है जिसने नारीको कंगाल बनाया है।

१० रूढिमोह (रूलुट्टो मुहो) यह दोनो मे है, यह मनुष्यमात्र का दोष है। नारियों में अगर कुछ विशेष मात्रा में है तो इसका कारण शिक्षण तथा जगत के विशाल अनुभव का अभाव है।

यह कमी पूरी हो जाने पर रूढ़िमोह नष्ट हो सकता है।

११ क्षुद्रकर्मता (कीतकज्जो)–नारी को जो कार्यक्षेत्र दिया गया उसमें वह सफलता से काम कर रही है, अगर बड़े काम दिये जाय या जहां दिये जाते है वहां भी वह सफलता से काम करती है, साथ ही उद्योग धंधे और व्यापार में तो वह पुरुष के समान हो ही जाती है। सेना पुलिस आदिके कामोंमें भी वह सफल होती है। इसलिये क्षुद्रकर्मता उसका स्वभाव नहीं कहा जा सकता।

दूसरी बात यह है कि नारी का काम क्षुद्र नहीं है। मनुष्य निर्माण का जो कार्य नारी को करना पड़ता है वह पुरुष को नहीं करना पड़ता नारी के इस कार्य का मूल्य तो है ही, घरू कामों का मूल्य भी आर्थिक दृष्टि से कम नहीं है।

पुरुष के मूल्य की महत्ता साम्राज्यवाद और पूँजीवाद के कारण है। इनके कारण मनुष्य बदमाशी, बेईमानी, विश्वासघात, क्रूरता आदि के बदले में सम्पत्ति पाता है। ये पाप हट जाय और सेवा तथा त्याग के अनुसार ही यदि मनुष्य का आर्थिक मूल्य निश्चित किया जाय तो नर नारी का आर्थिक मूल्य समान ही होगा। इसलिये क्षुद्रकर्मता नारी का स्वभाव नहीं कहा जा सकता।

१२ अधैर्य (नोधिरो)– इस विषय में तो पुरुष की अपेक्षा नारी ही श्रेष्ठ होगी। पुरुष जब घबरा जाता है तब नारी ही उसे धैर्य देती है। सहिष्णुता नारी में पुरुष की अपेक्षा भी अधिक है इसलिये उसमें धैर्य अधिक हो यही अधिक सम्भव है। खैर, इस विषय में पुरुष अधिक हो या नारी, पर यह सब अधिकता जन्मजात नहीं है जिससे नारी नर के साथ इस का सम्बन्ध जोड़ा जासके।

१३–उपभोग्यता (भ्रूशगेरो)– उपभोग्य नारी भी है और नर भी। दोनों एक दूसरे के उपभोग्य उपभोक्ता, मित्र और सहयोगी हैं। अगर नारी सिर्फ उपभोग्य होती तो नर नारी के मिलन का सुख और इच्छा सिर्फ नरमें होती, नारी में नहीं, परन्तु दोनो में इच्छा होती है, सुख होता है इसलिये जैसा नर उपभोक्ता है वैसे नारी भी। इसीलिये व्यभिचार आदि जैसे नर के लिये पाप हैं वैसे नारी के लिये भी। नारी अगर उपभोग्य ही हो तो वह व्यभिचारिणी कभी न कहलावे, वह सिर्फ व्यभिचार्य ही बन सके, जैसे चोरी में मनुष्य ही चोर कहलाता है धन चोर नहीं कहलाता। इस प्रकार किसी भी तरह पुरुष उपभोक्ता और स्त्री उपभोग्य नहीं हो सकती। जो कुछ हैं दोनो समान हैं।

इस प्रकारके और भी दोष लगाये जासकेंगे और उनका परिहार भी किया जासकेगा। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि नारी सर्वथा निर्दोष है और पुरुष ही दोषी है। दोनों में गुण हैं, दोनोंमें दोष हैं। परिस्थितिवश और चिरकाल के संस्कारवश किसी में एक दोष अधिक होगया है और किसी में कोई दूसरा। मौलिक दृष्टिसे दोनों समान हैं।

नर नारी का कुछ अन्तर तो आवश्यक है वह रहना चाहिये और रहेगा भी कुछ अन्तर अनावश्यक या हानिकर है वह मिटना चाहिये अन्त में कुछ विशेषता नारी मे रह जायगी और कुछ नर में, इस प्रकार उनमें कुछ आवश्यक विषमता रहेगी परन्तु उससे उनका दर्जा असमान न होगा।

नारीत्व और पुरुषत्व तो गुणरूप हैं उस में तो व्यक्तित्व गौण है इसलिये उनके समान दर्जे पर तो आपत्ति है ही नहीं।

इन कारणों से लिंगजीवन के चार भेद नहीं किये गये क्योंकि नारीजीवन और नरजीवन में तरतमता नहीं हो सकती थी।

प्रश्न–नरत्व और नारीत्व भले ही समान हों परन्तु इनकी समानता के प्रचार से समाज की बड़ी हानि है। संस्कृत की एक कहावत है कि जहां कोई मालिक नहीं होता या जहां बहुत मालिक होते हैं वहां विनाश होजाता है (अना-

यक्षाः विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायका.) नर नारी की समानता से हमारे घर अनायक या बहुनायक बनकर नष्ट हो जायँगे। ईंट पर ईंट रखने से घर बनता है, ईंट की बराबरी से ईंट रखने से मैदान तो ईंटों से भर जायगा पर घर न बनेगा।

उत्तर—अनायक बहुनायक की बात वहीं ठीक जमती है जहां व्यक्तियों के व्यक्तित्व बिलकुल अलग अलग होते हैं। पति पत्नी दो प्राणी होनेपर भी अकेले अकेले वे इतने अधूरे हैं और उनमें मिलन इतना आवश्यक है कि उन दोनों का व्यक्तित्व प्रतिस्पर्द्धा का कारण कठिनता से ही बनेगा। उनकी स्वाभाविक इच्छा एक दूसरे में विलीन होने की, एक दूसरे को खुश रखने की और एक दूसरे के अनुयायी बनने की होती है तभी दाम्पत्य सफल और सुखकर होता है। इसलिये अनायक बहुनायक का प्रश्न वहां उठना ही न चाहिये। फिर भी हो सकता है कि कहीं पर दाम्पत्य इतना अच्छा न हो, तो वहां के लिये निम्नलिखित सूचनाओं पर ध्यान देना चाहिये—

१—योग्यतानुसार कार्य का विभाग कर लेना और अपने कार्यक्षेत्र में ही अपनी बात का अधिक मूल्य लगाना।

२—अपने क्षेत्र की स्वतन्त्रता का उपयोग ऐसा न करना जिससे दूसरे के कार्यक्षेत्र की परेशानी बढ़ जाय।

३—सब मिलाकर जिसकी योग्यताका टोटल अधिक हो उसे नायक या मुख्य स्वीकार कर लेना।

४—कौन नायक है और कौन अनुयायी इसका पता यथायोग्य बाहर के लोगों को न लगने देना।

इस प्रकार गृह व्यवस्था अच्छी तरह चलने लगेगी। ईंट पर ईंट जम जायगी और घर बन जायगा। अन्तर इतना ही होगा कि नरनारी में से हमने अमुक को ही ऊपर की ईंट समझ रक्खा है और अमुक को ही नीचे की ईंट, यह अन्धेर निकल जायगा। योग्यतानुसार कहीं नारी ऊपर की ईंट होगी कहीं नर, इस प्रकार न्याय की रक्षा भी होगी और व्यवस्था और समभाव बना रहेगा।

सुव्यवस्था का अधिकांश श्रेय दोनों की एकत्व भावना को ही मिल सकता है वह न हो तो निम्न सूचनाएँ सभी व्यर्थ जायँगी। खैर, दाम्पत्य की समस्या मानव जीवन की महान से महान समस्या है। इस पर थोड़ा बहुत विचार व्यवहार कांड में किया जायगा। यहां तो एकलिंगी जीवन मे नरत्व या नारीत्व के अमुक गुणों को अपनाकर जीवन को कुछ सार्थक करने की बात है।

३ उभयलिंगी जीवन (दुमनंगिर जिवो)—जिस मनुष्य में नरत्व और नारीत्व के गुण काफी मात्रा में हैं वह उभयलिंगी मनुष्य (नर या नारी) है। प्रत्येक मनुष्य को गुण में और कार्यों में उभयलिंगी होना चाहिये। बहुत से मनुष्य इतने भावुक होते हैं कि बुद्धि की पर्वाह ही नहीं करते, वे एकलिंगी नारीत्ववान् मनुष्य अपनी भावुकता से जगत को जहां कुछ देते हैं वहां बुद्धि-हीनता के कारण जगत का काफी नुकसान कर जाते हैं। इसी प्रकार बहुत से मनुष्य जीवन भर अवसर अनवसर देखे बिना बुद्धि की कसरत दिखाते रहते हैं उनमें भावुकता होती ही नहीं। वे अपनी तार्किकता से जहां जगत को कुछ विचारकता देते हैं वहां भावना न होने से विचारकता का उपयोग नहीं कर पाते। और दिग्भ्रम में ही उनका जीवन समाप्त होता है। ये एकलिंगी पुरुषत्ववान मनुष्य भी देने की अपेक्षा हानि अधिक कर जाते हैं, इसलिये जरूरत इस बात की है कि मनुष्य बुद्धि और भावना का समन्वय कर उभयलिंगी बने तभी उसका जीवन सफल हो सकता है।

नारीत्व और नरत्व के सभी गुण हरएक मनुष्य पा सके यह तो कठिन है फिर भी खास खास गुण और कार्य हरएक मनुष्य में अवश्य होना चाहिये। बुद्धि और भावना का समन्वय

उसमें मुख्य है। इसके अतिरिक्त शक्ति और सेवा का समन्वय, यथासाध्य कला और विज्ञान का समन्वय, काम और मोक्ष का समन्वय, उपार्जन और रक्षण का समन्वय हरएक मनुष्य में होना चाहिये। सुविधा के अनुसार अगर नारी का कार्यक्षेत्र घर और पुरुष का कार्यक्षेत्र बाहर बना लिया गया है तो वह भले ही रहे परन्तु एक दूसरे के काम में थोड़ी बहुत भी सहायता कर सकने लायक योग्यता न हो तो यह अधूरा जीवन दुःखप्रद होगा। एक दूसरे का काम थोड़े बहुत अंश में कर सकें ऐसी योग्यता हरएक में होना चाहिये और जीवनचर्या भी आवश्यकतानुसार उसके अनुरूप ही बनाना चाहिये।

प्रश्न- जगत में जो राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद आदि महापुरुष हो गये हैं उन सबके जीवन एकलिंगी [पुरुष लिंगी] ही थे फिर भी ये महान् हुए, जगत की महान सेवा कर सके। क्या एकलिंगी होने से आप इन्हें अपूर्ण या मध्यम श्रेणी का जीवन कहेंगे ?

उत्तर-एकलिंगी जीवन भी महान् हो सकता है। फिर भी वह आदर्श और पूर्ण हो नहीं सकता। किसी के पास अगर लाख रुपये के गेहूं हैं तो उसके द्वारा वह पेट भर सकता है, दान दे सकता है, लखपति कहला सकता है परन्तु स्वादिष्ट और स्वास्थ्य-कर भोजनके लिये उसे कुछ गेहूँ के बदले में दाल चावल शाक नमक आदि लाना पड़ेगा। एक लाख के गेहूँ से महत्ता पैदा होगी स्वादिष्टता और स्वास्थ्य-करता नहीं। इसी प्रकार बहुत से महापुरुष महान् होकर के भी एकलिंगी होते हैं उनकी महत्ता से लाभ उठाना चाहिये, आदर्श जीवन बनाने के लिये उनसे जो सामग्री मिल सके वह लेना चाहिये पर आदर्श या अनुकरणीय तो उभयलिंगी जीवन है।

परन्तु ऊपर जिन महापुरुषों के नाम लिये गये हैं उनके जीवन एकलिंगी जीवन नहीं हैं, उनमें सभी के जीवन उभयलिंगी हैं। म. कृष्ण तो आदर्श ही हैं। उनने कंस वध, शिशुपाल-वध आदि में वीरता का तथा अन्य अनेक पुरुषोचित गुणोंका परिचय देकर जहाँ पुरुषत्व का परिचय दिया है वहाँ हास्य, विनोद, संगीत, सेवा, प्रेम, वात्सल्य आदि का परिचय देकर नारीत्व का परिचय भी दिया है। भावना और बुद्धि का उनके जीवन में इतना सुन्दर समन्वय हुआ है कि उसे असाधारण कहा जा सकता है और एक इसी बात से वे उभयलिंगी के रूपमें हमारे सामने आते हैं। महापुरुषों का उभयलिंगीपन उनकी भावना और बुद्धि के समन्वय से जाना जा सकता है, प्रेम और विवेक, सेवा और वीरता का समन्वय भी उभयलिंगीपन के चिह्न हैं, ये बातें उपर्युक्त सभी महापुरुषों में पाई जाती हैं।

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्र जी की वीरता तो प्रसिद्ध ही है। न्यायप्राप्त राज्य का त्याग, पत्नी के लिये एक असाधारण महान सम्राट् से युद्ध, प्रजारञ्जन के लिये सीता का भी त्याग, आवश्यक रहने पर भी और समाज की अनुमति मिलने पर भी एक पत्नी रहते दूसरी का ग्रहण न करना इस प्रकार की भावुकताके सामने बड़ी बड़ी भावुकताएँ पानी भरेंगी। इस प्रकार म. राम में हम बुद्धि, भावना और शक्ति का पूरा समन्वय पाते हैं। जङ्गल में जाकर वे बिना किसी सम्पत्ति और नौकर चाकर के गार्हस्थ्यजीवन बिता सके इससे उनकी गृहकार्यकुशलता मालूम होती है। उनकी प्रामाणिक दिनचर्या का परिचय नहीं मिलता, नहीं तो उनके अन्य कार्य भी बताये जा-सकते।

म. महावीर और म. बुद्ध तो महान तार्किक और क्रान्तिकारी थे, गृहत्याग करके उनने जन-सेवा का काफी पाठ पढ़ाया था। अपनी अपनी साधुसंस्था में उनने खान पान स्वच्छता आदि के बारे में साधुओं को स्वावलम्बी बनाया था। वे स्वयं स्वावलम्बी थे। इस प्रकार उनमें पुरुषत्व और नारीत्व का पूरा समन्वय था।

म. ईसा में पुरुषत्व तो था ही, जिसके बल

पर वे मन्दिरों के महन्तों के सामने सात्विक युद्ध करते थे, कुरुढ़ियों को नष्ट करते थे। इधर उनकी जनसेवा इतनी अधिक थी कि नारीत्व अपना सार भाग लेकर उनमें चमक उठा था।

हजरत मुहम्मद का योद्धा-जीवन तो प्रसिद्ध ही है पर क्षमा-शीलता, प्रेम आदि नारीत्व के गुण भी उनमें कम नहीं थे। गृहकार्य में तत्परता तो उनमें इतनी थी कि बादशाह बन जानेपर भी वे अपने ऊँट का खुरेरा अपने हाथों से ही करते थे।

और भी अनेक महापुरुषों के जीवन को देखा जाय तो उनका जीवन उभयलिंगी मिलेगा। जिनमें ये दो बातें हैं, एक तो वह प्रेम, जिससे वे जनसेवामें जीवन लगाते हैं [नारीत्व] दूसरे वह बुद्धि और शक्ति जिससे वे विरोधियों का सामना करते हैं (पुरुषत्व), वे उभयलिंगी महापुरुष हैं।

प्रश्न--अगर इस प्रकार बुद्धि भावना के समन्वय से ही मनुष्य उभयलिंगी माने जाने लगेंगे तो प्राय: सभी आदमी उभयलिंगी हो जॉयँगे। क्योंकि थोड़ी बहुत बुद्धि और भावना सभी में पाई जाती है।

उत्तर--एक भिखारी के पास भी थोड़ा बहुत धन होता है पर इसी से उसे धनवान नहीं कहते। धनवान होने के लिये धन काफी मात्रा में होना चाहिये। इसी प्रकार बुद्धि और भावना जहा काफी मात्रा में हो और उनका समन्वय हो वहीं उभयलिंगी जीवन समझना चाहिये।

प्रश्न--क्या बुद्धि-भावना-समन्वय से ही उभयलिंगी जीवन बन जायगा ? जो मनुष्य स्त्रियोचित या पुरुषोचित आवश्यक काम भी नहीं कर पाता क्या वह भी उभयलिंगी जीवन-वाला है ?

उत्तर--नहीं, हम जिस परिस्थिति में हैं उससे कुछ अधिक ही स्त्रियोचित और पुरुषोचित कार्य करने की क्षमता हमारे भीतर होना चाहिये क्योंकि परिस्थिति बदल भी सकती है। इस विषय का कोई निश्चित माप तो नहीं बनाया जा सकता परन्तु साधारणत: अपनी आवश्यकता को पूर्ण करने वाला, नई परिस्थितियों के अनुकूल हो सकने वाला, समन्वय अवश्य होना चाहिये। बुद्धि भावना का समन्वय तो आवश्यक है ही। इसी तरह शक्ति [फिर वह शारीरिक, वाचनिक या मानसिक कोई भी हो] और व्यवस्था का समन्वय भी आवश्यक है। थोड़ी बहुत न्यूनाधिकता का विचार नहीं है पर दोनों अंश पर्याप्त मात्रा में हों तो वह उभयलिंगी जीवन होगा। लैंगिक दृष्टि से यह पूर्ण मनुष्य है।

नर और नारी के जीवन का व्यावहारिक रूप क्या होना चाहिये इस पर एक लम्बा पुराण बन सकता है। इस विषय में यथाशक्ति थोड़ा व्यवहार कांड में लिखा जायगा। यहां तो सिर्फ यह बताया गया है कि नर नारी के जीवन के विषय में हमारी दृष्टि कैसी होना चाहिये ? नर नारी व्यवहार के अच्छे बुरेपन की परीक्षा जिस दृष्टि से करना चाहिये वही दृष्टि यहां बताई गई है।

१०-यत्नजीवन (घटो जिवो)

[तीनभेद]

मानवजीवन यत्न-प्रधान है। मनुष्य का बच्चा प्राय: अन्य सब जानवरों की अपेक्षा अधिक कमजोर और असमर्थ होता है। गाय भैंस का बच्चा एक दिन का जितना ताकतवर, चञ्चल और स्वाश्रयी होता है उतना मनुष्य का बच्चा वर्षों में भी नहीं हो पाता। फिर भी मनुष्य का बच्चा अपने जीवन में जितना विकास करता है उतना कोई भी दूसरा प्राणी नहीं कर पाता। पशुओं के विकास के इस किनारे से उस किनारे में जितना अन्तर है उससे बीसों गुणा अन्तर मनुष्य के विकास के इस किनारे से उस किनारे तक है। इतना लम्बा फासला दूर करने के लिये मनुष्य को पशुओं की अपेक्षा बीसों गुणा यत्न भी करना पड़ता है। इसलिये मनुष्य यत्न प्रधान प्राणी है। इसके जीवन में जानवरों के समान

दैव या भाग्य की मुख्यता नहीं है। फिर भी कुछ मनुष्य ऐसे हैं कि जो दैव के भरोसे बैठे रहते हैं और कुछ पूरा यत्न नहीं करते। इस विषय को लेकर मानव-जीवन की तीन श्रेणियाँ होतीं हैं। १ दैववादी, २ दैव-प्रधान। ३ यत्न-प्रधान।

१ दैववादी (वूडोवादिर)-दैववादी वे अकर्मण्य मनुष्य हैं जो स्वयं कुछ करना नहीं चाहते, दूसरे करुणावश कुछ दे देते हैं उसे अपना भाग्य समझते हैं अपनी दुर्दशा और पतन को भी दैव के मत्थे मढ़ देते हैं और अपने दोष नहीं देखते, ये जघन्य श्रेणी के मनुष्य हैं।

२ दैवप्रधानवादी (वूडोचिन्दोवादिर)-दैव-प्रधान वे हैं जो परिस्थिति जरा प्रतिकूल हुई कि दैव का रोना रोने लगते हैं और कुछ नहीं कर पाते।

३ यत्नप्रधान (घटो चिन्दोवादिर)- यत्न-प्रधान वे हैं जो दैव की पर्वाह नहीं करते। वे यही सोचते हैं कि दैव अपना काम करे और मैं अपना करूंगा। परिस्थिति अगर प्रतिकूल हो तो वे उसकी भी पर्वाह नहीं करते। दैव का अगर जोर चल भी जाता है तो वे निराश नहीं होते, एक बार असफल होकर भी कार्य में डटे रहते हैं। 'विधाता की रेख पर मेख मारना' यह कहावत जिनके कार्यों के लिये प्रसिद्ध है, वे ही यत्न-प्रधान हैं। बड़े बड़े क्रान्तिकारी वीर तीर्थंकर पैगम्बर अवतार साम्राज्य-संस्थापक आदि इसी श्रेणी के होते हैं।

इन तीनों का अन्तर समझने के लिये एक उपमा देना ठीक होगा। एक आदमी ऐसा है जो पकी-पकाई रसोई तयार मिले तो भोजन कर लेगा नहीं तो भूखा पड़ा रहेगा-यह दैववादी है। दूसरा ऐसा है जो अपने हाथ से पकाकर खा सकता है लेकिन पकाने की सामग्री न मिले तो भूखा रहेगा वह दैव-प्रधान है। तीसरा ऐसा है जो हर हालत मे पेट भरने की कोशिश करेगा। सामग्री न होगी तो बाजार से खरीद लायेगा, पैसा न होंगे तो मिहनत मजूरी से पैदा पैदा करेगा या खेती करके अनाज उत्पन्न करेगा यह यत्न प्रधान है। इस उपमा से तीनों का अन्तर ध्यान में आ जायगा।

प्रश्न-जैसे आपने दैववादी और दैवप्रधान दो भेद किये वैसे यत्नवादी और यत्न-प्रधान ऐसे दो भेद क्यों नहीं करते हैं?

उत्तर-दैववादी और दैवप्रधान होने से कर्तृत्व में अन्तर होता है परन्तु यत्नवादी और यत्न प्रधान होने से कर्तृत्व में अन्तर नहीं होता इसलिये इन में भेद बतलाना उचित नहीं।

प्रश्न-जो मनुष्य ईश्वर परलोक पुण्य पाप भाग्य आदि को मानता है वही दैववादी बनता है जो इनको नहीं मानता वह दैववादी किसके बलपर बनेगा? इसलिये मनुष्य नास्तिक बने यह सब से अच्छा है।

उत्तर-दैववादी बनने के लिये ईश्वर परलोक आदि मानने की जरूरत नहीं है। पशुपक्षी प्राय: सभी ईश्वर परलोक आदि नहीं मानते, नहीं समझते, फिर भी वे दैववादी हैं और बड़े बड़े नास्तिक भी अकर्मण्य और दैववादी होते हैं।

प्रश्न-दैव से आपका मतलब क्या है?

उत्तर-हमारी वर्तमान परिस्थिति जिन कारणों का फल है उनको हम दैव कहते हैं। जैसे मानलीजिये कि जन्म से ही कोई कमजोर है इस कमजोरी का कारण किसी के शब्दों में पूर्व जन्म के पाप का उदय है, किसी के शब्दों में माता पिता की अमुक भूल है, किसी के शब्दों में प्रकृति का प्रकोप है। इस प्रकार आस्तिक और नास्तिक सभी के मत से उस कमजोरी का कुछ न कुछ कारण है। यही दैव है, वह ईश्वर प्रकृति कर्म आदि कुछ भी हो सकता है इसलिये दैव को आस्तिक भी मानते हैं और नास्तिक भी मानते हैं।

प्रश्न-तब तो दैव एक सत्य वस्तु मालूम होती है फिर दैववाद मे बुराई क्या है जिससे दैववादी को आप जघन्य श्रेणी का कहते हैं।

उत्तर-दैव बात दूसरी है और दैववाद बात दूसरी। दैव सत्य है परन्तु दैववाद असत्य। जब

दैव की मान्यता यत्न के ऊपर आक्रमण करने लगती है तब उसे दैववाद कहते हैं। जैसे जो आदमी जन्म से कमजोर या गरीब है वह अगर कहे कि मेरी यह कमजोरी और गरीबी भाग्य से है तो इसमें कोई बुराई नहीं है यह दैव का विवेचन-मात्र है। परन्तु जब वह यह सोचता है कि 'मैं गरीब बना दिया गया, कमजोर बना दिया गया अब मैं क्या कर सकता हूं, जो भाग्य में था सो हो गया, अब क्या? जो कुछ भाग्य में होगा सो होकर रहेगा अपने करने से क्या होता है' यह दैववाद है, इससे मनुष्य कर्म में अनुत्साही, कायर और अकर्मण्य बनता है। पशुओं में यही बात पाई जाती है, वे दैव का विवेचन नहीं कर सकते हैं परन्तु दैवने उन्हें जैसा बना दिया है उससे ऊंचे उठनेकी कोशिश नहीं कर सकते; उनका विकास उनके प्रयत्न का फल नहीं किन्तु प्रकृति या दैव का फल होता है। कोई पशु बीमार हो जाय तो बाकी पशु उसका साथ छोड़ कर भाग जायँगे और वह मरने की बाट देखता हुआ मर जायगा। कोई कोई पशु और पक्षियों में इससे कुछ ऊँची अवस्था भी देखी जाती है पर वह बहुत कम होती है अथवा उतने अंशों में उन्हें दैव-प्रधान या यत्न-प्रधान कहा जासकता है।

प्रश्न—बड़े बड़े महात्मा लोग भी दैव के ऊपर भरोसा रख कर निश्चिन्त जीवन बिताते हैं वे भविष्य की चिन्ता नहीं करते यह भी दैववाद है। अगर दैववाद से मनुष्य महात्मा बन सकता है तब दैववाद सर्वथा निंदनीय कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर—पशु की निश्चिन्तता में और महात्मा की निश्चिन्तता में अन्तर है। पशु की निश्चिन्तता अज्ञान का फल है और महात्मा की निश्चिन्तता ज्ञान का फल। दैववाद की निश्चिन्तता एक तरह की जड़ता या अज्ञानता का फल है। महात्मा लोग तो यत्न-प्रधान होते हैं इसीलिये वे महात्मा बन जाते हैं। दैव के भरोसे मनुष्य महात्मा नहीं बन सकता। दैववादी तो जैसा पशुतुल्य पैदा होता है वैसा ही बना रहता है उनका आत्मिक विकास नहीं होता। आत्मिक विकास के लिये भीतरी और बाहरी काफ़ी प्रयत्न करना पड़ता है। एक बात यह भी है कि महात्माओं की निश्चिन्तता भी कर्मफल की निश्चिन्तता होती है, कर्म की नहीं। अवस्था-समभावी होने के कारण वे कर्मफल की पर्वाह नहीं करते, पर कर्म की पर्वाह तो करते हैं। कर्मफल की तरफ़ से जो लापर्वाही है वह दैववाद का फल नहीं अवस्था-समभाव का फल है।

प्रश्न—दैव और यत्न इनमें प्रधान कौन है और किसकी शक्ति अधिक है? यत्न की शक्ति अगर अधिक हो तब तो यत्न-प्रधान होने से लाभ है, नहीं तो दैव-प्रधान ही मनुष्य को बनना चाहिये।

उत्तर—अगर दैव की शक्ति अधिक हो तो भी हमें दैव-प्रधान न बनना चाहिये। हमारे हाथ में यत्न है इसलिये यत्न-प्रधान ही हमें बनना चाहिये। हम जानते हैं कि एक ही भूकम्प में हमारे गगनचुम्बी महल राख हो सकते हैं और हो जाते हैं फिर भी हम उन्हें बनाते हैं और भूकम्प के बाद भी बनाते हैं और उससे लाभ भी उठाते हैं। समुद्र के भयंकर तूफान में बड़े बड़े जहाज उलट जाते हैं फिर भी हम समुद्र में जहाज चलाते हैं। प्रकृति की शक्ति के सामने मनुष्य की शक्ति ऐसी ही है जैसे पहाड़ के सामने एक कण, फिर भी मनुष्य प्रयत्न करता है और इसी से मनुष्य अपना विकास कर सका है। इसलिये दैव की शक्ति भले ही अधिक हो परन्तु उसे प्रधानता नहीं दी जा सकती। दैव की शक्ति कितनी भी रहे परन्तु देखना यह पड़ता है कि अमुक जगह और अमुक समय उसकी शक्ति कितनी है? उस जगह हमारा यत्न काम कर सकता है या नहीं? शीत ऋतु में जब चारों तरफ़ कड़ाके की ठंड पड़ती है तब हम उसको हटाने की ताकत नहीं रखते, परन्तु ठंड के उस विशाल समुद्र में से जितनी ठंड हमारे कमरे में या शरीर के आसपास है उसे दूर करने का यत्न हम करते हैं, अग्नि या कपड़ों के द्वारा हम उस

ठंड से बचे रहते हैं। यह प्रकृति पर मनुष्य की विजय है–इसे ही हम दैव पर यत्न की विजय कह सकते हैं। जहाँ दैव की प्रतिकूलता अधिक और यत्न कम होता है वहाँ यत्न हार जाता है और जहाँ दैव की प्रतिकूलता कम और यत्न अधिक है वहा दैव हार जाता है। इसलिये यत्न सदैव करते रहना चाहिये।

एक बात और है कि दैव की शक्ति कहा, कितनी और कैसी है यह हम नहीं जान सकते, दैव की शक्ति का पता तो हमे तभी लगता है जब कि अनेक बार ठीक ठीक और पूरा प्रयत्न करने पर भी हमें सफलता न मिले। इसलिये दैव की शक्ति अजमाने के लिये भी तो यत्न की आवश्यकता है। और इसका परिणाम यह होगा कि हमें यत्नशील होना पडेगा।

कभी कभी ऐसा होता है कि दैव की शक्ति यत्न से क्षीण की जाती है, शुरू में तो ऐसा मालूम होता है कि यत्न व्यर्थ जा रहा है पर अन्त में यत्न सफल होता है। जैसे एक आदमी के पेट मे खूब विकार जमा हुआ है, उस विकार से उसे बुखार आया इसलिये लंघन की, पर फिर भी बुखार न उतरा, आता ही रहा, तो यहा बुखार का कारण लंघन नहीं है, लंघन तो बुखार को दूर करने का कारण है परन्तु जब तक लंघनें जितनी चाहिये उतनी नहीं हुईं तब तक बुखार का जोर रहेगा और लंघनें चालू रहने पर चला जायगा। पेट में जमा हुआ विकार यदि दैव है तो लंघन यत्न। प्रारम्भ मे दैव बलवान है इसलिये लंघन-रूप यत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती परन्तु यत्न जब चालू रहता है तब दैव की शक्ति क्षीण हो जाती है और यत्न सफल हो जाता है। मतलब यह है कि प्रतिकूल दैव यदि बलवान हो तो भी यत्न से निर्बल हो जाता है और अनुकूल दैव यदि बलवान हो किन्तु यत्न न मिले तो उससे लाभ नहीं हो पाता। इस प्रकार यत्न हर हालत में आवश्यक है इसलिये यत्न-प्रधान बनना ही श्रेयस्कर है।

प्रश्न -दैव और यत्न ये एक गाडी के दो पहिये हैं तब एक ही पहियेसे गाडी कैसे चलेगी?

उत्तर—इस उपमा को अगर और ठीक करना हो तो यों कहना चाहिये कि दैव गाडी है और यत्न बैल। गाड़ी न हो तो बैल किसे खींचेंगे? और बैल न हो तो गाड़ी को खींचेगा कौन? इसलिये दोनों की जरूरत है। पर सारथी का काम बैलों को हाँकना है-गाड़ी बनाना नहीं। गाड़ी उसे जैसी मिल जाय उसे लेकर अपने बैलों से खिंचवाना उसका काम है यही उसकी यत्न-प्रधानता है, दैव ने जो सामग्री उपस्थित कर दी उसका अधिक से अधिक और अच्छा से अच्छा उपयोग करना मनुष्य का काम है इसलिये मनुष्य यत्न-प्रधान है।

प्रश्न–मनुष्य कितना भी प्रयत्न करे परन्तु होगा वही जो होनहार या भवितव्य है। इसलिये यत्न तो भवितव्य के अधीन रहा, यत्न-प्रधानता क्या रही?

उत्तर–यत्न वर्तमान की चीज है और होनहार भविष्य की चीज है। भविष्य वर्तमान का फल होता है वर्तमान भविष्यका फल नहीं, इसलिये होनहार यत्न का फल है। यत्न होनहार का फल नहीं। जैसा हमारा यत्न होगा वैसी ही होनहार होगी। इसलिये जीवन यत्न-प्रधान ही हुआ।

प्रश्न–कहा तो यों जाता है कि " इसकी होनहार खराब है इसीलिये तो इसकी अक्ल मारी गई है, वह किसी की नहीं सुनता अपनी ही अपनी करता चला जाता है "। इस प्रकार के वाक्यप्रयोग होनहार को निश्चित बताते हैं और अक्ल मारी जाने आदि को उसके अनुसार बताते हैं।

उत्तर–यह वाक्य-रचना की शैली है या अलंकार है। जब मनुष्य ऐसे काम करता है कि जिसके अच्छे बुरे फलका निश्चय जनता को हो जाता है तब वह इसी तरह की भाषा का प्रयोग करती है। एक आदमी को दस्त ठीक नहीं होता, भूख भी अच्छी नहीं लगती फिर भी स्वाद के

लोभ से ठूंस ठूंस कर खूब खा जाता है तब हम कहते हैं कि इसे बीमार पड़ना है इसलिये यह खूब खाता है अथवा इसकी होनहार खराब है इसलिये यह खूब खाता है।

वास्तव में वह आदमी बीमार होना नहीं चाहता फिर भी बीमार होने का कारण इतना साफ है कि उसे देखते हुए अगर कोई उससे नहीं हटता तो उसकी तुलना उसी से की जा सकती है जो जानबूझ कर बीमार होना चाहता है, यह अलंकार है। इसी प्रकार वह मनुष्य बीमार होनेवाला है इसलिये अधिक खा रहा है यह बात नहीं है किन्तु अधिक खा रहा है इसलिये बीमार होगा। परन्तु बीमारी का कारण इतना स्पष्ट रहने पर भी वह नहीं समझता और उसका फल इतना निश्चित है, जैसा कि कारण निश्चित है, इसलिये कार्य कारण-व्यत्यय किया गया है। बीमारी रूप कार्य को कारण के रूप में, और अधिक भोजन-रूप कारण को कार्य के रूपमें, कहा गया है। भाषा की इस विशेष शैली से तर्कसिद्ध अनुभव-सिद्ध कार्य-कारण भाव उलट-पलट नहीं हो सकता। इस प्रकार भवितव्य यत्न का फल है इसलिये जीवन यत्न-प्रधान है।

प्रश्न—कथा-साहित्य के पढ़ने से पता लगता है कि भवितव्य पहिले से निश्चित हो जाता है और उसीके अनुसार मतिगति होती है। एक शास्त्र में (गुणभद्र का उत्तरपुराण) कथन है कि सीता रावण की पुत्री थी और उसके जन्म के समय ज्योतिषियों ने कह दिया था कि इस पुत्री के निमित्त से रावण की मृत्यु होगी। इसलिये रावणने सुदूर उत्तर में जनक राज्य के एक खेत में वह लड़की छुड़वादी, जिसे जनक ने पाला। इस प्रकार रावण ने उस लड़की के निमित्त से बचने की कोशिश की परन्तु आखिर वह उसी के कारण मारा गया। इसी प्रकार कंसने भी देवकी के पुत्र से बचने के लिये बहुत कोशिश की किन्तु कृष्ण के हाथसे उसकी मौत न टली, इससे भवितव्यता की निश्चितता और प्रबलता मालूम होती है।

उत्तर—एक बार विधाता ने एक आदमी के भाग्य में लिख दिया कि इसके भाग्य में एक काला घोड़ा ही रहेगा इससे अधिक वैभव इसे कभी न मिलेगा, न इससे कम होगा। उस आदमी को विधाता की इस बात से बहुत दुःख हुआ, और ज्यों ही उसे काला घोड़ा मिला उसने उसे मार डाला। विधाताने फिर उसे दूसरा काला घोड़ा दिलाया, उसे भी उसने मार डाला। विधाता ज्यों ज्यों उसे ढूंढ ढूंढ कर काला घोड़ा देते वह उन्हें तुरन्त मारता जाता। अब विधाता बड़े परेशान हुए, उनने उसे समझाया कि तू काले घोड़े मत मार. पर वह राजी न हुआ। वह राजी हुआ तब जब उसने विधाता से राज्य-वैभव मांग लिया।

यह भी एक कहानी है जो किसीने दैव के ऊपर यत्न की विजय बतलाने के लिये कल्पित की है। किसीने दैव की महत्ता बताने के लिये, रावण और कंस की कथाओं में ज्योतिषियों का कल्पित वार्तालाप जोड़ा तो किसीने यत्न की मुख्यता बताने के लिये कहानी गढ़ डाली। इस प्रकार की कहानियाँ या वार्तालाप इतिहास नहीं है किन्तु बालहृदयों के ऊपर दैव या यत्न की छाप मारने के लिये की गई कल्पनाएं हैं। विचार के लिये इन कल्पनाओं को आधार नहीं बनाया जा सकता इसके लिये अपना जीवन या वर्तमान जीवन देखना चाहिये। ज्योतिषियों के द्वारा जो भविष्य कथन किये जाते हैं उनसे अनर्थ ही होता है। ऊपर के रावण और कंस के उदाहरणों को ही देखो। यदि सीता के विषय में ज्योतिषियों ने भविष्य कथन न किया होता तो सीता रावण के घर में पुत्री के रूपमें पली होती, फिर सीता हरण क्यों होता और रावण की मौत क्या होती? देवकी के पुत्रके विषय में अगर ज्योतिषी ने भविष्य वाणी न की होती तो कंस अपने भानजों की हत्या क्यों करता और जन्म-जात वैर मोल क्यों लेता। वह अपने भानजों से प्यार करता और ऐसी हालत में इसकी सम्भावना नहीं थी कि श्रीकृष्ण अपने प्यारे मामा की हत्या करते। जैन पुराणों के अनुसार श्री नेमिनाथ ने कह दिया था कि

श्रीकृष्ण की मौत जरत्कुमार के हाथ से होगी। जरत्कुमार श्रीकृष्ण को प्यार करते थे इसलिये उन्हें बड़ा खेद हुआ और उनके हाथसे श्रीकृष्ण की मौत न हो इसलिये व‍ंगल में चले गये। पर ज‍ंगल में चला जाना ही जरत्कुमार के हाथसे श्रीकृष्ण की मृत्यु का कारण हुआ। अगर भविष्य वाणी के फेर में न पड़ते तो ये दुर्घटनाएं न होतीं। एक तो ये भविष्य-वाणियाँ कल्पित हैं और अगर तथ्यरूप होतीं तो भी अनर्थकर थीं।

हर एक मनुष्य को चाहिये कि वह महान बनने की कोशिश करे। वह मानले कि मैं तीर्थंकर, सम्राट, राजा, अध्यक्ष, महाकवि, महान् दार्शनिक, महान् वैज्ञानिक, कलाकार, वीर, आदि बन सकता हूँ। वह इनमें से एक बात रुचि के अनुसार चुनले और यत्न करने लगे। अगर दैव प्रतिकूल है तो वह अपना फल देगा और हमारा यत्न निष्फल करेगा पर जितने अंश में दैव यत्न को निष्फल बनायगा उससे बचा हुआ यत्न सफल होगा। सच्चा यत्न सर्वथा निष्फल नहीं जाता। भविष्यवाणी, भवितव्यता आदि के फेर में पड़कर वह उदासीन या हतोत्साह न बने, यत्न बराबर करता रहे। असफलता होनेपर घबराये नहीं, सिर्फ यह देखले कि कहीं मुझसे भूल तो नहीं हुई है। अगर भूल न हो तो दैव के विरुद्ध रहने पर भी कर्तव्य करता रहे। यत्न शक्ति के अनुसार ही करे पर हतोत्साह होकर शक्ति को निकम्मी न बनाये। वह यत्न-प्रधान व्यक्ति दैव के विषय में अज्ञानी नहीं होता, सिर्फ उसकी अवहेलना करता है, अथवा दैव को अपना काम करने देता है और वह अपना यत्न करता है। आज मानव समाज पशुओं से जो इतनी उन्नति पर पहुँचा है उसका कारण उसकी यत्न-प्रधानता है।

११-शुद्धि-जीवन [शुधो जिवो]

[चारभेद]

शुद्धि-अशुद्धि की दृष्टि से भी जीवन की उन्नति अवनति का पता लगता है। किसी वस्तु में किसी ऐसी वस्तु का मिल जाना जिससे मूल वस्तु की उपयोगिता कम हो जाय या नष्ट हो जाय वह अशुद्धि है और मूल की तरह उपयोगी बना रहना शुद्धि है। जैसे पानी में मिट्टी धूल आदि पड़ जाने से उसकी उपयोगिता कम हो जाती है इसलिये वह अशुद्ध पानी कहलाता है। शुद्धि-अशुद्धि का व्यवहार सापेक्ष है। किसी दूसरी चीज के मिलने पर कभी कभी हम उसे शुद्ध कह देते हैं, कभी कभी अशुद्ध। जैसे शक्कर मिला हुआ पानी या गुलाब केवड़ा आदि से सुगन्धित पानी शुद्ध कहा जाता है परन्तु जहां पानी का उपयोग मुँह साफ करने के लिये करना हो वहां शक्कर का पानी भी अशुद्ध कहा जायगा। ऐसी बीमारी में पानी का उपयोग करना हो जिसमें गुलाब और केवड़ा नुकसान करें तो गुलाब-जल आदि भी अशुद्ध कहे जायँगे।

साधारणतः शुद्धि के तीन भेद हैं। —

१ निर्लेप शुद्धि २ अल्पलेप शुद्धि ३ उपयुक्त शुद्धि।

१ निर्लेप शुद्धि (नोमेश शुधो) उसे कहते हैं जिस में किसी दूसरी चीज का अणुमात्र भी अंश नहीं होता। जैसे जैन सांख्य आदि दर्शनों के अनुसार मुक्तात्मा। इस प्रकार के शुद्ध पदार्थ कल्पना से ही समझे जा सकते हैं। भौतिक पदार्थों की निर्लेप शुद्धि का भी हम कल्पना से विश्लेषण कर सकते हैं।

२ अल्पलेप शुद्धि (वेमेश शुधो) में इतना कम मैल होता है जिस पर दूसरे पदार्थों की तुलना में उपेक्षा की जाती है। जैसे गंगाजल शुद्ध कहा है इस का यह मतलब नहीं है कि गंगाजल में मैल नहीं होता, होता है, पर दूसरे जलाशयों की अपेक्षा बहुत कम होता है। साधारणतः जल में जितना मैल रहा करता है उससे भी कम मैल हो तो उसे शुद्धजल कहते हैं यह अल्पलेप शुद्धि है।

३-उपयुक्तशुद्धि (पुम्मशुधो) का मतलब यह है कि जिस शुद्धि से उस वस्तु का उचित उपयोग होता रहे। यह शुद्धि दूसरी चीजों के मिश्रण होनेपर भी मानी जाती है जैसे गुलाब-

जल आदि या साधारणतः स्वच्छ और छना हुआ पानी। शुद्धि जीवन के प्रकरण में इस तीसरी प्रकार की शुद्धिसे ही विशेष मतलब है।

जीवन की शुद्धि पर विचार करते समय हमें दो तरफ को नजर रखना पड़ती है एक भीतर की ओर दूसरे बाहर की ओर। शरीर की या शरीर से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों की इन्द्रियों के विषयों की शुद्धि बाह्य शुद्धि है और मनोवृत्तियों की शुद्धि अन्तःशुद्धि है। इन दोनों प्रकार की शुद्धियों से जीवन आदर्श बनता है। शुद्धि अशुद्धि की दृष्टि से जीवन के चार भेद होते हैं। १ अशुद्ध २ बाह्यशुद्ध ३ अन्तःशुद्ध ४ उभय शुद्ध।

१ अशुद्ध-(नोशुध) जिनका न तो हृदय शुद्ध है न रहन सहन शुद्ध है वे अशुद्ध प्राणी हैं। एक तरफ तो वे तीव्र स्वार्थी, विश्वासघाती और क्रूर हैं दूसरी तरफ शरीर से गंदे, कपड़ों से गंदे, खानपान में गंदे हैं। घर की सफाई न करें, जहां रहें उसके चारों तरफ गंदगी फैला दें, ये पशु तुल्य प्राणी अशुद्ध प्राणी हैं। बल्कि अनेक पशु सफाई पसन्द भी होते हैं पर ये उनसे भी गये बीते हैं।

कहा जाता है कि इसका मुख्य कारण गरीबी है। गरीबी के कारण लोग बेईमान भी हो जाते हैं, जब पैसा ही नहीं है तब कैसे तो सफाई करें और कैसे सजावट करें?

इसमें सन्देह नहीं कि गरीबी दुःखद है पर अशुद्धता का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। बाह्य-शुद्धि के लिये पैसे की नहीं परिश्रम की जरूरत है। घर को साफ रखना, कचरा चारों तरफ न फैला कर एक जगह एकत्रित रखना, शरीर स्वच्छ रखना, कपड़े स्वच्छ रखना, अर्थात् उनसे दुर्गंध न निकले इसका ख्याल रखना, इसके लिये अमीरी जरूरी नहीं है, गरीबी में भी इन बातों का ध्यान रक्खा जा सकता है। अमीरी में शृंगार के लिये कुछ सुविधा होती है पर शृंगार और सफाई में बहुत अन्तर है। बहुतसी धनवान स्त्रियां गहने कपड़ों से खूब सजी हुई रहती हैं परन्तु साफ बिलकुल नहीं रहतीं, उनके घर सजावट के सामान से लदे रहेंगे पर सफाई न दिखेगी। शृंगार का शुद्धि से सम्बन्ध नहीं है। शुद्धि का सम्बन्ध सफाई से है। सफाई अमीर गरीब सब रख सकते हैं।

कहीं कहीं तो सामूहिक रूप में अशुद्ध जीवन पाया जाता है। जैसे अनेक स्थानों पर ग्रामीण लोग गांव के पास ही शौच को बैठते हैं, रास्तों पर शौच को बैठते हैं, घर के चारों तरफ टट्टी आदि मल की दुर्गंध आती रहती है यह सब अशुद्ध जीवन के चिन्ह हैं इसे पशुता के चिह्न समझना चाहिये।

ग्रामीणों में यह पशुता रहती है सो बात नहीं है नागरिकों में भी यह कम नहीं होती, कदाचित् उसका रूप दूसरा होता है। बाग में घूमने जायेंगे तो गंदा कर देंगे, जूठन डाल देंगे, यह न सोचेंगे कि कल यहीं हमें आना पड़ेगा, ट्रेन में बैठेंगे तो भीतर ही थूकेंगे ये सब अशुद्ध जीवन के चिह्न हैं। इसका गरीबी से या ग्रामीणता से कोई सम्बन्ध नहीं है, ये अमीरों में और नागरिकों में भी पाये जाते हैं और गरीबों में और ग्रामीणों में भी नहीं पाये जाते।

इसी प्रकार अन्तःशुद्धि का भी अमीरी गरीबी से कोई ताल्लुक नहीं है। यद्यपि ऐसी भी घटनाएँ होतीं हैं जब मनुष्य के पास खाने को नहीं होता और चोरी करता है पर ऐसी घटना हजार में एकाध ही होती है। बेईमानी का अधिकांश कारण मुफ्तखोरी और अत्यधिक लोभ होता है। एक गरीब आदमी किसी के यहाँ नौकर है या किसी ने मजदूरी के लिये बुलाया है, इससे उसको अधिक नहीं तो रूखी रोटी खाने को मिल ही जायगी इसलिये उसे चोरी न करना चाहिये, पर देखा यह जाता है कि जैसे बिच्छू बिना इस बात का विचार किये कि यह हमारा शत्रु है या मित्र, अपना डंक मारता है उसी प्रकार ये लोग भी हितैषी के यहाँ भी चोरी करते हैं।

कहा जाता है कि जिन्हें रोटी नहीं मिलती उन्हें ईमानदारी सिखाना उनका मजाक उड़ाना है। परन्तु रोटी मिलने के लिये भी ईमानदारी सिखाना जरूरी है। कल्पना करो मेरे पास इतना पैसा है कि मैं साफ सफाई के लिये या और भी घरू काम के लिये दो एक नौकर रख सकता हूं। मैंने दो एक करीब आदमियों को रक्खा भी, पर देखा कि वे चोर हैं, उनके ऊपर मुझे नजर रखना चाहिये, पर नजर रखने का काम काफी समय लेता है इसलिये मैंने नौकरों को छुड़ादिया। सोचा इन लोगों की देख रेख करने की अपेक्षा अपने हाथ से काम कर लेना अच्छा। आदमी वेतन या मजूरी में तो रुपये भी दे सकता है पर चोरी में पैसा नहीं दे सकता। इस कारण मुझे पैसों के लिये रुपये बचाने पड़े। वह गरीब नौकर दो एक बार कुछ पैसों की चोरी करके सदा के लिये रुपये खो गया। इस प्रकार बेईमानी गरीबी और बेकारी बढ़ाने को कारण ही बनी। मनुष्य को ईमान हर हालत में जरूरी है और गरीबों में तो और भी जरूरी है क्योंकि बेईमानी का दुष्परिणाम सहना गरीबी में और कठिन हो जाता है। गरीब हो या अमीर, बेईमानी विश्वासघात, चुगलखोरी आदि वातें अमीर गरीब सब को नुकसान पहुँचाती हैं।

एक बारकी विश्वासघातकता हजारों सज्जनोंके मार्ग में रोड़े अटकाती है। अगर कोई आदमी हम से एक पुस्तक माँगकर ले जाता है या एक रुपया उधार ले जाता है और फिर नहीं देता तो इसका परिणाम यह होता है कि भले से भले आदमी को भी मैं रुपया उधार नहीं देता या पढ़ने को पुस्तक नहीं देता। विश्वासघातकता या लेन देन के मामले में अपने वायदे को पूरा न करना ऐसी बात है कि वह किसी भी हालत में की जाय उसका दुष्परिणाम काफी मात्रा में होता है। हमारी छोटी सी बेईमानी के कारण भी हजारों सज्जन सुविधाओं से वंचित रहते हैं। इस-लिये अमीरी हो या गरीबी, अपनी भलाई के लिये इस प्रकार की अन्तःशुद्धि आवश्यक है। जिनमें यह अन्तःशुद्धि भी नहीं है और बाह्य-शुद्धि भी नहीं है चाहे वे अमीर हों, गरीब हों, ग्रामीण हों नागरिक हों, शिक्षित हों अशिक्षित हों, प्रतिष्ठित हों अप्रतिष्ठित हों, उन्हें मनुष्य नहीं मनुष्याकार जन्तु ही कहना चाहिये।

२ बाह्यशुद्ध—बाह्यशुद्ध वे हैं जिन में ईमानदारी संयम शान्ति आदि तो उल्लेखनीय नहीं हैं परन्तु साफसफाई का पूरा खयाल रखते हैं। शरीर स्वच्छ, मकान वस्त्रादि स्वच्छ, भोजन स्वच्छ इस तरह जहाँ तक हृदय के बाहर स्वच्छता का विचार है वे स्वच्छ हैं पर हृदय स्वच्छ नहीं है। साधारणतः ऐसे लोग सभ्य श्रेणी में गिने जाते हैं परन्तु वास्तव मे वे सभ्य नहीं होते। सभ्यता के लिये बाह्यशुद्धि के साथ अन्तःशुद्धि भी चाहिये।

बहुत से लोग शुद्धि के नामपर अशुद्धि-बहुत बताते हैं और रही सही अन्तःशुद्धि का भी नाश करते हैं। वे शुद्धि के नामपर मनुष्यों से घृणा करना सीख जाते हैं। छूआछूत की बीमारी को वे शुद्धि का सार समझते हैं। अपनी जाति के आदमी के हाथ का गंदा से गंदा भोजन करेंगे परन्तु दूसरी जाति के आदमी के हाथ का स्वच्छ और शुद्ध भोजन भी न करेंगे। वे सिर्फ जाति-पाँति में ही शुद्धि-अशुद्धि देखते हैं। हाड़ मांस के कल्पित भेद में ही शुद्धि अशुद्धि के भेद की कल्पना करते हैं। वे वास्तव में बाह्य शुद्ध भी कठिनता से हो पाते हैं, एक तरह से अशुद्ध रहते हैं।

प्रश्न—बाह्य शुद्धि में खानपान की शुद्धि का मुख्य स्थान है क्योंकि शरीर का भोजन शुद्धि के साथ सब से निकट सम्बन्ध है। खानपान में भोजन सम्बन्धी संस्कृति देखना जरूरी है। एक जैन का एक मुसलमान के यहां भोजन का मेल कैसे बैठेगा? रक्त शुद्धि आदि की बात भी निर-र्थक नहीं है, मा-बाप के संस्कार सन्तान में भी

आते हैं इसलिये रक्त-शुद्धि देखना भी जरूरी है।

उत्तर—भोजन में मुख्यता से चार बातों का विचार करना चाहिये। १-अहिंसकता २-स्वास्थ्यकरता ३-इन्द्रिय प्रियता ४-अग्ला-नता। अहिंसकता के लिये मांस आदि का त्याग करना चाहिये। स्वास्थ्य के लिये अपने शरीर की प्रकृति का विचार करना चाहिये और ऐसा भोजन करना चाहिये जो सरलता से पच सके और शरीर-पोषक हो। इन्द्रियप्रियता के लिये स्वादिष्ट, सुगंधित, देखने में अच्छा भोजन करना चाहिये। अग्लानता के लिये शरीरमल आदि का उपयोग न करना चाहिये। भोजन से सम्बन्ध रखनेवाली ये चारों बातें छूआछूत या जातिपांति के विचार से सम्बन्ध नहीं रखतीं। ब्राह्मण कह-लाने वाले भी मांसभक्षी होते हैं और मुसलमान तथा ईसाई भी मांसत्यागी होते हैं। पर देखा यह जाता है कि एक मांसभक्षी ब्राह्मण दूसरी जाति के जैन या वैष्णव को भी छूत मानेगा। उसके हाथ का वह शुद्ध से शुद्ध भोजन न करेगा और उसे वह भोजन-शुद्धि या धर्म समझेगा। यहां बाह्य शुद्धि तो है ही नहीं, परन्तु अन्त:शुद्धि की भी हत्या है।

यह कहना कि दूसरी जातिवालों का रक्त इतना खराब होता है कि उसके हाथ का छुआ हुआ भोजन हर हालत में अशुद्ध ही होगा, कोरी विडम्बना और आत्मवंचना है। मनुष्यमात्र की एक ही जाति है, इसलिये मनुष्यों के रक्त में इतना अन्तर नहीं है कि एक के हाथ लगाने से दूसरे की शुद्धि नष्ट हो जाय। कम से कम मनुष्यों के रक्त में गाय भैंस आदि पशुओं के रक्त से अधिक अन्तर नहीं हो सकता, फिर भी जब हम गाय भैंस का दूध पीलेते हैं तब भोजन के विषय में रक्त-शुद्धि की दुहाई व्यर्थ है और जो लोग मांस खाते हैं वे भी रक्तशुद्धि की दुहाई दें यह तो और भी अधिक हास्यास्पद है।

माँ बाप के रक्त का असर सन्तान पर होता है पर उसका सम्बन्ध जाति से नहीं है। रक्त के असर के लिये जाति-पाँतिका खयाल नहीं किन्तु बीमारी आदि का खयाल रखना चाहिये। बीमारी का ठेका किसी एक जातिके सब आदमियों ने लिया हो ऐसी बात नहीं है।

हाँ, जिन लोगों के यहाँ का खानपान बहुत गंदा है उनके यहाँ खाने में, या हम मांसत्यागी हों तो मांसभक्षियों के यहां खाने में परहेज करने का कुछ अर्थ है। इन लोगों के यहां तभी भोजन करना चाहिये जब जाति-समभाव के प्रदर्शन के लिये भोजन करना उपयोगी हो। पर किसी भी जातिवाले को जातीय कारण से अपने साथ खिलाने में आपत्ति न होना चाहिये।

जिनने अपने भोजन की शुद्धि अशुद्धि के तत्व को अच्छी तरह समझ लिया है और जिन में अहिंसकता आदि के रक्षण का काफी मनोबल है उन्हें तो किसी भी जाति में भोजन करने में आपत्ति न होना चाहिये, ऐसे लोग जहां भोजन करेंगे वहां कुछ न कुछ अहिंसकता स्वच्छता आदि की छाप ही मारेंगे। हां, जो बालक हैं या अज्ञानी होने से बालक समान हैं वे खानपान के विषय में हिंसक या गंदे लोगों से बचें तो ठीक है पर उन्हें अपने घर बुलाकर स्वच्छता के साथ अपने साथ भोजन कराने में आपत्ति किसी को न होना चाहिये। बाह्य शुद्धि भी आवश्यक है पर उस की ओट में मनुष्य से घृणा करना या हीनता का व्यवहार करना पाप है।

भोजन शुद्धि के नाम पर एक तरह का भ्रम या अतिवाद और फैला हुआ है जिसे मध्यप्रांत में 'सोला' (रंदशो) कहते हैं। इसके मूल में जाति-पांति की कल्पना ही नहीं है किन्तु शुद्धि के नाम से बड़ा अतिवाद फैला हुआ है। सोला के लिये यह जरूरी नहीं है कि कपड़ा स्वच्छ हो पर यह जरूरी है कि पानी में से निकलने के बाद उसे किसीने छुआ न हो। सोला के अनुसार वह कपड़ा भी अशुद्ध मान लिया जाता है जिसे पहिन कर हम घरके बाहर निकल गये हों। थोड़ासा भी स्पर्श शुद्धि को बहाले जाता है। गंदगी के अतिवाद को दूर करने के लिये शुद्धि के इस अतिवाद की औषध-रूप में कभी जरूरत

हुई होगी पर आज तो उसके नाम पर बड़ी विड-म्बना और असुविधा होती है। सोला बाह्य शुद्धि का ठीक रूप नहीं है। इससे अनावश्यक शुद्धि का बोझ लदता है और आवश्यक शुद्धि पर उपेक्षा होती है।

केवल रिवाज के पालन से बाह्य शुद्धि नहीं हो जाती उसके लिये भी अक्ल या विवेक की जरूरत है। बाह्य शुद्ध व्यक्ति जहां चाहे कचरा न डालेगा, जिस चाहे जगह को अपने पैरों से गन्दा न करेगा, खकार आदि जहां चाहे न डालेगा, वह इस बात का ख्याल रक्खेगा कि मेरे किसी काम से हवा खराब न हो, गन्दगी न फैले, कालान्तर में हमें और दूसरों को कष्ट न हो।

बाह्य शुद्धि की बड़ी जरूरत है। सभ्यता के बाह्य रूप का यह भी एक मापदण्ड है किन्तु समझदारी के साथ इसका प्रयोग होना चाहिये।

अन्त शुद्ध-अन्तःशुद्ध वे व्यक्ति हैं जिनने अपने मनको शुद्ध कर लिया है, जिन के मनमें किसी के साथ अन्याय करने की या अन्याय से अपना स्वार्थ सिद्ध करने की इच्छा नहीं होती, ऐसे लोग महान् व्यक्ति तो हैं पर बाह्यशुद्धि के बिना उनका जीवन अच्छी तरह अनुकरणीय नहीं होता है।

बहुत से लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि बाह्यशुद्धि अन्त शुद्धि की बाधक है। वे दतौन इसलिये नहीं करते कि दांतों के कीड़े मरेंगे, स्नान इसलिये नहीं करते कि शरीर के स्पर्श से जल के जीव मरेंगे, मुँह के आगे इसलिये कपड़े की पट्टी बांधते हैं कि उससे श्वास की गरम हवा से बाहर की हवा के जीव मरते हैं, इस प्रकार अहिंसा के लिये वे अशुद्धि की उपासना करते हैं। पर वे जरा गौर करेंगे तो उन्हें मालूम हो जायगा कि अशुद्धि की उपासना करके भी वे अहिंसा की रक्षा नहीं कर पाये हैं।

दतौन करने से कदाचित् एक बार थोड़े से जीव मरते होंगे पर दतौन न करने से दांतों में बहुत से कीड़े पड़ते हैं जो कि थूंक के प्रत्येक घूंटके साथ दिन-रात पेट की भट्टी में जाते रहते हैं और मुँह की दुर्गंध से दूसरों को जो कष्ट होता है वह अलग। स्नान न करने के नियम से जो गन्दगी फैलती है, खास कर गरम या समशीतोष्ण देशों में उससे भी शरीर कीड़ों का घर बन जाता है. प्रत्येक रोमकूप सूक्ष्म कीटों का शिविर हो जाता है। मुंह पर पट्टी लगाने से हवा के जीव तो मरते ही हैं क्योंकि मुंह की हवा सामने न जाकर पट्टी से रुककर नीचे जाने लगती है जहां कि हवा है ही, इस प्रकार वहां भी हिंसा होती है। अगर थोड़ी बहुत बचती भी हो तो उसकी कसर पट्टी की गंदगी में निकल आती है। थूंक वगैरह पड़ते रहने से पट्टी कृमिकुल का घर बन जाती है।

हिंसा अहिंसा के विचार में हमें दोनों पक्षों का हिसाब रखना चाहिये। ऐसा न हो कि थोड़ी सी हिंसा बचाने के पीछे हम बहुत सी हिंसा के कारण जुटालें। जहां सूक्ष्म हिंसा से भी दूर रहना हो वहां सब से अच्छी बात यह होगी कि सूक्ष्म जीवों को पैदा न होने दिया जाय। सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा से बचने का सर्वोत्तम उपाय स्वच्छता है।

प्रश्न-स्नान न करना दतौन न करना आदि नियम बहुत धर्मों ने अपनी साधु-संस्था में दाखिल किये हैं। और ऐसा मालूम होता है कि वे अहिंसा के खयाल से दाखिल किये हैं पर आपके कहने के अनुसार तो उनसे अहिंसा की वृद्धि नहीं होती तब फिर वे किसलिये किये गये ?

उत्तर-जब किसी नये मजहब का प्रचार करना होता है तब उसके प्रचारक-साधुओं की वही अवस्था होती है जो कि दिग्विजय के लिये निकली हुई किसी सेना के सैनिकों की। उन सैनिकों की जीवन चर्या राजधानी में रहनेवाले सैनिकों सरीखी या साधारण गृहस्थों सरीखी नहीं होती यही बात नई धर्म संस्था के साधुओं की है। इन साधुओं को बड़ी कड़ाई के साथ अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का पालन करना पड़ता है इसलिये समस्त शृंगार का बड़ी कड़ाई से

त्याग भी करना पड़ता है। और जब स्वच्छता का भी शृंगार के रूप में उपयोग होने लगता है या स्वच्छता की ओट में इतना समय बर्बाद होने लगता है कि परिव्राजक जीवन और प्रचार में बाधा आने लगती है तब उस स्वच्छता का भी त्याग आवश्यक कर दिया जाता है। कोई कोई नियम कष्टसहिष्णुता को टिकाये रखने के लिये अथवा उसकी परीक्षा करने के लिये बनाये जाते हैं।

साधुता बात है एक, और साधुसंस्था बात है दूसरी। कभी कभी साधु संस्थाओं को ऐसी परिस्थिति में से गुजरना पड़ता है कि उनके जीवन में अतिवाद आ जाता है। जब तक वह औषध के रूप में कुछ चिकित्सा करे तब तक तो ठीक, बाद में जब उसकी उपयोगिता नहीं रहती तब उसे हटा देना चाहिये।

मतलब यह है कि बाह्यशुद्धि उपेक्षणीय नहीं है। यद्यपि अन्तःशुद्धि के बराबर उसका महत्व नहीं है फिर भी वह आवश्यक है। उसके बिना अन्तःशुद्धि रहने पर भी जीवन अधूरा है और आदर्श से तो बहुत दूर है।

प्रश्न—जो परमहंस आदि साधु मन की उत्कृष्ट निर्मलता प्राप्त कर लेते हैं किन्तु बाह्यशुद्धि पर जिनका ध्यान नहीं जाता, क्या उन्हें आदर्श से बहुत दूर कहना चाहिये। क्या वे महान् से महान् नहीं हैं?

उत्तर—वे महान से महान हैं इसलिये पूज्य या वन्दनीय हैं फिर भी आदर्श से बहुत दूर हैं, खासकर शुद्धि जीवन के विषय में। किसी दूसरे विषय में वे आदर्श हो सकते हैं। शुद्धि जीवन की दृष्टि से उभयशुद्ध ही पूर्णशुद्ध हैं।

उभयशुद्ध (दुमशुध)—जो हृदय से पवित्र है, अर्थात संयमी निश्छल विनीत और निःस्वार्थ है और शरीर आदि की स्वच्छता भी रखता है वह उभयशुद्ध है। बहुत से लोगों ने अन्तःशुद्धि और बहिःशुद्धि में विरोध समझ लिया है, वे समझते हैं कि जिसका हृदय शुद्ध है वह बाहिरी शुद्धि की पर्वाह क्यों करेगा? परन्तु यह भ्रम है। जिसका हृदय पवित्र है उसे बाहिरी शुद्धि का भी खयाल रखना चाहिये। बाहिरी शुद्धि अपनी भलाई के लिये ही नहीं दूसरों की भलाई के लिये भी जरूरी है। गंदगी बहुत बड़ा पाप न सही, परन्तु पाप तो है। और कभी कभी तो उसका फल बहुत बड़े पाप से भी अधिक हो जाता है। गंदगी के कारण बीमारियाँ फैलती हैं और हमारी परेशानी बढ़ती है—कदाचित मौत भी हो जाती है—जो हमारी सेवा करते हैं उनकी भी परेशानी बढ़ती है, पास पड़ौस में भी रहनेवाले भी बीमारी के शिकार होकर दुःख उठाते हैं, मिलने-जुलनेवाले भी दुर्गंध आदि से दुःखी होते हैं। इन सब कारणों से अन्तःशुद्ध व्यक्ति को यथाशक्य और यथायोग्य बहिःशुद्ध होने की भी कोशिश करना चाहिये।

हाँ, स्वच्छता एक बात है और शृङ्गार दूसरी। यद्यपि अन्तःशुद्धि के साथ उचित शृङ्गार का विरोध नहीं है फिर भी शृंगार पर उपेक्षा की जासकती है परन्तु स्वच्छता पर उपेक्षा करना ठीक नहीं है।

हाँ, स्वच्छता की भी सीमा होती है। कोई कोई स्वच्छता के नामपर दिनभर साबुन ही घिसा करे या अन्य आवश्यक कामों को गौण करदे तो यह ठीक नहीं, उससे अन्तःशुद्धि का नाश हो जायगा। अपनी आर्थिक परिस्थिति और समय के अनुकूल अधिक से अधिक स्वच्छता रखना उचित है।

१२—जीवन-जीवंन (जिवो जिवो)

[दो और पाँचभेद]

जीवन की दृष्टि से भी जीवन का श्रेणी-विभाग होता है। साधारणतः जीवित उसे कहते हैं जिसकी श्वास चलती है, खाता पीता है। परन्तु ऐसा जीवन तो वृक्षों और पशुओं में भी पाया जाता है। वास्तविक जीवन की परीक्षा उसके उपयोग की तथा कर्मठता की दृष्टि से है। इसलिये जिसमें उत्साह है, आलस्य नहीं है, जो कर्मशील

हैं वे जीवित हैं। जिनमे सिर्फ किसी तरह पेट भरने की भावना है, जिनके जीवन में आनन्द नहीं, जनसेवा नहीं, उत्साह नहीं वे मुर्दे हैं। जीवित मनुष्य प्रतिकूल परिस्थितिमें भी बहुत कुछ करेगा और मृत मनुष्य अनुकूल परिस्थिति में भी अभाव का रोना रोता रहेगा। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी।

एक जीवित वृद्ध सोचेगा कि इन्द्रियां शिथिल होगईं तो क्या हुआ? अब लड़के बच्चे काम संम्हालने लायक होगये हैं, अब मैं घर की तरफसे निश्चिन्त हूं, यही तो समय है जब मैं जन सेवा का कुछ काम कर सकता हूँ। जब कि मृत वृद्ध शरीर का घर का, बेटों की नालायकी का रोना रोता रहेगा।

जीवित युवक सोचेगा–ये ही तो दिन हैं जब कुछ किया जा सकता है, कल जब बुढ़ापा आजायगा तब क्या कर सकूँगा? निश्चिन्तता से आराम बुढ़ापे में किया जासकता है, जवानी तो कर्म करने के लिये हैं। अगर यहां कर्म किया तो उसका असर बुढ़ापे में भी रहेगा। मृतयुवक सोचेगा कि ये चार दिन ही तो मौज उड़ाने के हैं अगर इनदिनों मे बैलकी तरह जुते रहे तो भोग विलास कब कर पायेंगे? बुड्ढा (बाप) कमाता ही है, जब मरेगा तब देखा जायगा, अभी तो मौज करो।

जीवित धनवान सोचेगा कि धन का उपयोग यही है कि वह दूसरों के काम आवे। पेट में तो चार ही रोटियाँ जानेवाली हैं, बाकी धन तो किसी न किसी तरह दूसरे ही खानेवाले हैं तब जनसेवा में दान ही क्यों न करूं? मृत धनवान कंजूसी में ही अपना कल्याण समझेगा।

जीवित निर्धन सोचेगा–अपने पास धन पैसा तो है ही नहीं, जिसके छिनने का डर हो, तब धर्म से क्यों चूकूं? मुझे निर्भय रहना चाहिये, नंगा खुदासे बड़ा। मैं पैसा नहीं दे सकता तो तन मन तो दे सकता हूँ, वही दूंगा, धन की कीमत सच्चे तन मन से अधिक नहीं होती। महावीर बुद्ध आदि महापुरुषों को जनसेवा के लिये धन का त्याग ही करना पड़ा ईसामसीहने ठीक ही कहा है कि सुईके छिद्रमे से ऊँट निकल सकता है परन्तु स्वर्ग के द्वार में से धनवान नहीं निकल सकता। गरीबी ही मेरा भाग्य है। मृत निर्धन गरीबी का रोना रोता रहेगा। इतना धन जो मिल जाता तो यों करता और इतना मिल जाता तो त्यों करता, अब क्या कर सकता हूँ?

जीवित पुरुष सोचेगा–मुझे शक्ति मिली है, घर से बाहर का विशेष अनुभव मिला है उस का उपयोग पत्नी की, माता पिता की, समाज की देशकी सेवा में करूंगा। मृत पुरुष कमाने का रोना रोतेरोते या स्त्रीका रोना रोतेरोते कि हाय मुझे सीता सावित्री न मिली, दिन काटेगा। जनसेवाकी बात निकलते ही घरका रोना लेकर बैठ जायगा।

जीवित नारी सोचेगी कि नारियाँ शक्ति का अवतार हैं हम अगर निर्बल मूर्खा हैं तो वीर और विद्वान कहां से आयेंगे? शक्ति के बिना शिव क्या करेगा? घर हमारा आर्थिक कार्यक्षेत्र है, कैदखाना नहीं। जनसेवा के लिये सारी दुनिया है। बाहर निकलने में शर्म क्या? पति को छोड़कर जब सब पुरुष पिता पुत्र या भाई के समान हैं तब पर्दा किसका?

मृत नारी रूढ़ियों की दुहाई देगी, अबलापन का रोना रोयेगी, जीवित नारियों की निन्दा करेगी, मुर्दापन के गीत गायेगी।

इन उदाहरणों से जीवित मनुष्य और मृत मनुष्य की मनोवृत्ति का और उन के कार्यों का पता लग जायगा। साधारणतः मनुष्यों को जीवन की दृष्टिसे इन दो भागों में बांट सकते हैं। कुछ जिन्दे कुछ मुर्दे या अधिकांश मुर्दे। परन्तु विशेष रूप में इसके पांच भेद होते हैं—

१ मृत, २ पापजीवित, ३ जीवित, ४ दिव्य-जीवित, ५ परमजीवित।

१ मृत – (मरलू) जो शरीर में रहते हुये भी स्वपर कल्याणकारी कर्म नहीं करते, जो पशुके समान लक्ष्यहीन या आलसी जीवन बिताते हैं वे मृत हैं। उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

२ पापजीवित (पापंजीव) वे हैं जो कर्म तो करते हैं आलसी नहीं होते पर जिनसे मानव समाज के हित की अपेक्षा अहित ही अधिक होता है इस श्रेणी में अन्याय से नरसंहार करनेवाले बड़े बड़े सम्राट् सेनापति योद्धा और राजनैतिक पुरुष भी आते हैं, गरीबों का खून चूसकर कुबेर बननेवाले श्रीमान भी आते हैं, जन-सेवा का ढोंग करके बड़े बड़े पद पानेवाले ढोंगी नेता भी आते हैं, त्याग वैराग्य आदि का ढोंग करके दंभ के जाल में दुनिया को फंसानेवाले योगी सन्यासी सिद्ध महन्त मुनि कहलाने वाले भी आते हैं। ये लोग कितने भी यशस्वी हो जाय, जनता इनकी पूजा भी करने लगे पर ये पापजीवित ही कहलायँगे। अपने दुस्वार्थों की पूजा करनेवाले सब पापजीवित हैं। चोर, बदमाश, व्यभिचारी, विश्वासघाती, ठग आदि तो पापजीवित हैं ही।

३ जीवित-(जिवीर) वे हैं जो हर एक परिस्थिति में यथाशक्ति कर्मठ और उत्साही बने रहते हैं इनके उदाहरण ऊपर दिये गये हैं।

४ दिव्यजीवित (नन्दंक जिव)- वे हैं जो सच्चे त्यागी और महान् जनसेवक हैं। जो यश, अपयश की पर्वाह नहीं करते, स्वपर-कल्याण की ही पर्वाह करते हैं। अधिक से अधिक देकर कम से कम लेते हैं—त्यागी और सदाचारी हैं।

५ परमजीवित (शोजिवजिव)-वे हैं जिन का जीवन दिव्य जीवितके समान है परन्तु इनका सौभाग्य इतना ही है कि ये यशस्वी भी होते हैं।

विकास की दृष्टि से दिव्य जीवित और परम जीवितों में कोई भेद नहीं है। परन्तु यश भी एक तरह का जीवन है और उसके कारण भी बहुत सा जनहित अनायास हो जाता है इसलिये विशेष यशस्वी दिव्यजीवित को परमजीवित नाम से अलग बतलाया जाता है।

हर एक मनुष्य को दिव्यजीवित बनना चाहिये। पर दिव्यजीवित बनने से असन्तोष और परमजीवित कहलाने के लिये व्याकुलता न होना चाहिये, अन्यथा मनुष्य पापजीवित बन जायगा।

जीवनदृष्टि का उपसंहार

बारह बातों को लेकर जीवन का श्रेणी-विभाग यहाँ किया गया है और भी अनेक दृष्टियों से जीवन का श्रेणीविभाग किया जा सकता है। पर अब विशेष विस्तार की जरूरत नहीं है, समझने के लिये यहां काफी लिख दिया गया है।

जीवन दृष्टि अध्याय में जीवन के सिर्फ भेद ही नहीं करने थे उनका श्रेणी-विभाग भी बताना था। इसलिये ऐसे भेदों का जिक्र नहीं किया गया जिससे विकसित जीवन का पता न लगे। साधारणतः अगर जीवन का विभाग ही करना हो तो वह अनेक गुणों की या शक्ति, कला विज्ञान आदि की दृष्टि से किया जासकता है। पर ऐसे विभागों का यहां कोई विशेष मतलब नहीं है इसलिये उपर्युक्त बारह प्रकार का श्रेणी-विभाग बताया गया है। हरएक मनुष्य को ईमानदारी से अपनी श्रेणी देखना चाहिये और उच्च श्रेणीपर पहुँचने की कोशिश करना चाहिये।

इन भेदों का उपयोग मुख्यतः आत्म-निरीक्षण के लिये है। मैं इस श्रेणी में हूँ, तू इस श्रेणी में है, मैं तुझसे ऊँचा हूँ, इस प्रकार अहंकार के प्रदर्शन के लिये यह नहीं है।

दूसरी बात यह है कि इन भेदों से हमें आदर्श जीवन का पता लगा करता है। साधारणतः लोग दुनियादारी के बड़प्पन को ही आदर्श समझ लेते हैं और उसी को ध्येय बनाकर जीवन यात्रा करते हैं, या उसके सामने सिर झुका लेते हैं उसके गीत गाते हैं, परन्तु इन भेदों से पता लगेगा कि आदर्श जीवन क्या है? किसके आगे हमें सिर झुकाना चाहिये। मनुष्य को चाहिये कि हरएक श्रेणी-विभाग के विषय में विचार करे और ईमानदारी से अपना स्थान ढूंढ़े और फिर उससे आगे बढ़ने की कोशिश करे।

दृष्टिकांड का उपसंहार

दृष्टि-कांड में जितनी दृष्टियाँ बतलाई गई हैं वे सब भगवान सत्य के दर्शन का फल हैं या यों कहना चाहिये कि इन सब दृष्टियों के मार्म को समझ जाना भगवान सत्य का दर्शन है और इन को जीवन में उतारना भगवान सत्य को पा जाना है। सच बोलना भगवान सत्य नहीं है, वह तो भगवती अहिंसा का एक अंश है। भगवान सत्य तो परब्रह्म की तरह वह व्यापक चैतन्य है जो समस्त आत्माओं में भरा हुआ है। वह अनन्त चैतन्य ही प्राणि-सृष्टि का विकास और कल्याण कर्ता है। इसलिये वह भगवान है।

मैं कह चुका हूं कि भगवान् एक अगम अगोचर या अनिश्चित तत्व है। उपदेश संस्कार या किसी विशेष घटनासे प्रभावित होकर जिसे विश्वास हो जाता है वह उसे जगत्कर्ता के रूप में एक महान व्यक्ति मान लेता है, जिस का विश्वास नहीं जमता वह निरीश्वरवादी बन जाता है। पर ईश्वरवादी हो या निरीश्वरवादी आत्मवादी हो या अनात्मवादी, उसको यह तो समझ में आ ही जायगा कि सृष्टि में कार्य कारण की एक परम्परा है वह कभी नष्ट नहीं हो सकती। कार्य कारण की सच्ची परम्परा नष्ट हो जाय तो सृष्टि ही न रहे उसकी गति ही नष्ट हो जाय। इसलिये हम कह सकते हैं कि विश्व सत्य पर टिका हुआ है। और जो इतना महान् है कि जिसके बल पर विश्व टिका हुआ है वह भगवान नहीं तो क्या है?

दूसरी बात यह है कि सृष्टि का महान् भाग चैतन्यरूप या चैतन्य से बना हुआ है, अगर सृष्टि में से प्राणवान् पदार्थ-मनुष्य पशु-पक्षी, जलचर वनस्पति आदि निकाल दिये जांयँ तो सृष्टि क्या रहे? सृष्टि का समस्त सौन्दर्य विकास आदि चैतन्य से है इसी को हम चिद्ब्रह्म, सत्‌ब्रह्म या सत्य भगवान कहते हैं।

यह सत्य भगवान् घट घट व्यापी है, हर-एक प्राणी में सुख-दुख अनुभव करने की, दुख दूर करने की, सुख प्राप्त करने की और उसका मार्ग खोजने की चित् और विवेक शक्ति पाई जाती है। वह शक्ति भगवान सत्य का अंश है। यही अंश जब विशेष मात्रामें प्रगट हो जाता है तब प्राणी कर्मयोगी स्थितिप्रज्ञ, केवली, जिन अर्हत, नबी पैगम्बर तीर्थंकर और अवतार आदि कहलाने लायक बन जाता है। यही है भगवान सत्य का दर्शन। दृष्टि-कांड में भगवान् सत्य के दर्शन के लिये समझने योग्य कुछ बातें, भगवान् के दर्शन का उपाय और उस दर्शन का फल बताया गया है।

[दृष्टिकाण्ड समाप्त]

❀ सत्यभक्त साहित्य ❀

सत्यामृत (मानवधर्मशास्त्र)

१	„ दृष्टिकांड	४)
२	„ आचार कांड	-)
३	„ व्यवहार कांड	५)
४	सत्येश्वर गीता	२॥)
५	नया संसार	१॥)
६	जीवन सूत्र	॥)
७	[illegible]	॥)
८	[illegible] कथा	॥।)
९	सागरमें सागर (चुटकिले)	॥।)
१०	मन्दिरका पुजारी (उप.)	॥।)
११	सती परीक्षा (कहानियाँ)	॥।)
१२	सुख की खोज „	१)
१३	नागयज्ञ (नाटक)	१।)
१४	आत्मकथा	१।)
१५	निरतिवाद	॥।)
१६	न्यायप्रदीप	१)
१७	चतुर महावीर	१)

जैनधर्ममीमांसा—

१८	„ इतिहास और सम्यक्त्व	१॥)
१९	„ ज्ञानमीमांसा	२)
२०	„ आचारमीमांसा	२)
२१	बुद्ध हृदय	॥)
२२	कृष्णगीता	१)
२३	सत्यसंगीत	॥।)
२४	वन्दना	॥=)
२५	बोधगीत	॥)
२६	भावगीत	॥)
२७	मानवभाषा	२)
२८	सन्तान समस्या	।)
२९	नया संसार दु:खमय है	।)
३०	सुलझी गुत्थियाँ	।=)
३१	म. राम	।)
३२	ईसाई धर्म	।-)
३३	अनमोलपत्र	।≡)
३४	हिन्दू भाइयों से	=)॥
३५	मुसलिम भाइयों से	≡)
३६	सूरजप्रश्न	॥=)
३७	क्यों सलाम करूँ	≡)
३८	हिन्दू मुसलिम मेल	≡)
३९	हिन्दू मुसलिम इत्तहाद	≡)
४०	लिपिसमस्या	।)
४१	शीलवती	=)॥
४२	सत्यसमाज और विश्वशान्ति	=)
४३	सत्यभक्त सन्देश	=)
४४	भावनागीत	=)॥
४५	नई दुनियाका नया समाज	।=)
४६	विवाह पद्धति	≡)
४७	धर्मसमभाव	॥।)
४८	बिन्दुत बिन्दू [मराठी]	॥।)
४९	कुरान की झांकी	।)
५०	चार वाद	-)॥
५१	सुराज्य की राह	≡)

प्रकाशित होनेवाले हैं—

महावीर का अन्तस्तल

संस्कृति समस्या

राजनीति विचार

साधु समस्या आदि।

मासिक पत्र संगम वार्षिक मूल्य ३)

व्यवस्थापक— सत्याश्रम वर्धा